नमोत्थुणं

एक दिव्य साधना

अरिहंतप्रिया साध्वी डॉ.दिव्यप्रभाजी म.स.

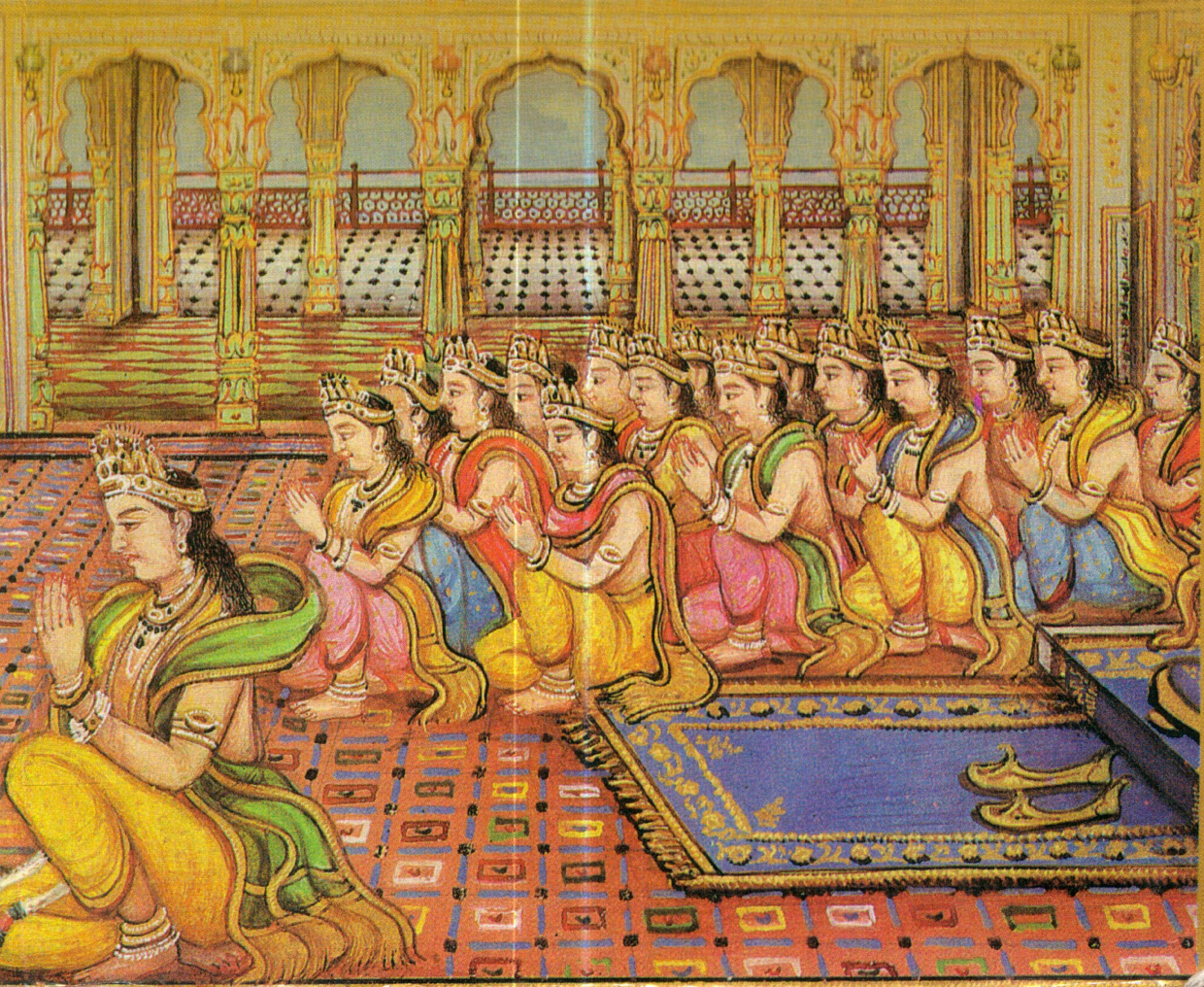

नमोत्थुणं

एक दिव्य साधना

नमोत्थुणं

एक दिव्य साधना

अरिहंत प्रिया साध्वी डॉ. दिव्यप्रभा

संस्करण : 2016

@सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना यह पुस्तक अथवा किसी भी हिस्से का अनुवाद करना या छपवाना कानूनी अपराध माना जाएगा।

मूल्य :- २००/-

प्रकाशक : श्री उमरावमलजी चोरडिया
चोरडिया चेरिटेबल ट्रस्ट, जयपुर (राजस्थान)

संपर्क सूत्र : श्री लोगस्स सूत्र आराधना केंद्र
18, वास्तु शिल्प, नाका नं. 6, लाम रोड,
देवलाली, नासिक - 422 101.
फोन: 0253-2473203, मो. 9860221759
ई मेल : divyalogass@gmail.com

मुद्रक : प्रेमचंद जैन
रवि ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स प्रा. लि.
5/169/1, लताकुंज, ओल्ड आगरा-मथुरा रोड, आगरा-2.

नमोत्थुणं

नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं आइगराणं तित्थयराणं सयंसंबुद्धाणं

पुरिसुत्तमाणं-पुरिससीहाणं-पुरिसवर पुण्डरीयाणं पुरिसवर गंधहत्थीणं

लोगुत्तमाणं-लोगनाहाणं-लोगहियाणं-लोगपईवाणं लोगपज्जोयगराणं

अभयदयाणं-चक्खुदयाणं-मग्गदयाणं-सरणदयाणं-जीवदयाणं बोहिदयाणं

धम्मदयाणं - धम्मदेसियाणं-धम्मनायगाणं-धम्मसारहीणं

धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं दीवोताणं सरणगइपइट्ठाणं-

अपडिहयवरनाणं-दंसणधराणं-वियट्टछउमाणं

जिणाणं जावयाणं तिण्णाणं तारयाणं

बुद्धाणं बोहियाणं मुत्ताणं मोयगाणं

सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिव-मयल-मरुय

मणंत मक्खय मव्वाबाह मपुणरावित्ति-सिद्धिगइनामधेयं

ठाणं-संपत्ताणं नमो जिणाणं जिअभयाणं ।।

प्राप्ति स्थान

श्री लोगस्स सूत्र आराधना केन्द्र
18, वास्तुशिल्प, नाका नं.6,
लाम रोड, देवलाली, नासिक रोड - 422 401
फोन नं.: 0253 - 2473203, 098602 21759

श्री किशोरभाई दोमडिया
फोन नं.: 09004283668
Email: kdomadia27@gmail.com

श्री दिलिपभाई धोलकिया
दिव्यकृपा, 98-डी, कमला नगर , दिल्ली - 7
फोन नं.: 098117 75569

श्री मेहुलभाई धोलकिया
दिपेन मोटर्स, मिरजापुर, दिनबाई टावर के सामने.
अहमदाबाद - 380 001
फोन नं.: 079 - 25506868 , 25506793

अतुल दवे (अहमदाबाद)
फोन नं.: 096011 41117
ई-मेल: dmagic06@gmail.com

ज्योत्सनाबेन वोरा
50/51, कुमकुम, अतुल सोसायटी,
वलसाड रोड, वापी, गुजरात - 396 191
फोन नं.: 92276 19821

श्री भावेशभाई मनहरभाई दोमडिया
E/101, सीमला हाउस, पेंसी रोड,
मुंबई - 400 036
फोन नं.: 022 - 23624171
098201 31003

श्री भरतभाई दोमडिया
16-B, सिन्धु बाग, तिलक रोड, अेक्सीस बेंक के सामने,
घाटकोपर (ई), मुंबई - 400 077
फोन नं.: 0986419997

नमोत्थुणं एक दिव्य साधना

स्वकथन

देह - विदेह - महाविदेह

(अभिनिष्क्रमण)

यात्रा का प्रारंभ प्रयास से होता हैं और पूर्णाहूति प्रसाद से होती हैं। कहते हैं बीता हुआ कल वापस लौटकर नहीं आता हैं। स्मृति में संग्रहित अतीत कई बार जीवन में भेंट या सौगात बनकर सुरक्षित रहता हैं। समय आने पर वह अपना काम कर लेता हैं। ऐसी ही एक याददास्त जो मेरे जीवन में अद्भुत भेंट देकर आबाद हो गई। याद आती हैं वह मंगल प्रभात जिस समय मांगलिक कार्यक्रम के सूर बह रहे थे। मांगलिक कार्यक्रम की ध्वनि बज रही थी। वेश परिवर्तन की घडियां गिनी जा रही थी। वृत्ति परिवर्तन अपना मोड बदल रही थी। संसार से संयम के प्रस्थान का आनंद छा रहा था। प्रस्थान से पूर्व गुरुचरण में वंदन करने पहुँची थी। गुरु ने कहा, पहले माता-पिता को प्रणाम करो। प्रणाम करते ही दीक्षा की तैयारी प्रारंभ हो गई। घडी में सात के डंके बज रहे थे। केशरवाडी श्री संघ के प्रांगण में अभिनिष्क्रमण के श्वेत अश्वधारी रथ खडे थे।

जीवन के परार्थमूर्ति, शासनप्रेमी, प्रज्ञापुरुष जो संसार में इस देह के पिता के रूप में पहचाने जाते थे । उन चीमनभाई धनजीभाई दोमडियाने हाथ पकडकर रथ में आरोहण कराया और कहा, देह संबंध से मैं पिता हूँ और विदेह संबंध से मैं मित्र हूं। आज अंतिम बार रथ में अभिनिष्क्रमण करो फिर विहार करना हैं। अभिनिष्क्रमण देह से होता हैं। दीक्षा के बाद तुम विहार करोगे । और विहार को विदेह के साथ जोडकर, देह में विदेह की अनुभूति करना। जीवन में कभी थकना मत, हताश मत होना, हारना मत। जाओ ! प्रस्थान करो। **नमो जिणाणं जिअभयाणं** सदा तुम्हारे साथ रहे ऐसे मेरे मंगल आशीर्वाद हैं। माता की भिगी भिगी आंखों में आंखे डालकर कहा, कह दो एकबार **'जाए सद्धाए णिक्खंत्तो तामेव अणुपालिज्जा'** माता शांताबेन का कांपता हुआ हाथ मेरे मस्तक पर रखवाया। उसी आशीर्वाद से आजतक मेरा श्रद्धा का दीप अखंड अबूझ जलता रहा।उसी ज्योती में नमोत्थुणं प्रगट हुआ उसी ज्योती में परमात्मा के दर्शन हुए। आज मैं ने देह से विदेह के आशीर्वाद दिए, परंतु विदेह से महाविदेह की साधना होती हैं, पुरुषार्थ होता हैं, पराक्रम होता हैं यह सब आपको करना होगा। महाविदेह की अनुभूति को प्राप्त करोगे तो मेरे यहाँ जन्म लेना सार्थक होगा।

२७ मार्च १९६६ रविवार प्रात: उगते हुए सूरज की साक्षी में दिए गए ये आशीर्वाद, यह शिक्षा मंत्र २७ मार्च २००२ आबु (राजस्थान) से प्रस्थान करते समय चरितार्थ होने लगे। गुरु माता साध्वी डॉ. मुक्तिप्रभाजी ने कहा था देह से विदेह के आशीर्वाद तुम्हें तुम्हारे पिताश्री ने दिये थे आज विदेह से महाविदेह के विहार की मैं आज्ञा देती हूँ। देह से विदेह के आशीर्वाद होते हैं। विदेह से महाविदेह की आज्ञा होती हैं और और प्रारंभ हो गई नमोत्थुणं की यात्रा। विहार अर्थात् चलना । संसारी चलते हैं उसे चलना कहते हैं ,संयमी चलते हैं उसे विहार कहते हैं। विहार

की यह व्याख्या उस दिन बदल गई। देह का विहार विदेह का विहार हो गया। चलती थी देह से अनुभूति करती थी विदेह की और दर्शन करती थी महाविदेह के। शाम ४:०० बजते थे अनुभव होता था प्रात:काल हो गया। अचानक कान में मालकोष राग में नमोत्थुणं उद्‌दघोष चालु हो जाता था। कौन गाता है? अभी क्यों? इसका कोई उत्तर नहीं मिलता था।

विहार करते करते यात्रा इडर तक पहुंची १० अप्रैल २००२ का समय अचानक जयंतीभाई पटेल आदि जन्म दिन अभिनंदन करने आये थे। उनको मिलने से पूर्व इडर के श्रीमद् के चरणों में आत्मसिद्धि का पारायण कर रही थी। अचानक झपकी आयी और वहीं नमोत्थुणं की स्वर लहरी गुंजने लगी। एक सुंदर सा समाधान सामने से प्रगट हुआ। भरतक्षेत्र का दिन महाविदेहक्षेत्र की रात होती हैं। महाविदेहक्षेत्र का दिन भरतक्षेत्र की रात होती हैं। समय की रफ्तार वहीं रहती हैं। महाविदेहक्षेत्र में नमोत्थुणं का लाईव प्रोग्राम देशना से पूर्व प्रतिदिन होता हैं। प्रात:काल के देशना का प्रारंभ गणधर भगवंत के नमोत्थुणं से होता हैं। देशना के पश्चात शक्रेंद्र महाराज का नमोत्थुणं शक्रस्तव के रूप में सुनाया जाता हैं। इसीतरह संध्याकाल में देशना के प्रारंभ में शक्रेंद्र महाराज की स्तवना और पूर्णाहूति में गणधर भगवंत द्वारा नमोत्थुणं की स्तवना प्रकट होती हैं।

मार्ग वहीं था पर विहार की व्याख्या बदल गई। देह का विहार विदेह का विहार हो गया। अंर्तचक्षु से स्वयं को देखना, भाव विहार हैं। तब से मैं महाविदेह में उपस्थिति का अनुभव करते हुए नमोत्थुणं गुनगुनाती रही। दो हजार दो में साधना के साथ नमोत्थुणं को ही व्याख्यान का विषय बना दिया गया। जो आज ग्रंथ के रूप में आपका स्वाध्याय का विषय बन गया।

अरिहंतप्रिया साध्वी दिव्या
२७ मार्च २०१६ रविवार
देवलाली

प्रकाशकीय

आज आपके सामने नमोत्थुणं सूत्र स्वाध्याय के रुपमें प्रकाशन करते समय अत्यंत हर्ष हो रहा हैं। मैं इस भ्रम में था कि अरिहंतप्रिया साध्वी डॉ.दिव्यप्रभाजी की नमोत्थुणं की दिव्यसाधना समाज के सामने उनके संयम के पचासवें वर्ष में भेंट चढाऊँगा। अचानक भ्रम टूटा, भ्रांति हटी पता चला संयम के पचास वर्ष की पूर्णाहूति में साध्वी जी नमोत्थुणं के साथ स्वयं को प्रभु चरणों में भेंट चढा रही हैं। मैं क्या भेंट चढाऊँ ? उनको शासन देव की साक्षी से समस्त समाज के साथ नमस्कार का अर्ध्य अंजलिकर मैं ने स्वयं को समाधित किया।

एक प्रतिष्ठित और आध्यात्मिक परिवार में जन्म लेकर आपने जिनशासन में अद्भुत प्रभावना अर्पित की। नमोत्थुणं सूत्र सामायिक का सातवा पाठ एवं विधि का संधि संयोग मात्र जिसे माना जाता था वह परमात्मा से मिलन की मंत्रणा की और मोक्ष की मंगल आरती हैं , ऐसा कभी सोचा ही नहीं था। साध्वी श्री ने इसे साधना के साथ प्रस्तुत कर समाज का गौरव बढाया। शासन का वैभव प्रस्तुत किया। प्रत्येक पद की एक एक व्याख्या प्रस्तुत कर आपने इसके भीतर के सारे राज खोल दिये।

नमोत्थुणं की यह यात्रा बहुत लंबी चली। प्रकाशन में विलंब हो गया। संपूर्ण समाज का मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। इसके लिए मैं स्वयं भी वर्षों से प्रतीक्षारत रहा हूं। नमोत्थुणं की यह यात्रा बहुत कसोटी पूर्ण रही। साध्वी श्री का स्वास्थ्य काफी उपर नीचे होता रहा फिर भी परमतत्त्व का शक्तियोग इनका स्वयं का भक्तियोग एवं सहयोगिनी साध्वीयों के सहयोग के कारण हम आज आप तक पहुंच रहे हैं। इन प्रवचनों को कैसेट में टेप कर उसको लिखकर प्रतिलिपी तैयार करने में घाटकोपर के ईश्वरभाई झाटकिया और वापी के ज्योत्सनाबेन का मैं खूब खूब आभारी हूँ। २००२ के देवलाली के ये प्रवचन गुजराती में होने से हिंदी प्रकाशन में समस्या आ रही थी। इसी दरम्यान २००४ में साध्वी श्री को मुंबई खार श्री संघ की बिनती आयी। इस चार्तुमास में श्री संघ ने रविवार को लोगस्सपर और प्रतिदिन नमोत्थुणं पर प्रवचन करने की बिनंती की। शासन प्रभावना की यह एक अद्भुत बेला समझकर साध्वीश्री ने यहाँपर नमोत्थुणं पर हिंदी में प्रवचन किये। हिंदी और गुजराती के इस प्रारूप को अच्छी प्रतिलिपी में प्रकट करने में सहयोग देनेवाले आशाबेन किशोरभाई दोमडिया के आभारी हैं।

सबसे बडा उपकार हमपर वात्सल्यप्रिया साध्वी दर्शनप्रभाजी का रहा। प्रेरणास्तंभ बनकर समय समयपर हिम्मत, अवसर और सहयोग प्रदानकर इस कार्य को पूर्णाहूति तक ले जाने का प्रयास किया। आबु माउंट से साध्वी डॉ.मुक्तिप्रभाजी के भी आशीर्वाद और प्रेरणा हमारे लिए बहुत उपयोगी रहे हैं। मॅटर को व्यवस्थित रूप देकर आग्रा तक पहुंचाने के लिए हम अतुलभाई दवे के भी ऋणी हैं। रत्नप्रकाशन मंदिर वालों का भी हम आभार मानते हैं जिन्होंने यथा समय प्रकाशन कर हमारे उपर महेरबानी की हैं।

प्रकाशक

श्री उमरावमलजी चोरडिया

चोरडिया चेरिटेबल ट्रस्ट, जयपुर (राजस्थान)

आशीर्वचन

सूरज छिपा, दीया निकला,

मिटा अंधेरा, हुआ उजाला,

हम क्यों पूछे सूरज कहाँ गया ?

सूरज ने ही कहा मैं दीये में छिप गया ।।

गणधर भगवंत ने कहा -

मोक्ष पधारते हुए परमात्मा नमोत्थुणं धरती पर छोड गए।

अंतरिक्ष को दिशाओं के बोध में मोड गए।

ऐसे ये नमोत्थुणं अवतरीत हो गए लोगस्स तीर्थ में।

जो हरपल देता हैं उल्हास,

प्रतिक्षण देता है प्रकाश,

अंतर का आवास,

हर साँस में दे एहसास,

अनुभूतिमय इतिहास,

सर्व का विश्वास ।

मुक्ति के आशीर्वाद,
दर्शन का धन्यवाद,
अनुपमा का अनुवाद,
अपूर्वयोगस्वरूप का साधुवाद...

आचार्य श्री सिद्धसेनदिवाकरसूरि विरचितः

।। श्री वर्धमान शक्रस्तवः ।।

ॐ नमोऽर्हते

१. भगवते
२. परमात्मने
३. परमज्योतिषे
४. परमपरमेष्ठिने
५. परमवेधसे
६. परमयोगिने
७. परमेश्वराय
८. तमसः परस्तात्
९. सदोदिता - दित्यवर्णाय
१०. समूलोन्मूलिता-नादि-सकल-क्लेशाय ।।१।।

ॐ नमोऽर्हते

११. भू-र्भुवः-स्वस्त्रयी-नाथ-मौलि-मन्दार-माला-र्चित-क्रमाय
१२. सकल-पुरुषार्थ-योनि-निरवद्य-विद्या-प्रवर्तनैक-वीराय
१३. नमः-स्वस्ति-स्वधा-स्वाहा-वषऽर्थै कान्त-शान्त-मूर्तये
१४. भवद्-भावि-भूत-भावा-वभासिने
१५. कालपाश नाशिने
१६. सत्त्व-रजस्तमो-गुणातीताय
१७. अनन्तगुणाय
१८. वाङ्-मनोऽगोचर-चरित्राय
१९. पवित्राय
२०. करण-कारणाय
२१. तरण-तारणाय
२२. सात्त्विक-दैवताय
२३. तात्त्विक-जीविताय
२४. निर्ग्रन्थ-परम-ब्रह्म हृदयाय
२५. योगीन्द्र-प्राणनाथाय
२६. त्रिभुवन-भव्य-कुल-नित्योत्सवाय
२७. विज्ञाना-नन्द-परब्रह्मै-कात्म्यसात्म्य-समाधये
२८. हरि-हर-हिरण्यगर्भादि-देवता-परिकलित-स्वरुपाय
२९. सम्यक्-श्रद्धेयाय

ॐ नमोऽर्हते

१. भगवते
२. परमात्मने
३. परमज्योतिषे
४. परमपरमेष्ठिने
५. परमवेधसे
६. परमयोगिने
७. परमेश्वराय
८. तमसः परस्तात्
९. सदोदिता - दित्यवर्णाय
१०. समूलोन्मूलिता-नादि-सकल-क्लेशाय ॥१॥

ॐ नमोऽर्हते

११. भू-र्भुवः-स्वस्त्रयी-नाथ-मौलि-मन्दार-माला-र्चित-क्रमाय
१२. सकल-पुरुषार्थ-योनि-निरवद्य-विद्या-प्रवर्तनैक-वीराय
१३. नमः-स्वस्ति-स्वधा-स्वाहा-वषऽर्थै कान्त-शान्त-मूर्तये
१४. भवद्-भावि-भूत-भावा-वभासिने
१५. कालपाश नाशिने
१६. सत्त्व-रजस्तमो-गुणातीताय
१७. अनन्तगुणाय
१८. वाङ्-मनोऽगोचर-चरित्राय
१९. पवित्राय
२०. करण-कारणाय
२१. तरण-तारणाय
२२. सात्त्विक-दैवताय
२३. तात्त्विक-जीविताय
२४. निर्ग्रन्थ-परम-ब्रह्म हृदयाय
२५. योगीन्द्र-प्राणनाथाय
२६. त्रिभुवन-भव्य-कुल-नित्योत्सवाय
२७. विज्ञाना-नन्द-परब्रह्मै-कात्म्यसात्म्य-समाधये
२८. हरि-हर-हिरण्यगर्भादि-देवता-परिकलित-स्वरुपाय
२९. सम्यक्-श्रद्धेयाय
३०. सम्यग्ध्येयाय
३१. सम्यक्-शरण्याय
३२. सुसमाहित-सम्यक्-स्पृहणीयाय ॥२॥

ॐ नमोऽर्हते

३३. भगवते

३४. आदिकराय

३५. तीर्थङ्कराय

३६. स्वयं सम्बुद्धाय

३७. पुरुषोत्तमाय

३८. पुरुषसिंहाय

३९. पुरुषवरपुण्डरीकाय

४०. पुरुषवर-गन्धहस्तिने

४१. लोकोत्तमाय

४२. लोकनाथाय

४३. लोकहिताय

४४. लोकप्रदीपाय

४५. लोकप्रद्योतकारिणे

४६. अभयदाय

४७. दृष्टिदाय

४८. मुक्तिदाय

४९. मार्गदाय

५०. बोधिदाय

५१. जीवदाय

५२. शरणदाय

५२. धर्मदाय

५४. धर्मदेशकाय

५५. धर्मनायकाय

५६. धर्मसारथये

५७. धर्म-वर-चातुरन्त चक्रवर्तिने

५८. व्यावृत्त-छद्मने

५९. अप्रतिहत-सम्यग्ज्ञान-दर्शन-सद्मने ॥३॥

ॐ नमोऽर्हते

६०. जिनाय

६१. जापकाय

६२. तीर्णाय

६३. तारकाय
६४. बुद्धाय
६५. बोधकाय
६६. मुक्ताय
६७. मोचकाय
६८. त्रिकालविदे
६९. पारङ्गताय
७०. कर्माष्टक-निषूदनाय
७१. अधीश्वराय
७२. शम्भवे
७३. जगत्प्रभवे
७४. स्वयम्भुवे
७५. जिनेश्वराय
७६. स्याद्वादवादिने
७७. सार्वाय
७८. सर्वज्ञाय
७९. सर्वदर्शिने
८०. सर्वतीर्थो-पनिषदे
८१. सर्वपाषाण्ड मोचिने
८२. सर्वयज्ञफलात्मने
८३. सर्वज्ञकलात्मने
८४. सर्वयोगरहस्याय
८५. केवलिने
८६. देवाधिदेवाय
८७. वीतरागाय ॥४॥
ॐ नमोऽर्हते
८८. परमात्मने
८९. परमात्माय
९०. परमकारुणिकाय
९१. सुगताय
९२. तथागताय
९३. महाहंसाय

९४. हंसराजाय
९५. महासत्त्वाय
९६. महाशिवाय
९७. महाबोधाय
९८. महामैत्राय
९९. सुनिश्चिताय
१००. विगत-द्वन्दाय
१०१. गुणाब्धये
१०२. लोकनाथाय
१०३. जित-मार-बलाय ॥५॥

ॐ नमोऽर्हते

१०४. सनातनाय
१०५. उत्तम-श्लोकाय
१०६. मुकुन्दाय
१०७. गोविन्दाय
१०८. विष्णवे
१०९. जिष्णवे
११०. अनन्ताय
१११. अच्युताय
११२. श्रीपतये
११३. विश्वरुपाय
११४. ऋषीकेशाय
११५. जगन्नाथाय
११६. भू-र्भुवः-स्वः-समुत्ताराय
११७. मानंजराय
११८. कालंजराय
११९. ध्रुवाय
१२०. अजाय
१२१. अजेयाय
१२२. अजराय
१२३. अचलाय
१२४. अव्ययाय

१२५. विभवे
१२६. अचिन्त्याय
१२७. असंख्येयाय
१२८. आदि-संख्याय
१२९. आदि-केशवाय
१३०. आदि-शिवाय
१३१. महाब्रह्मणे
१३२. परमशिवाय
१३३. एका-नेका-नन्त-स्वरुपिणे
१३४. भावा-भाव-विवर्जिताय
१३५. अस्ति-नास्ति-द्वयातीताय
१३६. पुण्य-पाप-विरहिताय
१३७. सुख-दुःख-विविक्ताय
१३८. व्यक्त-व्यक्त-स्वरुपाय
१३९. अनादि-मध्य-निधनाय
१४०. नमोऽस्तु-मुक्ति श्वराय
१४१. मुक्ति- स्वरुपाय ॥६॥

ॐ नमोऽर्हते

१४२. निरातङ्काय
१४३. निःसङ्गाय
१४४. निःशङ्काय
१४५. निर्मलाय
१४६. निर्द्वन्दाय
१४७. निस्तरङ्गाय
१४८. निरुर्मये
१४९. निरामयाय
१५०. निष्कलङ्काय
१५१. परमदैवताय
१५२. सदाशिवाय
१५३. महादेवाय
१५४. शङ्कराय
१५५. महेश्वराय

१५६. महाव्रतिने
१५७. महायोगिने
१५८. महात्मने
१५९. पञ्चमुखाय
१६०. मृत्युञ्जयाय
१६१. अष्टमूर्तये
१६२. भूतनाथाय
१६३. जगदानन्ददाय
१६४. जगत्पितामहाय
१६५. जगदेवाधिदेवाय
१६६. जगदीश्वराय
१६७. जगदादि-कन्दाय
१६८. जगद्भास्वते
१६९. जगत्कर्म-साक्षिणे
१७०. जगद्चक्षुषे
१७१. त्रयीतनवे
१७२. अमृतकराय
१७३. शीतकराय
१७४. ज्योतिश्चक्र-चक्रिणे
१७५. महाज्योति-र्द्योतिताय
१७६. महातमः पारे सुप्रतिष्ठिताय
१७७. स्वयं कर्त्रे
१७८. स्वयं हर्त्रे
१७९. स्वयं पालकाय
१८०. आत्मेश्वराय
१८१. नमो विश्वात्मने ॥७॥

ॐ नमोऽर्हते

१८२. सर्वदेवमयाय
१८३. सर्वध्यानमयाय
१८४. सर्वज्ञानमयाय
१८५. सर्वतेजोमयाय
१८६. सर्वमंत्रमयाय

१८७. सर्वरहस्यमयाय

१८८. सर्व-भावाभाव-जीवाजीवेश्वराय

१८९. अरहस्य-रहस्याय

१९०. अस्पृह-स्पृहणीयाय

१९१. अचिन्त्य-चिन्तनीयाय

१९२. अकाम कामधेनवे

१९३. असङ्कल्पित-कल्पद्रुमाय

१९४. अचिन्त्य-चिन्तामणये

१९५. चतुर्दश-रज्ज्वात्मक-जीवलोक-चूडामणय

१९६. चतुरशीति-लक्ष-जीवयोनि-प्राणिनाथाय

१९७. पुरुषार्थनाथाय

१९८. परमार्थनाथाय

१९९. अनाथनाथाय

२००. जीवनाथाय

२०१. देव-दानव-मानव-सिद्धसेनाधि-नाथाय ॥८॥

ॐ नमोऽर्हते

२०२. निरञ्जनाय

२०३. अनन्त-कल्याण-निकेतन-कीर्तनाय

२०४. सुगृहीत-नामधेयाय

२०५. महिमामयाय

२०६. धीरोदात्त-धीरोद्धत-धीरशान्त-धीरललित-पुरुषोत्तम-पुण्य श्लोक-शत-सहस्त्र-लक्ष-कोटि-वन्दित-पादारविन्दाय

२०७. सर्वगताय ॥९॥

ॐ नमोऽर्हते

२०८. सर्वसमर्थाय

२०९. सर्वप्रदाय

२१०. सर्वहिताय

२११. सर्वाधिनाथाय

२१२. कस्मैचन क्षेत्राय

२१३. पात्राय

२१४. तीर्थाय

२१५. पावनाय

२१६. पवित्राय
२१७. अनुत्तराय
२१८. उत्तराय
२१९. योगाचार्याय
२२०. संप्रक्षालनाय
२२१. प्रवराय
२२२. आग्रेयाय
२२३. वाचस्पतये
२२४. माङ्गल्याय
२२५. सर्वात्मनीनाय
२२६. सर्वार्थाय
२२७. अमृताय
२२८. सदोदिताय
२२९. ब्रह्मचारिणे
२३०. तायिने
२३१. दक्षिणीयाय
२३२. निर्विकाराय
२३३. वज्रर्षभ-नाराच-मूर्तये
२३४. तत्वदर्शिने
२३५. पारदर्शिने
२३६. परमदर्शिने
२३७. निरुपम-ज्ञान-बल-वीर्यतेजः-शक्त्यैश्वर्य-मयाय
२३८. आदिपुरुषाय
२३९. आदि-परमेष्ठिने
२४०. आदि महेशाय
२४१. महा ज्योतिःस(स्त)त्त्वाय
२४२. महार्चिर्धनेश्वराय
२४३. महा-मोह-संहारिणे
२४४. महासत्त्वाय
२४५. महाज्ञामहेन्द्राय
२४६. महालयाय
२४७. महाशान्ताय

लोकोत्तमो निस्प्रतिमस्त्वमेव, त्वं शाश्वतं मंगलमप्यधीश ।
त्वामेकमर्हन् ! शरणं प्रपद्ये, सिद्धर्षि-सद्धर्ममयस्त्वमेव ।।१।।

त्वं मे माता पिता नेता, देवो धर्मो गुरुः परः ।
प्राणाः स्वर्गोऽपवर्गश्च, सत्त्वं गतिर्मतिः ।।२।।
जिनो दाता जिनो भोक्ता, जिनः सर्वमिदं जगत् ।
जिनो जयति सर्वत्र, यो जिनः सोऽहमेव च ।।३।।
यत्किञ्चित्कुर्महे देव, सदा सुकृतदुष्कृतम् ।
तन्मे निजपदस्थस्य, हुं क्षः क्षपय त्वं जिन ।।४।।
ह्रुह्यतिगुह्य गोप्ता त्वं, गुहाणास्मत्कृतं जपम् ।
सिद्धिः श्रयति मां येन, त्वत्प्रसादात्त्वयि स्थितम् ।।५।।
इति श्री वर्धमानजिननाममन्त्रस्तोत्रं समाप्तम् ।
प्रतिष्ठायां शांति विधौ पठितं महासुखाय स्यात् ।
इति शक्रस्तवः ।

१. इतीमं पूर्वोक्तं इन्द्रस्तवैकादशमन्त्रराजोपनिषद्गर्भं, अष्टमहासिद्धिप्रदं, सर्वपाप-निवारणं, सर्वपुण्य-कारणं, सर्वदोषहरं, सर्वगुणाकरं, महाप्रभावं, अनेक सम्यग्दृष्टि, भद्रक-देवता-शत-सहस्त्र-शुश्रुषितं, भवान्तरकृता-ऽसंख्य पुण्य प्राप्यं सम्यग् जपतां, पठतां, गुणयतां, श्रुण्वतां, समनुप्रेक्षमाणानां, भव्यजीवानां, चराचरेऽपि (जीवलोके) सद्भस्तु तन्नास्ति यत्करतलप्रणयि न भवतीति । किं च -

२. इतीमं पूर्वोक्तं इन्द्रस्तवैकादश मन्त्रराजोपनिषद्गर्भं, अष्टमहासिद्धिप्रदं, सर्व पाप निवारणं, सर्व पुण्य कारणं, सर्वदोषहरं, सर्वगुणाकरं, महाप्रभावं, अनेक सम्यग्दृष्टि, भद्रक-देवता-शतसहस्त्र-शुश्रुषितं, भवान्तरकृताऽसंख्य

पुण्य प्राप्यं, सम्यग् जपतां, पठतां, गुणयतां, श्रुण्वतां,
समनुप्रेक्षमाणानां भव्यजीवानां भवनपति-व्यन्तर-
ज्योतिष्क-वैमानिकवासिनो देवाः सदा प्रसीदन्ति-व्याधयो विलीयन्ते ।

३. इतीमं पूर्वोक्तं इन्द्रस्तवैकादश - मन्त्रराजोपनिषद्गर्भं,
अष्टमहासिद्धिप्रदं, सर्व पाप निवारणं, सर्वपुण्य कारणं,
सर्वदोषहरं, सर्वगुणाकरं, महाप्रभावं, अनेक - सम्यग्दृष्टि-
भद्रक-देवता-शतसहस्त्र शुश्रुषितं, भवान्तरकृताऽसंख्य
पुण्य प्राप्यं, सम्यग् जपतां, पठतां, गुणयतां, श्रुण्वतां,
समनुप्रेक्षमाणानां, भव्यजीवानां पृथिव्यप् तेजो-वायु-गगनानि भवन्त्यनुकूलानि ।।

४. इतीमं पूर्वोक्तं इन्द्रस्तवैकादश मन्त्रराजोपनिषद्गर्भं,
अष्टमहासिद्धिप्रदं, सर्व पाप निवारणं, सर्व पुण्य कारणं,
सर्वदोषहरं, सर्वगुणाकरं, महाप्रभावं, अनेक - सम्यग्दृष्टि-
भद्रक-देवता-शत-सहस्त्र-शुश्रुषितं, भवान्तरकृता-ऽसंख्य
पुण्य प्राप्यं, सम्यग् जपतां, पठतां, गुणयतां, श्रुण्वतां,
समनुप्रेक्षमाणानां, भव्यजीवानां सर्व संपदां मूलं जायते जिनानुरागः ।

५. इतीमं पूर्वोक्तं इन्द्रस्तवैकादश मन्त्रराजोपनिषद्गर्भं,
अष्टमहासिद्धिप्रदं, सर्व पाप निवारणं, सर्व पुण्य कारणं,
सर्वदोषहरं, सर्वगुणाकरं, महाप्रभावं, अनेक - सम्यग्दृष्टि-
भद्रक-देवता-शत-सहस्त्र-शुश्रुषितं, भवान्तरकृता-ऽसंख्य
पुण्य प्राप्यं, सम्यग् जपतां, पठतां, गुणयतां, श्रुण्वतां,
समनुप्रेक्षमाणानां, भव्यजीवानां सौमनस्येन अनुग्रहपरा जायन्ते ।

६. इतीमं पूर्वोक्तं इन्द्रस्तवैकादश मन्त्रराजोपनिषद्गर्भं,
अष्टमहासिद्धिप्रदं, सर्व पाप निवारणं, सर्व पुण्य कारणं,
सर्वदोषहरं, सर्वगुणाकरं, महाप्रभावं, अनेक - सम्यग्दृष्टि-
भद्रक-देवता-शत-सहस्त्र-शुश्रुषितं, भवान्तरकृता-ऽसंख्य
पुण्य प्राप्यं, सम्यग् जपतां, पठतां, गुणयतां, श्रुण्वतां,
समनुप्रेक्षमाणानां, भव्यजीवानां खलाः क्षीयन्ते ।

७. इतीमं पूर्वोक्तं इन्द्रस्तवैकादश मन्त्रराजोपनिषद्गर्भं, अष्टमहासिद्धिप्रदं, सर्व पाप निवारणं, सर्व पुण्य कारणं, सर्वदोषहरं, सर्वगुणाकरं, महाप्रभावं, अनेक - सम्यग्दृष्टि-भद्रक-देवता-शत-सहस्त्र-शुश्रुषितं, भवान्तरकृता-ऽसंख्य पुण्य प्राप्यं, सम्यग् जपतां, पठतां, गुणयतां, श्रुण्वतां, समनुप्रेक्षमाणानां, भव्यजीवानां जल-स्थल-गगनचराः क्रुरजन्तवोऽपि मैत्रीमया जायन्ते ।

८. इतीमं पूर्वोक्तं इन्द्रस्तवैकादश मन्त्रराजोपनिषद्गर्भं, अष्टमहासिद्धिप्रदं, सर्व पाप निवारणं, सर्व पुण्य कारणं, सर्वदोषहरं, सर्वगुणाकरं, महाप्रभावं, अनेक - सम्यग्दृष्टि-भद्रक-देवता-शत-सहस्त्र-शुश्रुषितं, भवान्तरकृता-ऽसंख्य पुण्य प्राप्यं, सम्यग् जपतां, पठतां, गुणयतां, श्रुण्वतां, समनुप्रेक्षमाणानां, भव्यजीवानां अधम-वस्तून्यति उत्तमवस्तुभावं प्रपद्यन्ते ।

९. इतीमं पूर्वोक्तं इन्द्रस्तवैकादश मन्त्रराजोपनिषद्गर्भं, अष्टमहासिद्धिप्रदं, सर्व पाप निवारणं, सर्व पुण्य कारणं, सर्वदोषहरं, सर्वगुणाकरं, महाप्रभावं, अनेक - सम्यग्दृष्टि-भद्रक-देवता-शत-सहस्त्र-शुश्रुषितं, भवान्तरकृता-ऽसंख्य पुण्य प्राप्यं, सम्यग् जपतां, पठतां, गुणयतां, श्रुण्वतां, समनुप्रेक्षमाणानां, भव्यजीवानां धर्मार्थकामा गुणाभिरामा जायन्ते ।

१०. इतीमं पूर्वोक्तं इन्द्रस्तवैकादश मन्त्रराजोपनिषद्गर्भं, अष्टमहासिद्धिप्रदं, सर्व पाप निवारणं, सर्व पुण्य कारणं, सर्वदोषहरं, सर्वगुणाकरं, महाप्रभावं, अनेक - सम्यग्दृष्टि-भद्रक-देवता-शत-सहस्त्र-शुश्रुषितं, भवान्तरकृता-ऽसंख्य पुण्य प्राप्यं, सम्यग् जपतां, पठतां, गुणयतां, श्रुण्वतां, समनुप्रेक्षमाणानां, भव्यजीवानां ऐहिक्यः सर्वा अपि शुद्ध गोत्र-कलत्र-पुत्र-मित्र-धन-धान्य-जीवित-यौवन-रुपाऽऽरोग्य-यशः पुरस्सराः सर्वजनानां संपदः परभाग-जीवितशालिन्यः सदुदर्काः सुसंमुखी भवन्ति ।

किं बहुना ?

११. इतीमं पूर्वोक्तं इन्द्रस्तवैकादश मन्त्रराजोपनिषद्गर्भं, अष्टमहासिद्धिप्रदं, सर्व पाप निवारणं, सर्व पुण्य कारणं, सर्वदोषहरं, सर्वगुणाकरं, महाप्रभावं, अनेक - सम्यग्दृष्टि-भद्रक-देवता-शत-सहस्त्र-शुश्रुषितं, भवान्तरकृता-ऽसंख्य पुण्य प्राप्यं, सम्यग् जपतां, पठतां, गुणयतां, श्रुण्वतां, समनुप्रेक्षमाणानां, भव्यजीवानां आमुष्मिक्यः सर्वमहिमा-स्वर्गापवर्गश्रियोऽपि क्रमेण यथेष्टं (च्छं) स्वयं स्वयंवरणोत्सव-समुत्सुकाः भवन्तीति सिद्धिः (दः) श्रेयः समुदयः ।

यथेन्द्रेण प्रसन्नेन, समादिष्टोऽर्हतां स्तवः ।
तथाऽयं सिद्धसेनेन, प्रपेदे संपदां पदम् ॥

॥ इति शक्रस्तवः ॥

नमोत्थुणं - अरिहंताणं

नमोत्थुणं में नमस्कार हो जाते है। नमस्कार कोई विधि या घोषणा नहीं है यह तो समर्पण की शांत घटना है। नमोत्थुणं कोई कृत्य नहीं समर्पण का संविधान है । प्रथम पद है अरिहंताणं । पंचपरमेष्ठि मंत्र में प्रथम दो पद देव तत्त्व है और अंतिम तीन पद गुरुतत्त्व है । देव तत्त्व दो है अरिहंत और सिद्ध । अरिहंत मार्ग है सिद्ध मंजिल है । मंजिल की अपेक्षा मार्ग का महत्त्व अधिक होने से अरिहंताणं पद सिद्धाणं पद के पूर्व है । अरिहंताणं यात्रा की शुरुआत है । सिद्धाणं यात्रा की पूर्णता है। अरिहंताणं आदि है । सिद्धाणं अंत है । सिद्ध हमारी अवस्था है । अरिहंत हमारी आस्था है । आस्था अवस्था देती है इसलिए अवस्था को कमजोर न समझो । अरिहंताणं पद सूत्र और अर्थ से शाश्वत है । अनादि काल से इस के एक भी अक्षर में परिवर्तन नहीं हुआ है । केवल चार सेकंड में बोले जानेवाले इस मंत्र से दो लाख पैतालिस हजार पल्योपम का देव गति का आयुष्य बंधता है ।

अरिहंताणं शब्द तीन आयामों से समझा जाता है ।

१) अरि + हंताणं = अरिहंताणं

२) अरिहं + ताणं = अरिहंताणं

३) अरिहंत + आणं = अरिहंताणं

एक छोटे से पद में अरिहंताणं पद की तीन व्याख्याए प्रस्तुत है ।

इन तीनों शब्दों में खास अंतर न होते हुए भी बहुत बडा अंतर समाया हुआ है। समान दिखने वाले इस अंतर में व्याख्याकारोंने इनके गूढ अर्थ प्रस्तुत किए हैं। पहला शब्द है, अरि + हंताणं। अरि + हंताणं में परमात्मा हमारे **"समक्ष"** रहते हैं। हमारे साथ रहते हैं। हम पर वार होते ही वे वार को समाप्त करते हैं। कभी आप प्रयोग करके देखे। आपको क्रोध आया हो और आप क्रोध करना नहीं चाहते है तो अरिहंताणं पद का स्मरण करके देखे। भग जाएगा क्रोध। टूट जाएगा अहं। गायब हो जाएगा मान।

अरिहं + ताणं में परमात्मा **"सक्षम"** है । सामर्थ्य संपन्न है । अरिहं शब्द अर्हद् धातु से उत्पन्न होता है। जिसका अर्थ होता है योग्यता । डिग्री देते समय आपने अर्हता प्राप्त शब्द सुना होगा। ताणं अर्थात त्राण अर्थात रक्षण करने में सक्षम है समर्थ है वे अरिहं + ताणं अर्थात अरिहंताणं है ।

अरिहंत + आणं इस व्याख्या के अनुसार परमात्मा हमारे **"समकक्ष"** है अथवा हम परमात्मा के समकक्ष है । परमात्मा की आज्ञा हमें परमात्मा के समकक्ष बनाती है । दहीं की दो बूंदे प्राप्त कर दूध पूर्ण दहीं बन जाता है । उसी तरह परमात्मा की आज्ञा प्राप्त कर आत्मा परमात्मा बन जाती है ।

जिनके पास बैठने से हमारे सारे विकल्प शांत हो जाते हैं, हमारा अहं, मत, अभिप्राय टूट जाते हैं। वे अरि + हंताणं हैं अर्थात अरिहंताणं है । जिनके पास हमें हम न होने की अनुभूति नहीं होती है वे अरिहं + ताणं हैं अर्थात् अरिहंताणं हैं। जिनके पास हमें अरिहंत होने की अनुभूती होती हैं वे अरिहंत + आणं है अर्थात् अरिहंताणं है।

अब हम इन तीनों शब्दों की विशेष व्याख्या देखते हैं। अरि अर्थात् शत्रु, हंताणं अर्थात समाप्त करनेवाले। इस शब्द से हमारे नमस्कार उनको होते है जो शत्रुओं का नाश करनें में समर्थ है। शाब्दिक दृष्टिकोण से अर्थप्रयोजन बडा अजीब है। जगत् सर्व जीवों के साथ मैत्री का तात्पर्य रखनेवाले क्षमा जिनकी साहजिकता है। करुणा जिनका स्वभाव है। उनके लिये शत्रु नाश का अर्थघटन अनुचित लगता है। गणधर भगवंत इसका समाधान और समर्थन अपने पूर्ण योग बल से करते हैं। उनका कथन है दुश्मन कौन है ? यह समझना जरुरी है । दुश्मन, वैरी, शत्रु चाहे कुछ भी कहो कोई खराब नहीं है । शत्रुओं के बीच में रही हुवी शत्रुता, वैर या दुश्मनावट खराब है । जब शत्रुता समाप्त हो जाती है तब शत्रु मित्र बन जाता है ।

एकबार परमात्मा महावीर से किसीने पूछा कि प्रभु ! आप इतने दयालु हो, कृपालु हो, सामर्थ्य संपन्न हो कि तीन जन्म से पूर्व ही आपने सभी जीवोंको मोक्ष ले जाने की भावना से लाखों मासक्षमण किए थे। ऐसे सामर्थ्य संपन्न आपके दुश्मन क्यों थे ? गोशालक, संगम, शूलपाणीयक्ष, चंडकौशिक आदि ऐसे भयंकर जीवों ने आपके ऊपर अनेक उपसर्ग किये थे। अनार्य देश में लोगोंने प्रभुको उलटे लटकाए थे। केवलमात्र इसीकारण कि, प्रभु अपना परिचय दे कि मै वर्धमान राजकुमार हूँ। महाराजा सिदार्थ का पुत्र हूँ। तुम्हारा भविष्य का भगवान हूँ। तुम मुझे क्यो परेशान करते हो ? इन कर्मो से तुम कैसे मुक्त हो पाओगे ? ऐसा कुछ भी नही कहनेवाले प्रभु को हम कैसे कह सकते है कि यह शत्रुको समाप्त करनेवाले है। कोई मुकाबला नहीं कोई मंत्रोच्चार नहीं । कोई शब्द घोष नहीं । ऐसे भगवान को हम कैसे कहेंगे अरि + हंताणं । सोचो तो सही शत्रु के साथ जिन्होंने वाणी से कुछ भी नहीं कहा हम उन्हे शत्रु को समाप्त करनेवाले कैसे कह सकते है ? कईबार उठनेवाला यह प्रश्न मैने एकबार प्रभु से पूछ ही लिया कि प्रभु ! आपने दुश्मन को कभी एक शब्द भी नहीं कहाँ तो, फिर गणधरों द्वारा प्रस्तुत पद दुश्मन को समाप्त करनेवाले अरिहंत की व्याख्या कैसे उचित हो सकती है ?

परमात्मा ने कहा इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए तुम्हें प्रति प्रश्न करना पडेगा कि मेरा दुश्मन कौन था ? गोशालक, संगम, शूलपाणीयक्ष, चंडकौशिक यह सब तो मेरे दुश्मन ही नहीं थे । दुश्मन तो वे होते है जिनके प्रति हमें द्वेष हो । द्वेष हमें उनके प्रति होता है जो हमारे भीतर का नुकसान करते हो। इन में से किसी ने भी मेरे आंतरिक गुणों में कोई नुकसान नहीं पहुंचाया। अबोध होते हुए भी उन्होंने समता गुणों में स्थिर रहने में सहायता दी थी । कर्मक्षय में सहायक इन सबको मै दुश्मन कैसे मानुं ? अबोध होने से वे जो चेष्टा करते थे इसीकारण उनपर मुझे करुणा आती थी । वत्स ! दुश्मन सिर्फ वे होते है जिनके प्रति हमें दुश्मनावट होती है। शत्रुता समाप्त होने पर कोई हमारा दुश्मन नहीं होता।

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं ! किं वा बहिया मित्तमिच्छसि ।

वत्स ! तु ही तेरा मित्र है। बाहर न कोई तेरा मित्र है न कोई शत्रु। शत्रुता समाप्त होने पर कोई शत्रु नहीं रहता है। शत्रु को नहीं शत्रुता समाप्त करो। वत्स ! गुनगुना उन पंक्तियों को जो मुक्ति की मंगल आरती है। सिद्धि का मंगलाचरण है। साधना का वरदान है ।

खामेमि सव्वेजीवा, सव्वेजीवा वि खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेर मज्जं न केणई ।।

यहाँ पर मुझे किसी से वैर न हो ऐसा कहा है । मेरा कोई वैरी नही ऐसा नहीं कहा है । वैर वैरी में नहीं हमारे भीतर होता है। वैर समाप्त होनेपर वैरी अपने आप समाप्त हो जाते है अर्थात वैरी मित्र बन जाते हैं। परमात्मा का स्वरुप बाताते हुए कहा है **"विसहर विसनिन्नासं"** विषधर का नाश करनेवाले नहीं परंतु विषधर के विष का नाश करनेवाले। परमात्मा महावीर ने चंडकौशिक सर्प का नाश नहीं किया था परंतु उसमें निहित दृष्टिविष का नाश किया था। अरि अर्थात शत्रु। हंताणं अर्थात समाप्त करना। यह अर्थ तो तुम ठीक समझ रहे हो परंतु अरि को पहचान नहीं रहे। शत्रु कही बाहर नहीं भीतर है। अन्य जीवों के प्रति हमारा रहा हुआ वैमनस्य, राग, द्वेष, विषय, कषाय आदि दोष हमारे दुश्मन हैं। जो हमारे भीतर के गुणों पर आघात करते हैं उनको समाप्त करना साधना है। इसीकारण अपूर्व अवसर में कहा है -

"क्रोध प्रत्ये तो वरते क्रोध स्वभावताः"

क्रोध के उपर क्रोध करो। जिन शासन के सिवा यह कला कहाँ से उपलब्ध हो पाएगी।

"नमो" की उत्पत्ति नाभि से होती है। क्रोध की उत्पत्ति कहाँ से होती है? नाभि से, हृदय से या मस्तिष्क से? मस्तिष्क से होती है ऐसा कोई कहे तो इसका प्रमाण क्या है? इसका उत्तर पाने के लिए आपको जब गुस्सा आता है आप आईने के सामने खडे हो जाओ आपको उत्तर मिल जाएगा। अथवा किसी ओर को गुस्सा आया हो तो उन्हें आप अपने केमेरे में कैद कर लो । क्रोध आते ही मस्तिष्क में उत्पन्न क्रोध ललाट पर आएगा । भाग्य दर्शी ललाट उलट पुलट, आडी तिरछी रेखाओं से जटिल हो जाएगा। भौंहे टेढी हो जाएगी। आँखें लाल हो जाएगी। नाक फूलने लगेगा। होंट फडफडेंगे। ये तो बाह्य लक्षण हुए। अब क्रोध भरा मस्तिष्क भीतर की प्रक्रिया सुरु करता है। जो दिखती नहीं पर अनुभव होता है। हृदय की धडकने बढना। बी.पी. बढ्ना। अॅड्रनल ग्रंथि, लिवर, किडनी आदि पर असर होती है। हाथ पाँव थरथराते है। और एक बात आप जानते है ना क्रोधित व्यक्ति अपना पाँव जोर से पटकता है और वो भी दाहिना पाँव। कभी सोचा है आपने कि ऐसा क्यों होता है? इस प्रक्रिया से मस्तिष्क में उत्तेजित श्रावों की जटिलता कम हो जाती है और मस्तिष्क का प्रेशर कम होता है। जमीन पर पांव पटकने से अर्थींग हो जाने से वातावरण में हलकापन महसूस होता है। भगवान कहते हैं - कोहो पीई पणासेइ। क्रोध प्रीति का नाश करता है। क्रोध से प्रेम का नाश होता है प्रेमी का नहीं।

दूसरा कन्सेप्ट है **"अरिहं + ताणं"**। अरिहं शब्द अर्हता के अर्थ में प्रस्तुत है। अर्हता अर्थात् योग्यता, सामर्थ्य। ताणं अर्थात् त्राण, रक्षण। जब जब प्रोटेक्शन की आवश्यकता हो तब तब अरिहंत परमात्मा रक्षण का सामर्थ्य रखते हैं। समस्त जीवों के रक्षण का सामर्थ्य उनका स्वभाव है। उनके स्वभाव की यह धारणा तीन भव पूर्व की साधना है। **"सवि जीवकरु शासन रसि"**की महान भावना से तीर्थंकर नामकर्म का निकाचन होता है। पुण्य जनित इस कर्म में अनेक अतिशयोंका विशाल पुंज होता है। एक जीव जब सिद्ध होता है तब अव्यवहार राशि का

एक जीव व्यवहार राशि में आता है। जीव के उपर सिद्ध परमात्मा का यह अनौपचारिक उपकार है। व्यवहार राशि में आए हुए जीव के पास अपने विकास की कोई विधि, विधान, साधन या मार्ग नहीं होता है। सिद्ध परमात्मा हमारे शाश्वत पिता है तो अरिहंत परमात्मा हमारी शाश्वत माता है। मुक्ति पाने तक हमारी समस्त व्यवस्था एवं अवस्था वे सम्हालते हैं। एकबार व्यवहार राशि में आ जाने के बाद जीव की प्रगति केवल मात्र परमात्मा की करुणा से ही होती है। जैसे माता शिशु का पालन वात्सल्य और करुणा से करती है। गर्भ से लेकर जन्म के बाद काफी समय तक माँ बच्चे को सम्हालती है। जैसे जैसे बच्चे का स्वयं का सामर्थ्य प्रकट होता है वैसे वैसे माँ उसे स्वात्मनिर्भर करती है। उसी तरह परमात्मा हमारे सामर्थ्य संपन्न होने तक स्वयं के सामर्थ्य का प्रयोग करते है। हम स्वयं भगवत् आत्मा है परंतु कर्मो के कारण हम स्वयं के सामर्थ्य से अनभिज्ञ है। जैसे करोडपती का बच्चा बचपन में किसी के पास चोकलेट देखकर अपना हाथ फैला देता है। जब उसे अपने सामर्थ्य की समझ आती है तब उसे अपनी इस हरकत की शरम आती है। परमात्मा भी हममें हमारी भगवत्सत्ता को प्रगट होने का अवसर देते है। पहचान कराते है। सारे शास्त्र, प्रभु की देशना आदि परमात्मा के सारे सामर्थ्य केवल मात्र हमारा सामर्थ्य प्रकट करने के है। मोक्ष का सामर्थ्य संपन्न होते ही हम स्वयं भगवान हो जाते है।

तीसरा शब्द संयोजन है अरिहंत + आणं। यह है हमारे परमात्मा के साथ के आज्ञामय संबंध। आज्ञा कौन देता है ? किसको देता है ? क्यों देता है ? जीव का स्वाभाविक विकास संज्ञा, प्रज्ञा और आज्ञा से संबंध रखता है।

जैसे जन्म के साथ ही बच्चे को खाने की संज्ञा होती है। उसे बोध या प्रज्ञा नहीं होती कि क्या खाना ? कितना खाना ? कैसे खाना आदि। चाहे खाद्य पदार्थ हो या खिलौना हो वह मुह में ही डालता है। खाने की कोशिश करता है। माँ धीरे धीरे उसे बोध देकर प्रज्ञान्वित करती है। उससे भी बडे होने पर माँ उसे आज्ञा करती है ये तुझे खाना चाहिए ये तुझे नहीं खाना चाहिए। आज्ञा के नहीं मानने पर उसे शिक्षा भी देती है। इसी तरह परमात्मा के साथ भी हमारे तीन तरह के संबंध है। अनादि काल से हम केवल संज्ञा के आधार पर ही परिभ्रमण करते थे। परम करुणानिधान अनंत करुणा द्वारा हमारी प्रगति का आयोजन करते हैं । यहा तक तो न हमारा कोई अर्पण है न समर्पण । एक पक्षीय प्रेम से हमारी इस विकास यात्रा का प्रारंभ होता है। तब हम दुसरे प्रज्ञामय संबंध के योग्य होते है। समर्थ होते है। इसमें परमात्मा हमें बोधान्वित करते हैं। प्रज्ञामय संबंध से संबोधि का दान कर प्रभु योग्य आचरण के लिए आज्ञा प्रदान करते है।

आज्ञा में दो शब्द है। आ याने आत्मा और ज्ञा याने ज्ञान। जो आत्मा का ज्ञान प्रस्तुत करे। उसका नाम आज्ञा। आज्ञा किसकी होनी चाहिये? आज्ञा तो कोई भी दे सकता है? जिन्हें आत्मा का ज्ञान हो सकता हो वे हमें आज्ञा दे सकते है। अत: आत्मज्ञानी पुरुषों की आज्ञा स्वीकारणीय होती है। शिष्य ने गुरु से पुछा, धर्म क्या होता है ? गुरु ने कहा आणाए धम्मो। और किसी धर्म की व्याख्या को और किसी धर्म के स्वरुप को समझो न समझो परंतु इतना तो मानना ही पडेगा कि आज्ञा ही धर्म है। एक बार एक शिष्य ने गुरु से पूछा, गुरु मैने दीक्षा तो ले ली परंतु मुझसे भूखा नहीं रहा जाता। मुझसे उपवास नहीं किया जाता, कोइे बात नहीं बेटा तुम्हे क्या खाना, कितना खाना,

कैसे खाना, कब खाना यह जानना बहुत जरुरी है इसे जानकर वैसा करना भी तप है। आणाए धम्मो। आणाए तवो। आज्ञा का पालन भी एक तप है। ऐसा तप बारह तप में कही नहीं मिलता। आज्ञा ही धर्म है आज्ञा ही तप है। खाने की पूरी सम्भावना होने पर भी प्रभु के प्रत्याख्यान को लेकर छोडना तप है। तो जो तप है उसके साथ प्रभु की *आज्ञा जुड गई*, सारा दिन कभी भूखे रह जाओ तो कभी नहीं कहते मुझे तप है मुझे उपवास है : **आणाए धम्मो आणाए तवो ।** आज्ञा का जो दान करे वे भगवान। आज्ञा का जो पालन करे वह भक्त और आज्ञा का जो व्यवस्थापन करे वे गुरु, वे आचार्य वे उपाध्याय।

आपने द्रव्य परिणमन का सिद्धांत सुना होगा। ज्ञाता सूत्र इस सिद्धांत का साक्षी है। नाम से, आज्ञा से, अनुग्रह से द्रव्यों में परिवर्तन संभव हो सकता है। कल्याणमंदिर स्त्रोत्र में कहा है -

पानीयमप्यमृतमित्यनुचिंन्त्यमानं, किं नाम नो विषविकारमपाकरोति ।।

अर्थात् परमात्मा का नाम लेकर पानी में अमृत का चिंतन करने से विष अमृत में परिवर्तित हो जाता है। भारत में मीरा ने प्रभु नाम सें ही जहर को अमृत में परिवर्तित किया था। सोक्रेटिस को भी राजकारण ने जहर दिया था लेकिन उस विष ने सोक्रेटिस को मृत्यु दिलायी। पदार्थ की तरह शब्द में भी परिवर्तन की संभावना है। भगवान महावीर ने श्रेणिक से कहा था राजन ! शब्द जड होते है परंतु वे जिस प्रकार के भावों में परिणमते है वैसी चेतना की परिणति बनती है । कुछ शब्द कान में जाते ही कौतूहल उत्पन्न करते है। कुछ शब्द कान जाते ही कैवल्य ज्ञान उत्पन्न करते हैं। शब्दोंका अपना कोई सामर्थ्य नहीं होता है। सामर्थ्य भावों का होता है।

महाराजा श्रेणीक एकबार समवसरण में आते हुए मार्ग में एक ध्यानस्थ संत को देखकर अहोभाव से अभिभूत हो गए थे। पास आकर उन्होंने प्रभु से पूछा प्रभु ! आपके समीप आते हुए मार्ग में एक तपस्वी संत के दर्शन कर मै अभिभूत हो चुका हू। प्रभु मानलो उनकी आयु अभी खतम हो वे कहा जाऐंगे ? प्रभु ने कहॉ प्रथम नरक में। हे प्रभु ! ऐसा कैसे हो सकता है ? श्रेणीक ने आश्चर्य से कहा। परमात्मा ने कहा, सम्राट ! दूसरी नरक में । प्रभु ! क्या बात करते हो आप। हॉं श्रेणीक ! तीसरी नरक में.....ऐसा करते करते परमात्मा ने कहा सातवी नरक में। सुनते ही श्रेणीक ने अपने दोनों हाथों से मस्तक पकड लिया। इतने में दुंदुभि के नाद सुनायी दिये। श्रेणीक ने पुछा प्रभु ! किसको ज्ञान हुआ ? परमात्मा ने कहा, हम जिनकी बात कर रहे हैं उनको। वे जिनका मार्ग में दर्शन कर तुम अभिभूत हो गये थे।

श्रेणीक ने आश्चर्य समेत परमात्मा के पॉव पकड लिए। प्रभु ! धन्य है आपको। आपकी अबूझ या अनबूझ पहेली हम कैसे समझ सकते हैं। परमात्मा ने कहा, राजन ! यह संत है राजर्षि प्रसन्नचंद्र। राजपाट परिवार छोडकर दीक्षित हो गये। एकांत में ध्यान करने लगे। अचानक उसी राज्यपर दुश्मनों के आक्रमण के शब्द सुनकर विचलित हो गए। आत्म क्षेत्र युद्ध क्षेत्र में परिवर्तित हो गया। बिना शस्त्रों के युद्ध हुआ। शत्रु के बिना शत्रुता ने युद्ध छेड दिया। राजन् ! इन्होंने शत्रु तो छोड दिये थे पर शत्रुता नहीं छोडी थी। इस कारण भाव युद्ध हुआ। उपादान शुद्ध था। भावों ने परिणाम को शुद्ध बनाया। निमित्त शुद्ध बना और इन्होंने कर्मक्षयकर कैवल्य प्राप्त कर लिया।

श्रेणीक ने परमात्मा से कहा आप ने इनको दीक्षा के समय कौनसी आज्ञा दी थी? जो इनके लिए शुभ में निमित बनी। भगवान ने कहा, राजन ! साधना का सर्वोच्च परिणाम अदीनभाव में रहकर आत्मा को अनुशसित करना है। अनुशासन का मुख्य सूत्र हैं -

एगोऽहं णत्थि मे कोइ, नाहमन्नसकस्सइ ।
एवमदीणमणसा अप्पाणमणुसासइ ।।

केवलमात्र इस आत्मानुशासन की आज्ञा का लोप करनेपर इनकी आत्मदशा में हीनभाव आये थे परंतु पुनश्च आत्मदशा में अनुशासन आनेपर शुद्ध, विशुद्ध, अतिशुद्ध भावों की उच्च दशा में ये केवली बन गए। आनंदघन जी महाराज दिन रात परमात्मा के साथ गुजारते थे। एक ही चद्दर रखते थे। दूसरी चद्दर नहीं रखते। सोचा चलो गडबड हुई तो क्या हुआ? आखीर है तो ज्ञानी संत भक्तिवाले है अपने को वो अच्छी चीज देते है। कोई बात नहीं गलती हुई हम उस को सुधार लेते है वो पहुँचे भीतर कमरें में। आनंदधन महाराज जी की चद्दर पडी थी लेकिन वह चद्दर कॉप रही थी अरे ये तो कोई ओर मामला है वो डर कर के चीख देता है। इधर इनकी चद्दर में चले गए दुसरी चद्दर तो थी नहीं, लोग पांगले कहेंग या नहा। प्रवचन देन चेद्दरें मा नहा पहिनतें एप, आनंदघन सोचा चलो गडबड हुई तो क्या हुआ? आखीर है तो ज्ञानी संत भक्तिवाले है अपने को वो अच्छी चीजे देते है। कोई बात नहीं गलती हुई हम उस को सुधार लेते है वो पहुँचे भीतर कमरें में। आनंदधन महाराज जी की चद्दर पडी थी लेकिन वह चद्दर कॉप रही थी अरे ये तो कोई ओर मामला है वो डर कर के चीख देता है। इधर इनकी चद्दर में भूत आया हुआ है। चद्दर कॉप रही है। सारे लोग चीख सुनकर उधर चले गये जहॉ चद्दर पडी हुई थी। आनंदधन जी महाराज इतने अद्भूत थे कि लोग अंदर शोर मचा रहे थे इधर इनका प्रवचन चालू था। ऐसे संत नहीं देखने को मिलते। जब प्रवचन देते तो देते ही रहते उनको लोग पागल ही तो कहेंगे। एक दिन किसी श्रावक ने उनसे पूछा कभी भाग गए आपके पास कोई, आपको बुलाने हैं तो आप आते नहीं और कभी पाँच पंद्रह लोग आए तो भी आप आनंदघन महाराज के भीतर भगवान बिराजमान है । इनकी भगवत्सत्ता प्रगट हो चुकी है । इनकी वाणी अद्भुत है । इनकी वाणी से प्रकाशित सत् को झेल लेना चाहिए ऐसा अवसर पुन: नहीं मिल सकता । हाथ जोड कर वे वाणी को पी रहे थे । जैसे प्रवचन समाप्त हआ लोगो ने यशोविजय जी म.सा. से कहा शोर मच गया किन्तु आप भी बैठे भाग गए लेकिन वे उनके समक्ष हाथ जोडकर खडे थे क्योंकि वे उन्हे पहचाने गए थे । उन्होंने निर्णय किया था कि आनंदघन महाराज के भीतर भगवान बिराजमान है । इनकी भगवत्सत्ता प्रगट हो चुकी है । इनकी वाणी अद्भुत है । इनकी वाणी से प्रकाशित सत् को झेल लेना चाहिए ऐसा अवसर पुन: नहीं मिल सकता । हाथ जोड कर वे वाणी को पी रहे थे । जैसे प्रवचन समाप्त हुआ लोगो ने यशोविजय जी म.सा. से कहा शोर मच गया किन्तु आप भी बैठे थे और आप के गुरु जी भी बैठे थे । बोले भीतर जाकर तो देखो चद्दर कैसे कॉप रही है। चद्दर देखकर यशोविजय जी महाराज समझ गए कि महाराज जी को बुखार था और बुखार के परमाणु इन्होंने चद्दर में भर कर रखे है। उसके बाद उन्होंने सब को कहा चुप रहो। महाराज बडे स्वस्थ लगते थे। पाटे पर से उतरे भीतर गए चद्दर ओढी जैसे च-

द्दर लेते ही आनंदधन जी पुन; बुखार से भर गये। यशोविजय जी महाराज कहते हैं कि भगवन ! इसीतरह परमाणुओं को भरकर ये चद्दर हमें दे दो हम इसको पानी में धो देंगे तो सारे बुखार के परमाणु निकल जाऐंगे। आनंदघन जी महाराज ने कहा मुझे मेरे कर्माणुओं का भोग लेने दो। मुझे इसके लिए कोई प्रयत्न करने की जरुरत नहीं है क्योंकि इन कर्माणुओं को सहनकर करने का सामर्थ्य मुझ में है । प्रवचन के कारण मुझे ये प्रयोग करना पडा ।

ज्ञाता सूत्र में द्रव्य परिणमन का सिद्धान्त है कभी बैठकर सिद्धांत तो निकाल कर देखो आप। दूध में दहींका जावन डालने से दूध दहीं बन जाता है यह हुआ दूध के द्रव्य का दहीं के रुप में परिणमन। कई पदार्थों में एक प्रोसेस होता है जो विधि पूर्वक जाने से वह परिवर्तन दिखाई देता है। जैसे दूध में घी निहित है परंतु चम्मच से ढूंढने पर वह कभी नही मिल सकता। दूध, दूध से दहीं, दहीं से छाछ, मक्खन और मक्खन से घी। इसतरह एक प्रोसेस है। इसीतरह आत्मा भी साधना के द्वारा सिद्धि पा सकता है। साधना एक प्रोसेस है। अरिहंत परमात्मा इस प्रोसेस के परम विधाता है । तीर्थ निर्माण करके परमात्मा संघ स्थापना के द्वारा इस प्रोसेस को प्रस्थापित करते है । यह प्रोसेस ऐसी व्यवस्था है जो आत्मा की अवस्था को आत्मस्थिति और आत्मसिद्धि पाने में सहायक होता है ।

पुनश्च उस विकल्प को याद करें कि जिनके पास बैठने से हमारे सारे विकल्प शांत हो जाते है, हमारा अहं, मत, अभिप्राय टूट जाते है। वे अरि + हंताणं है अर्थात अरिहंताणं है। जिनके पास हमें हम न होने की अनुभूति नहीं होती है वे अरिहं + ताणं है अर्थात अरिहंताणं है। जिनके पास हमे अरिहंत होने की अनुभूती होती है वे अरिहंत + आणं है अर्थात अरिहंताणं है। ऐसे अरिहंत परमात्मा के चरणों में नमस्कार करते हुये नमोत्थुणं अरिहंताणं का मालकोस राग में जप करते हुये ध्यानस्थ होते हैं। सीधे बैठीए आँखे बंद कीजिए, मंद मंद श्वास प्रश्वास के साथ देह को शिथिल कीजिए।

।। नमोत्थुणं अरिहंताणं ।। नमोत्थुणं अरिहंताणं ।। नमोत्थुणं अरिहंताणं ।।

नमोत्थुणं - भगवंताणं

भगवत्ता जिनमें प्रगट होती है वे भगवान है । भव्य आत्मा का भविष्य भगवत्ता है ।

"भगवान ही अच्छे लगने" - संवेग है ।
भगवान अच्छे लगे अतः संसार नहीं सुहाता यह निर्वेद है ।
भगवान का आकर्षण संवेग है और संसार का विकर्षण निर्वेद है ।

भगवान और संसार दोनों कभी भी एकसाथ नहीं रह सकते। मृगावती से जो गलती हुयी थी वह क्यों हुयी थी ? उसे भगवान अच्छे लगे । उसे भगवत्ता अच्छी लगी। भगवान अच्छे लगने पर संसार छोडना नहीं पडता है संसार छूट जाता है। दीक्षा अर्थात संसार छोडना नहीं संसार छूट जाना है। परमात्मा अच्छे लगने के बाद पदार्थ-परमाणु अच्छे नहीं लगते है। मृगावती भगवान में विलिन हो गयी थी इतना ही नही स्वयं में भगवत्ता प्रगट हो गई। ज्योतिर्मान दीपक के साथ एक तेल से भरे दीपक का सहजस्पर्श हुआ। केवल मात्र स्पर्श। अंतिम स्पर्श। भगवान ही बना दे ऐसा स्पर्श। स्पर्श पाकर समवसरण से बाहर आए यह बाहर सिर्फ मेरे आपके लिए है। वे तो स्वयं भीतर ही थी भगवान के साथ। घटना से पूर्व उपाश्रय उनका निज आवास था परंतु आज तो निज अंत:करण ही उनका निज का आवास था।

गुरु ने देखा नियम तोडने का भय नहीं है। गुरु के उपालंभ का आभास नहीं है। भय क्यों हो सकता है ? भय और भगवान कभी एक साथ नहीं रह सकते। भय, भव और भ्रम का जो अंत करते हैं, वे ही तो भगवंत है। आज हम तीन शाब्दिक अभिव्यंजना के माध्यम से भगवंत शब्द का स्मरण, कीर्तन, पूजन का प्रारंभ करते है। भगवंताणं शब्द का भ + ग + व + अंताणं ऐसा अनुप्रास है । इन तीनों अक्षरों से जुडा अंताणं शब्द का अर्थ है अंत करनेवाले। अंत उसका होता है जिसकी आदि हो। किस आदि का यहाँ अंत है उसका हार्द भ,ग,व शब्द में निहित है। अचरज तो इस बात का है कि संसार में सहज पहले आदि समझायी जाती है बाद में अंत। नमोत्थुणं सूत्र में सूत्र क्रम के अनुसार पहले अंत और बाद में आदि का सूत्र है। पहले अरिहंताणं और भगवंताणं पद है बाद में आइगराणं पद है। वह कौनसी आदि है जो अंत की प्रतीक्षा करती है । इस प्रश्न का उत्तर तो हम आइगराणं पद से लेंगे। अभी हम कुछ ऐसे अंत की चर्चा कर रहे है, जो आइगराणं पद की पूर्वभूमिका बन जाता है।

किसी भी पद को समझने के दो तरीके होते हैं। एक शब्दमय और दुसरा स्वरुपमय। शब्द की अभिव्यंजना पद के स्वामी की पहचान कराती है और स्वरुप की अभिव्यंजना स्वरुपमय बना देती है । नमोत्थुणं शब्द की सार्थकता भगवंताणं शब्द की स्वरुपमय व्याख्या में समाहित होती है। स्वरुप समझने से पूर्व शब्द समझना आवश्यक है क्योंकि हम शब्द से स्वरुप की ओर जा रहे है। भगवंताणं शब्द तीन शब्दों के अनुप्रासों के माध्यम से स्पष्ट होता है।

भ + अंताणं :- भव, भय और भ्रम का अंत करनेवाले।

ग + अंताणं :- गति के भ्रमण का अंत करनेवाले।

व + अंताणं :- वर्गणाओं (कर्मों) के साथ के संबंध का अंत करनेवाले।

भगवंत अर्थात वे जो हमारे भ अर्थात् भव, भय, भ्रम का अंत करे। जो हमारे ग अर्थात् गतियों के भ्रमण का अंत करते हैं। जो व अर्थात वर्गणाओं (कार्मिक) के संबंध का अंत करते हैं।

जब भ्रम होता है तब भय होता है । जब भय होता है तब भव होता है और जब भव होता है तब भ्रमण होता है। जब हकीकत गुजरती है तब भय को मौका नहीं रहता है। भय हकीकत से पूर्व निजकल्पनारुप भ्रमसे उत्पन्न होता है। घटना के साथ भय का एक काल्पनिक संबंध होता है। इसी कारण भय और भ्रम से उत्पन्न भव के प्रति जीवको भय नहीं होता है। भवों का भय न होने के कारण भ्रमण के प्रति भी जीव भयभीत नहीं रहता है।

व से वजन का अंत ऐसी भी व्याख्या होती है । आत्मा का स्वभाव अगुरुलघुगुणवाला है, परंतु कर्म संबंध के कारण वह वजनवाला हो जाता है। जैसे तुम्बे के ऊपर मिट्टि के लेप लगे हो तो वह पानी में डूब जाता है। उसी तुम्बे के लेपमुक्त होते ही वह पानी के उपर तैरने लगता है। उसी तरह जीव कर्म वजन से मुक्त होता हुआ लोक के अग्रभाग अर्थात् मुक्तदशा को प्राप्त होता है। समस्त चौदह राजु लोक प्रमाण ब्रह्मांड में धूल के रजकणों की तरह कार्मिक वर्गणाए व्याप्त है। जैसे पसीने या पानी से भीगे हुए या तेल से लिप्त देह पर धुल की रजें चिपकती हैं वैसे ही मन,वचन, काया के योग आत्म परिणति के अनुसार कार्मिकरजें आत्मा को चिपकती हैं उसे कार्मिक वर्गणा कहते है ।

आत्मा में जब राग द्वेष के कारण आंदोलन (स्पंदन) होते हैं तब वह ब्रह्मांड में व्याप्त कार्मिक वर्गणाओं को ग्रहण करता है। ग्रहण की जानेवाली ये कार्मिक वर्गणाए आत्म प्रदेशों के उपर छा जाती है। जैसे लोहचुंबक पर लोहे की रजकणें चिपकती हैं। इसमें आकर्षण का कारण लोहचुंबक है वह स्वयं ही लोहे की रजकणों को स्वयं की ओर खींचता है, चिपकाता है और स्वयं वजनवाला हो जाता है। इसीतरह जीव राग द्वेष के कारण कार्मिक वर्गणाओं को स्वयं की ओर आकर्षीत करता है, खींचता है, चिपकाता है और स्वयं वजनवाला हो जाता है। भारी हो जाने के कारण तैर कर उपर आने में असमर्थ होता है। इस समय कार्मिक वर्गणाओं के साथ के संबंध का अंत करनेवाले भगवान का करुणामय सामर्थ्य हमें सहयोग देता है।

भगवंत की यह शाब्दिक व्याख्या भगवंत के परम स्वरुप के साथ संबंध जोड देती है । यह व्याख्या परमात्मा के महान अस्तित्त्व के साथ हमारा कतृत्त्व संयोजित करती है। परम अस्तित्त्व की साक्षी में हम स्वयं के सिद्धत्त्व को प्रकट करने के लिए कर्तृत्त्व का महायज्ञ चालु कर रहे हैं, जो हमने पहले कभी नहीं करा। हमारा कर्तृत्त्व परम के अस्तित्त्व की साक्षी के बिना केवल मात्र कर्म बंधन से संलग्न था। सुधर्मा स्वामी ने शासन की सत्ता सम्हालते ही सर्वप्रथम हमें नमोत्थुणं सूत्र का दान दिया। भगवान ऋषभदेव के पास राज्य की याचना करने के लिये आये हुए नमिविनमि को शक्रेन्द्र ने इसी नमोत्थुणं के द्वारा अनेक विद्याएं सिखाई।

भगवंताणं शब्द को समझाते हुये व्याख्याकारोंने **"भग"** शब्द के छः अर्थ प्रस्तुत किये हैं। इसे भगवत्षटक् कहते हैं।

समग्र ऐश्वर्य, समग्र रुप, समग्र यश, समग्र धर्म और समग्र प्रयत्न।

परमात्मा की ये छहों चीजें अत्यंत उत्कृष्ट होती हैं, परंतु हमें इससे क्या लाभ हो सकता है ? वृत्तिकार ज्ञानी पुरुष हमें इसका उत्तर देते हुए समझाते है कि इसी कारण यहाँ छहों अर्थ के पूर्व **"समग्र"** शब्द लगाया गया है। समग्र अर्थात अखंड, अविभाज्य पृथ्वीतल से लेकर लोकाग्र तक व्याप्त। इस समग्रता के कारण भगवत्ता का हमारे साथ संबंध बन जाता है।

परमात्मा का समग्र ऐश्वर्य हमारी निज चेतना का साक्षात्कार है।
परमात्मा का समग्र रुप हमारी निज चेतना के हस्ताक्षर है।
परमात्मा का समग्र यश हमारे पुण्य का अविष्कार करता है।
परमात्मा की समग्र श्री हमारे भाग्य का संस्कार करती है।
परमात्मा का समग्र धर्म हमें मिला हुआ परमार्थ पुरस्कार है।
परमात्मा का समग्र प्रयत्न हमारे सिद्धत्त्व का मंगलाचार है।

सर्व प्रथम है भगवान का समग्र ऐश्वर्य। समग्र अर्थात अखंड अविभाज्य, अव्यय। जो खंडित नहीं होता, जिसका कोई भाग नहीं होता, जिसका कोई विभाग नहीं होता और जो न कभी बांटा जाता है। यहाँ हम परमात्मा के ऐश्वर्य की बात करते हैं जिसे अद्वितीय पराभोगी संवर्धित ऐश्वर्य कहते है। कोई कितना भी ऐश्वर्य संपन्न हो उससे हमारा क्या मतलब है? हमारे घर के पास किसी श्रीमंत का बंगला हो नित्य नवीन गाडियाँ आती जाती हो हमारे किस काम की? इसी तरह परमत्मा का ऐश्वर्य कितना भी क्यों न हो हमें कैसे काम आएगा? आपके पास ऐश्वर्य है या वैभव है? वैभव और ऐश्वर्य में क्या अंतर है? जो है परंतु दिखता नहीं उपभोग में नही आता है वह वैभव है वही जब बाहर आकर उपयोग में आता है तब वह ऐश्वर्य बन जाता है। जैसे सेफ में जेवर होते है वह वैभव है। जब किसी प्रसंग पर उन्हें निकाल कर धारण किया जाता है। सब के सामने वैभव प्रगट होता है तब ऐश्वर्य बन जाता है। इसे भक्तामर स्तोत्र में अच्छी तरह समझाया गया है -

इत्थं यथा तव विभूतिर्भूजिनेन्द्र, धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।

यहा परमात्मा की विभूति का वर्णन करते हुये कहा है कि हे जिनेन्द्र ! आपकी विभूति अर्थात वैभव धर्मोपदेश के समय पराभोगी बन जाता है। हमारा वैभव और ऐश्वर्य स्वभोगी होता है। परमात्मा का ऐश्वर्य पराभोगी होता है। इसलिए यहाँ वैभव को विभूति कहा है। भू याने रक्षा करना। जैसे भभूति भ याने भस्म भूति याने राख। जो राख से रक्षा करते है उसे भभूति कहते है। विभूति अर्थात विशेष रुप से रक्षा करनेवाले। इसी भूति शब्द पर से इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति तीनो गणधर बंधुओं के नाम है। इन्द्र की तरह जगत की रक्षा करनेवाला तेरा बेटा होगा ऐसा स्वप्न में जानकर गौतमस्वामी की माता ने उनका नाम इन्द्रभूति गौतम रखा था। इसीतरह अग्निकाय की रक्षा करने के कारण अग्निभूति और वायुकाय की रक्षा करने कारण वायुभूति नाम रखा था।

पुच्छिसुणं में भगवान के लिए **"से भूइपन्ने"** और **"जगभूइपन्ने"** अर्थात भूतिप्रज्ञ है ऐसा कहा है। जगत के जीवों की रक्षा जाननेवाले अर्थात् रक्षा कैसे की जाती है और उनके सर्व उपायों को जानकर इसे विश्व व्यवस्था का प्रयोजन बनानेवाले भूतिप्रज्ञ कहलाते है।

हमारा सारा ऐश्वर्य केवल स्वभोगी है। परमात्मा का पूरा ही ऐश्वर्य पराभोगी है। परमात्मा अपना ऐश्वर्य भोगते ही नहीं है। उसको केवल दूसरे लोग भोगते है। उसके बाद संवर्धित परमात्मा का ऐश्वर्य जितना वापरा जाता है उतना उतना बढ जाता है। हमारी चीज जितनी वापरी जाती है उतनी घिसती जाती है। कम होती है। गाडी में पेट्रोल चलाया तो जितना चलाया उतना कम होता है। फिर कहते हो ये पुरानी हो गई। गाडी को निकाल देनी है। अरे गाडी की बात करते हो हमारे घुटने और कमर भी घिस घिस के कमजोर हो जाते है। हमारा पूरा ही ऐश्वर्य घटता है घिसता है कम होता है लेकिन परमात्मा का ऐश्वर्य जितना उपभोग किया जाता है उतना बढता जाता है।

ऐश्वर्य की तरह परमात्मा रुप भी अद्वितीय पराभोगी है। एक बार भरतचक्रवर्ती और शक्रेन्द्र महाराज के बीच में प्रतिस्पर्धा थी कि परमात्मा की स्तुति अधिक कौन कर सकता है, देव या मानव ? दोनों ने स्तुति का प्रारंभ किया। यह सिलसिला कुछ समय तो चला आखिर भरत महाराजा थक गये। उन्होंने शक्रेन्द्र से कहा मैं भाव से भरा हुआ हूं। हारा नहीं हूं पर थका जरुर हूं अत: हम इस कार्यक्रम को पुन: कल की सभा में जारी रखेंगे।शक्रेन्द्र ने हंसकर कहा महाराज! परमात्मा के गुण अमाप है, रुप अद्वितीय है, ऐश्वर्य अनंत है, ऐसे उनकी अनंत समृद्धि को हम स्तुति के रुप में कितने दिनतक गा सकेंगे? प्रभु की समृद्धि को अपने भीतर उतारने का सामर्थ्य किसका अधिक है यह जानना जरुरी है। भरत आप भले ही चक्रवर्ती हो परंतु मानव होने के कारण आत्मधर्म, विरतीधर्म, दानधर्म का पालन करने में समर्थ हो अत: आप पूर्ण सामर्थ्य से संपन्न हो, शक्रेन्द्र के (मेरे)जिस रुप को आप देख रहे वह वैक्रेय शरीर है। इसे हम कम ज्यादा कर सकते है परंतु औदारिक शरीर को ऐसा करना संभव नहीं है। आप देख रहे है परमात्मा के पीछे एक तेजोमय, प्रकाशमय अतिसुंदर दिखायी दे रहा है उसे आभामंडल कहते हैं। आभामंडल के कारण समवसरण में आये हुए सभी जीवों को अपने सात भव दिखाई देते है। इसमें बीते हुए जन्म के तीन भव, इस भव का एक और आगामी जन्म के तीन भव ऐसे सात भव दिखाई देते हैं। भगवान का तेज इतना अधिक होता है कि कोई देख नही सकता, जनदर्शन के लिए इस आभामंडल में परमात्मा के रुप का उपसंहार होता है। यही उपसंहार हमारे भवों का उपसंहार करने में सहायक होता है। इसतरह परमात्मा का रुप एक ऐसा दर्पण है जिसमें हमारी चेतना साक्षी भाव से प्रगट होती है। आत्मा के आठ रोचक प्रदेश के कारण प्राप्त निर्मलता में मै हूँ इतना ज्ञान होता है परंतु मै कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरुप है? ऐसा ज्ञान परमात्मा के सान्निध्य में ही प्राप्त हो सकता है। राजन! स्वभाव की स्वभाव में जो परिणती कराते है वे भगवान है।

हमें पुण्य की आवश्यकता है। नव पुण्य मेंसे प्रत्यक्ष चार पुण्य मनपुण्य, वचनपुण्य, कायापुण्य और नमस्कारपुण्य होते है। परोक्ष नव पुण्य एकसाथ परमात्मा के यशोगान से प्राप्त होते है। परमात्मा का यशोगान **"त्रैलोक्यलोक शुभसंगम भूतिदक्ष"** होता है। अर्थात यशोगान करने से तीनों लोक में जो शुभ है उसका

संगम अर्थात संयोंग प्राप्त होता है। उवसग्गहरं स्तोत्र में भगवान को **"महायश"** के संबोधन से संबोधित किये गये है। यहाँ कहा है, **"इअ संथुओं महायस! भत्तिभर निब्भरेण हियएण"** इस तरह से प्रस्तुत है। तूं यशस्वी है। तूं यश से भरा हुआ है, मै भक्ति से भरा हुआ हूँ। तेरा यश छलकता है तो मेरी भक्ति छलकती है। देखो कैसा कम्पेक्ट, कैसा कम्पेरिझन है। भगवान के साथ कि तेरा यश इतना ज्यादा है कि जब वह भर जाता है और छलकता है उसमें से एकाद बूंद भी किसी इज्जत से दु:खी आदमी को मिल जाती है तो उसका बेडा पार होता है। जब इस पर मेरा चिंतन चल रहा था तब किसी की इज्जत खतरे में थी उसे महायशस्वी का स्मरण करने को कहा गया। महायशस्वी के स्मरण से वह उस खतरे से बच गया।

यश नामकर्म की एक प्रकृति है। यश अर्थात् कीर्ति। यश अर्थात् प्रतिष्ठा। यशनाम कर्म के परमाणु सभी के पास होते है परंतु अंशात्मक रुप में कम ज्यादा होते हैं। तीर्थंकर भगवान पूर्ण यशनाम कर्मवाले होते हैं। यह पूर्ण यश समग्र के साथ निकाचित होता है। इसी कारण विपाकोदय में भी समग्रता अर्थपूर्ण रहती है। तीर्थंकर जन्म से तीन भवपूर्ण सवी जीवकरु शासन रसीक की भावना के कारण तीर्थंकर नामकर्म के साथ ही यशनामकर्म संलग्न हो जाते हैं। परमात्मा के निर्वाण के समय जब सर्व कर्मक्षय होते है तब उनके ऐसे पुण्य परमाणु शासन रक्षक देवदेवी ले लेते हैं। ये परमाणु जिस आकार को ग्रहण करते हैं उसे अनाहत यंत्र कहते हैं। लोगस्स की पुस्तक में दिये गए अनाहत यंत्र में इन्हीं रेखाओं को अवतरित किया गया है। अक्षर की आकृति भी ध्वनि और नाद के द्वारा मंत्र बन जाती है। मंत्र नाद से अनहद बनता है और अनाहत के साथ जुडकर विश्व व्यवस्था में नियोजित शुभ परमाणुओं का आकर्षण करता है। तब हमारा पुण्य बढता है। परमात्मा वीतराग है। किसी से कुछ देते नहीं हैं पर उनका नाम स्मरण पुण्यस्मरण बन जाता है। जिस से हमें उचित फल मिलते हैं।

आनंदघनजी महाराज ने सुविधिनाथ भगवान के स्तवन में इस फल को दो विभागों में बाटा है - **"एहनुं फल दोय भेद सुणीजे अनंतर ने परंपर रे...."**

एक प्रकार है अनन्तर फल दूसरा प्रकार है परंपर फल। अनन्तर याने इसी जीवन में जो प्राप्त होता है और परंपर फल याने आनेवाले भविष्य में जो प्राप्त होता है। परमात्मा के स्तवन से अनंतर और परंपर दोनों फल प्राप्त होते हैं।

जो भक्ति योग का मुक्तियोग में परिणमन करते हैं उन्हें भगवान कहा जाता है । परिणमन करनेवाले भावों को पारिणामिक भाव कहते हैं। भाव पाँच प्रकार के होते हैं उनमें पांचवा भाव परिणामिक भाव है। तत्त्वार्थ सूत्र का एक पूरा अध्ययन इन भावों पर है। वही भाव जिसे हम रोज **"भावे भावना भाविए भावे दीजे दान। भावे धर्म अराधिए भावे केवलज्ञान"** रुप में रोज बोलते हैं। इन पंक्तियों में भाव शब्द छ: बार आता है। इस में मुख्य है भाव से भावना को भाना। दूसरी तरह से यहाँ भावों के छ हों शब्दों में छ: आवश्यक है। यदि छहों आवश्यक भावपूर्वक होते है तो केवलज्ञान का कारण बन सकते हैं।

द्रव्य को कोई बन्धन है, क्षेत्र की कोई सीमा है, काल को कोई मर्यादा है लेकिन भाव के लिए कोई बन्धन नहीं, कोई मर्यादा नहीं, किसी प्रकार की सीमा नहीं वह सीमातीत, मर्यादातीत बन्धन से रहित है।

परिणामिक भाव के भी दो प्रकार है। एक द्रव्य पारिणामिक भाव और एक भाव पारिणामिक भाव। द्रव्य पारिणामिक भाव का मतलब होता है कि हम अपने को सब कुछ उसी पारिणमित रुप में अनुभव करते है। जैसे चिंटी को भी अपनी चिंटी की पर्याय का पारिणामिक भाव है । वह स्वयं को मैं चीटी ही हूँ ऐसा मानती है। मुझे मरना नहीं हे जीना है ऐसा जानती है।

भगवान महावीर की आत्मा ने जब सिंह का जन्म धारण किया था । उस समय दो मुनियों ने उनको प्रतिबोधित किया था। जब सिंह शिकार की खोज में था तब दो मुनियों ने जाकर उन्हे प्रतिबोधित किया, सिंह कौन हो तुम ? स्वयं को पहचानो। तुम्हारी अपनी आत्मा की अलौकिक पर्याय को याद करो। तुम्हारी बीती पापमयी पर्याय को याद करो और तुम्हारी वर्तमान पर्याय का पर्यावलोचन करो। आवलोकन करो। तुमारे भविष्य का तुममें दर्शन करो। इससे तुम स्वयं को जान पाओगे कि कि तुम कहा थे ? कहा हो और क्या होने वाले हो ? सिंह की आत्म शिघ्र ही जाग्रत हो गई? महापुरुषों की आत्मा चाहे जिस किसी भी तिर्यंच पर्याय में हो, उन्हें जागृत करने के लिए क्षणवार लगती है। किसी भी तिर्यंच पर्याय में हो परम सिद्ध पुरुष उन्हें परम विशुद्ध अवस्था में परिणमित करते हैं।

अब हम स्वयं के दोनो परिणमन को देखें जैसे मैं किसी गुजराती परिवार की बेटी हूँ । वहाँ से दीक्षित होकर मै श्रमण संघ की साध्वी बनी। दिव्यप्रभा के नाम से पहचानी जाती हूँ।ये सब मेरे दिव्यप्रभा नाम से रीलेटेड पारिणामिक भाव है। उससे जरासी हटती हूं क्या मैं वास्तव में दिव्यप्रभा ही हूँ । तब मुझे मेरी भावी पर्याय का बोध होता है। मैं तो अरिहंत भक्ता हूँ । सिद्ध की स्थिति को पाने वाली हूँ मेरे पारिणामिक भाव बदल गए और शुद्ध पारिणमिक भाव प्रगट हो गये। मै शुद्ध हूँ । बुद्ध हूँ। निरंजन हूँ। निराकार हूँ। दैहिक पर्याय से मुक्त हूँ। जैसे हम दीक्षा के समय परिवार की मर्यादा से मुक्त हो जाते है। जिस तरह वस्त्र बदल कर वस्त्र पर्याय से मुक्त हो जाते है, उसी तरह से मैं देह पर्याय से भी मुक्त हूँ। मैं एक शुद्ध निरंजन आत्मा हूँ। एक शाश्वत चेतना हूँ। न स्त्री न पुरुष न गुजराती न मारवाडी ना पंजाबी हूं परंतु मेरी पर्याय पूर्ण शुद्ध सिद्ध पर्याय है। ये मेरा शुद्ध पारिणामिक भाव है।

चौथी व्याख्या है समग्र श्री। श्री अर्थात् परमज्ञान, परमतेज, परमसुख, परमसंपत्ति। यह सबकुछ परमात्मा को सिद्ध होता है इसीकारण भगवान की व्याख्या में **"श्री"** को प्रस्तुत किया गया है। ऐश्वर्य, वैभव, रुप, यश सब जिसमें एकसाथ प्रगट होते है उसे श्री कहते हैं। मरुदेवी माता ने भगवान ऋषभदेव की याद में रोरोकर ऑखे खो दी थी। जब भरतचक्रवर्ती अपनी दादी को भगवान के दर्शन को ले गये तब परमात्मा की श्री ने ही उनके मोहनीय कर्म के आवरण को हटा कर उनमें कैवल्य प्रगट करवाया था। इसी श्री ने गौतम स्वामी के पंद्रह सौ तापसों को केवल ज्ञान प्रगट करने में सहायता की थी।

पांचवा तत्त्व है समग्र धर्म। समग्र धर्म चार स्वरुप में बांटा गया है।

१. कार्यरुप (साध्य) धर्म **२. प्रवृत्ति (साधना) धर्म**

३. आलंबन रुप (साधन) धर्म **४. कारणरुप (स्वरुप) धर्म**

कार्यरुपधर्म सम्यक दर्शन, सम्यकज्ञान और सम्यक चारित्र को कहते है। आत्मपरिणाम तत्त्वश्रद्धान, तत्त्वदृष्टि और तत्त्वपरिणति रुप है। विश्व में जो हेय, ज्ञेय और उपादेय रुप तत्त्व है उनके प्रति उदासीन, ज्ञानशील और आचरणयुक्त तत्त्व है उनको परिणतीमय बनाना अधिक दृढता से निर्मलता से उसका पालन करने से मोक्षरुप कार्य बनता है।

प्रवृत्ति रुप धर्म दानशील तप और भावनामय धर्म को प्रवृत्तिमय बनाता है। अभयदान, धर्मोपग्रहदान आदिरुप दानधर्म। श्रावक के बारह व्रत, दस प्रकार के यति धर्म, समकित वे 67 बोल आदिरुप प्रवृत्ति, तप के बारह प्रकार। मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थादि रुप भावनाचतुष्टय और अनित्यादि बारह भावनारुप प्रवृत्ति धर्म होता है।

आलंबन रुप धर्म के दो प्रकार है। साश्रवधर्म अर्थात् आरंभ-समारंभ वाला धर्म। यात्रागमन, संघभक्ति साधर्मिक वात्सल्य, धर्मस्थान का निर्माण, ज्ञानभंडार आदि सब साश्रवधर्म है। साश्रवधर्म के पालन से गहस्थधर्म लेश्या वर्धमान होती है। निराश्रवधर्म से यह धर्म अल्प अंश में परिणति करता है। संसार के सर्व संबंधों से मुक्त सर्वविरतिरुप सामयिक धर्म निराश्रवधर्म है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार और वीर्याचार पंचाचाररुपधर्म निराश्रवधर्म है।

चौथा स्वरुप धर्म । धर्म का स्वरुप योगरुप है। योग अर्थात् जो मोक्ष के साथ जोड दे। योग के कई प्रकार है, जो उपयोगधर्म में फलित होता है वह मोक्ष का स्वरुप कहलाता है।

समग्र प्रयत्न पराक्रम । परमात्मा का पराक्रम जन्म से ही प्रसिद्ध होता है। जैसे भगवान महावीर की आत्मा ने माता के गर्भ में हलन चलन बंद करके माता को पीडा नहीं पहुंचाने का पराक्रम किया था। जन्म लेते ही इन्द्र की आशंका का उन्मूलन करने के लिए पांव के अंगूठे से मेरुपर्वत हिला दिया था। यह तो व्यक्यिगत है परंतु सभी तीर्थंकर प्रभु उत्कृष्ट वीर्यवाले होते हैं। परम सात्विक वीर्यवाले होने के कारण वे महाप्रतिमा के धारण करनेवाले निश्चल, निष्कंप ध्यानवाले होते हैं। केवली समुद्घात शैलेशीकरण आदि महापराक्रमवाले और परमयोग की प्रक्रियावाले होते हैं।

अहो आश्चर्यम् ! भगवंताणं पद के स्वाध्याय का अंत हो रहा है। प्रत्येक अंत एक आदि का सूचन होता है परंतु पहले आदि और बाद में अंत होता है। यहॉ साधना क्रम में पहले चर्चा अंत की है फिर आदि की। भव, भय, भ्रम का अंत हो जाने पर निर्भय, निंर्भ्रम, निर्मल पवित्रता में परमतत्त्व हममें किसी आदि की आदि करते हैं। कल हम आइगराणं पद के स्वाध्याय की आदि करेंगे। स्वाध्याय हमारे स्व में वह करेगा जो पूर्व में कभी भी नहीं हो पाया है। वह आदि जो ऐसे ही किसी अंत के बाद ही संभव है। आप सब साधक आज इस पद का खूब स्वाध्याय करना और अंत करने वाली अंतरायों का अंत करके आना। एक अपूर्व आदि के लिए तैयार होकर आना। आइगराणं पद के स्वाध्याय में आपको हार्दिक आमंत्रण है।

ऑखें बंद कर शांति पूर्वक नमोत्थुणं भगवंताणं पद का स्मरण कीजिए ।

नमोत्थुणं भगवंताण नमोत्थुणं भगवंताण नमोत्थुणं भगवंताण

आइगराणं

अंत हो गया अंत का, अरिहंत प्रभु अनंत।
भव, भय, भ्रम सब ना रहे, प्रगट भये भगवंत।
आदि करो मुझ में प्रभु, दो सुख सादि अनंत।
बोधि समाधि सिद्धिरुप भय भंजन भगवंत।
जो अनंत समाधि सुखकी आदि करते हैं वे आईगराणं।
जो अनंत समाधि सुखका प्रारंभ करते हैं वे आईगराणं।
जो अनंत समाधि सुखका उद्घाटन करते हैं वे आईगराणं।

जो अनादि अनंत हैं उस अनादि अनंत की आदि करने के कारण इस पद के उपास्य को आईगराणं कहा गया हैं। प्रस्तुत दोनों पद अरिहंताणं और भगवंताणं में हमने अंत की चर्चा की हैं। कितने कुछ अंत के बाद इस पद में आदि की चर्चा की जा रही हैं। स्पष्ट हैं कि यह कुछ ऐसी आदि हैं जिसके पहले कुछ अंत की आवश्यकता हैं। अंत के बाद ही अनंत की आदि हैं। अनंत कालसे अनंत बार अनंतज्ञान अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य, अनंतसमाधि ऐसे अनंत की हमें खोज हैं। अनंतकाल की खोज के बाद भी आईगराणं के साथ न रहने से खोज की आदि नहीं हो पाई। नमोत्थुणं यह सतस्वरुपकी शोधमयी शुरुआत है। अनादि काल से जिसकी शोध शुध्धि और सिध्धि हो चुकी है नमोत्थुणं उसकी आदि है। शोध उसकी होती है जिसकी कभी शरुआत हुई हो। दूसरी तरह से कहे तो शोध उसकी होती है जिसका अंत नहीं हुआ। अथवा ऐसा भी कहते है शोध उसकी है जो है पर अगम अगोचर है। जैसे हम स्वयं और हमारा अपना सत्स्वरुप।

अब एक छोटा सा शब्द देकर सूत्रकार हमारा विकासयात्रामें प्रवेश कराते हे यह पद है **आईगराणं** जिसका अर्थ है आदि करनेवाले। किस चीज की आदि, किस चीज की शुरुआत, किस चीजका प्रारंभ ? कितना अजीब है यह आयोजन। पहले है अंत की चर्चा और बादमें है आदि की चर्चा? कितना उलटा क्रम है यह ? आदि की चर्चा पहले और अंत की चर्चा बादमें हो सकती है, परंतु अंत की पहले और आदि की बादमें कैसे संभव है ? सबसे बडा प्रश्न तो यही हैं कि, वे आदि किसकी करेंगे? हमनें कितनी आदि करी हैं? सोचो तो बडा लिस्ट बन जाता है। जन्म लेते ही रोने कि शुरुआत की। आँख खोलते ही देखने की, भूख लगते ही खाने की, प्यास लगते ही पीने की शुरुआत की। अब तो बडा लिस्ट है। बोतल छोडी ग्लास में पीने की आदि। खाना शुरु किया। चलना शुरु किया। शिक्षा व्यवस्था की आदि हुई। अभी अभी एक महिला आई कहती थी, बेटी के लिए लडका और बेटे के लिए लडकी देखनी की शुरुआत कर रहे हैं। कहा न मैं ने, बडा लिस्ट बनेगा। फिर भी ऐसा कुछ बाकी है, जिसकी आदि प्रभु करने वाले हैं और वह आदि मात्र भगवंताणं ही कर सकते हैं। अव्यवहार राशी से व्यवहार राशी की यात्रा सिद्ध भगवान कराते हैं परंतु व्यवहार राशी में आनेपर मोक्ष यात्रा की आदि अरिहंत भगवान करते हैं। बहते नदी के प्रवाह में रुलते हुए पत्थर की तरह हमारा काफी समय बीत गया।

ध्यान में लाइए बैसाख महिना है, ऋजु बालुका नदी का तट है। सर्व जीव कें कल्याण के कर्णधार शासन के सूत्रधार ने गोदोहासन में बैठकर ऐसा कुछ किया कि रुलते पत्थर जैसा जीव तट पर आया। भगवान में से निकलते हुये शुभ्रपरमाणुओं नें हममें भगवतसत्ता की आदि कर दी। यात्रा की शुरुआत हो गई। अनादि की खोज की आदि हो गई। हमारा एक बहुत बडा आवरण टूट गया। शास्त्र कहते हैं भगवान के घातिकर्मोंका क्षय हो गया। भगवान के कर्मोंका क्षय हुआ हमारे आत्मधर्म का उद्घाटन हुआ। उद्घाटन करनेवाले तो रिबन काट के चले जाते हैं। परमात्मा उद्घाटन करके हमेशा हमेशा के लिए हमारी विकास यात्रा के आईगराणं बन जाते हैं।

नमोत्थुणं एक आगम है। आगम का अर्थ पता है न आपको ? आगम शब्दकी दो व्याख्याएँ प्रसिध्ध है। १) आ अर्थात आत्मा और गम अर्थात जानना । जो आत्मा के जानने में सहायता करे उसे आगम कहतें है। २) दूसरी व्याख्या है आ अर्थात आप्त पुरुष, अर्थात तीर्थंकर भगवान। ग अर्थात गणधर भगवान और म अर्थात मुनि भगवान। तीर्थंकर भगवानने जो कहा उसे गणधरों ने गूंथा और मुनि भगवंतोने उसे प्रगट किया। इस त्रिपदीय योजना को आगम कहते हैं। आगम का काम आदि और अंत करना है। अरिहंताणं, भगवंताणं और आईगराणं ये तीनों पद मिलकर आगमकी इस योजना में सफलता प्रदान करतें है। स्वभाव के दो प्रकार है। एक सहज और दूसरा उपाधिप्रेरित। आत्मा का चैतन्य यह उसका सहज अनादि स्वभाव है। इसका कभी नाश नहीं होता। यह स्वाभाविकता शाश्वत है अत: इसकी कोई आदि नहीं होती। स्वभाव का दूसका प्रकार कर्माणुं संयोग से संबंधित होने के कारण उपाधिप्रेरित है। इस उपाधिप्रेरित को समाधि प्रेरित करने की आदि हमें करनी है। उपाधि प्रेरित संयोग दु:ख का कारण है और समाधि प्रेरित संयोग सुख का कारण है।

भव का दु:ख है जन्ममरण।
भय का अंत है आत्मविलोपन।
भ्रम का अंत है भ्रांति।

भव भूतकाल की प्रकृति है।
भय वर्तमान की विकृति है।
भ्रम भविष्य की संयुक्ति है। नियुक्ति है।

उपाधिप्रेरित का अंत करना होता है और समाधि प्रेरित की आदि करनी होती है। दु:ख का अंत होने पर सुख की आदि अपने आप हो जाती है। जैसे अंधकार के जाने पर उजाला अपने आप होता है। हमारा प्रश्न है कि परमात्मा आदि किस चीज की करते है ? गणधर भगवंत इसका अद्भुत समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते है परमात्मा हमारे अनंत समाधि सुख की आदि करते हैं, क्योंकि सुख अनेक हैं पर उन सुखों का अंत होता है। हमें अनंत सुख की खोज है और अनंत सुख की आदि है इस लिए उस सुख का नाम **सादिअनंत समाधि सुख** है। सुख के कितने प्रकार आपने सुने होगे। आपने सुख के अनेक प्रदार्थों का उपभोग किया होगा। हमने उन पदार्थों में समाधि को खोजा होगा। कुछ समय के लिए हमने उस में से समाधि पायी भी होगी। थके हुए हो और बैठ गए तो समाधि, भूख लगी हो और भोजन मिल जाए तो समाधि, गर्मी होती हो तो पंखा/ए.सी. चल पडे तो समाधि, इतना तो ठीक है पर सुबह उठते ही पेट साफ हो गया तो भी कहते हैं, हाश! शांति हो गई। पेट खालीं था और भर गया तो शांति थी। आज खाली हो गया तो शांति हैं। हमारी सुख शांति और समाधि निरंतर बदलती रहती हैं। संसार के पदार्थों के गॅरंटी कार्ड हम संभालकर रखते हैं। पदार्थ के खराब हो जानेपर हम कंपनी में उसे ले जाते हैं और सुधारने

और बदलने का प्रयास करते हैं। आपको कई बार ऐसा भी अनुभव हुआ होगा कि कंपनीवालों ने आपका गॅरंटी पिरियड एक्सापायर्ड हो चुका हैं ऐसा कहा होगा। बादमें फ्री सर्व्हीस बंद हो जाएगी। लाईफ टाईम की गॅरंटी कोई नहीं देता। कांच के बरतनों की गॅरंटी कभी नहीं होती। दुकान से नीचे उतरते ही बरतन टूट जावे तो भी दुकानवाला बदल के नहीं देगा। आजकल हमारे प्यार और संबंध भी कांच के बरतन जैसे हो चुके हैं। यह आपके ही अनुभव हैं कि, लाखों रुपये खर्च करके शादि करते हैं। पंद्रह दिन घूमकर वापस लौटते हैं और डायवर्स की तैयारी करते हैं। पंद्रह-बीस दिनों में तो शादि की एक्सापायर्ड डेट आ जाती है।

पदार्थ जन्य सुखों की और स्नेहजन्य संबंधो की डेट एक्सपार्यड हो सकती हैं। आईगुराणं नमोत्थुणं कंपनी के ऐसे मालिक है जो हममें ऐसे अनंत समाधि सुख की आदि करते हैं जिसकी डेट कभी एक्सापार्यड नहीं हो सकती और समाधि सुख भी एक्सापायर्ड नहीं होता। इसीलिए उसे **अनंत समाधि सुख** कहते हैं जिसकी आदि है पर अंत नहीं। एक बार भगवान महावीर ने गौतम स्वामी को कहा कि, संसार में तुम ऐसा घर परिवार देखो की जिसके सुख की आदि हो पर अंत न हो। गौतम स्वामी परिभ्रमण कर वापस लौटकर कहते हैं, भगवन! ऐसा कोई व्यक्ति घर या परिवार मुझे नहीं मिला जिसमें सुख ही सुख था। प्रभु! क्या वास्तव में ऐसा सुख होता हैं? हा वत्स! ऐसा सुख होता हैं। यह सुख हमारे भीतर होता हैं बाहर व्यक्ति या वस्तु में नहीं। घर या परिवार में नहीं।

आज हमे अनंत समाधि सुख देनेवाली भगवतसत्ता को हमारे भविष्य का उत्तरदायित्त्व अर्पित करना हैं। जो हमारे भीतर निरंतर सुख समाधिमय भविष्य का निर्माण करते हैं । जो प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते हैं, बातचीत नहीं करते हैं। हमारी इच्छाओं को जानते हुए भी हमें कोई रिस्पॉन्स नहीं देते है। ऐसी अज्ञात सत्ता हममें कुछ करती हैं ऐसा स्वीकार करना, ऐसा अनुभव करना और उन परिणामों को भीतर प्रगट होते हुए मान लेना आईगराणं के साथ संबंध स्थापित करना हैं। हमारी खोयी हुई वृत्ति व्यक्ति और वस्तु में बदलती हुयी पर्यायों में निरंतर सुख खोजती ही रहती हैं। वस्तुत: यह पर्याय हैं अत: इसमें परिवर्तन होता ही रहता हैं। ऐसा जानते हुए भी हम अनजान रहते हैं। हम पदार्थ जन्य सुख के अनुभवों को कायम रखने का प्रयास करते हैं। वे कायम नहीं रह सकते हैं। जो आज सुखदायी हैं कल या कभी दुखदायी भी बन सकता हैं। जैसे गरमी के दिनों में जो पंखा सुख देता हैं वही पंखा सर्दियों में दुखदायी लगता हैं। पंखा ऐसा क्यों करता हैं? कभी सुख देता हैं तो कभी दु:ख क्यों देता हैं? इसका उत्तर दे सकते हो आप? यदि आपके पास इसका उत्तर नहीं हैं तो आओ आईगराणं इसका समाधान करते हैं। यदि सुख पंखे में ही होता तो ऐसा नहीं हो सकता था। क्योंकि पंखे को चलाते हम हैं वह स्वयं न चलता हैं न बंद होता हैं। जो चलाता हैं या बंद करता हैं उसे सुख दुख का अनुभव होता हैं। अनुभव किसको होता हैं? यदि शरीर को होता हैं तो मृतदेह को भी अनुभव हो सकता था। इसका मतलब देह के भीतर अवश्य ऐसा कुछ देहातीत है जो सुख दु:ख की अनुभूति करता हैं।

ज्ञानी पुरुष इसे आसान करते हुए कहते हैं कि, देह के और आत्मा के भेद को समझने की प्रक्रिया हैं उपयोग और उपासना। वस्तु का उपयोग करो और जीव की उपासना करो। अक्सर संसार में लोग जीव का उपयोग करते हैं और पदार्थ की उपासना करते हैं। वस्तु पदार्थ को सम्हाल सम्हालकर वापरते हैं। उदाहरण के लिए देखिए हम जिस मकान में बरसों तक रहते है हम जितनी बार गिरते हैं हम रोते हैं मकान कभी नहीं रोता लेकिन एक ईंट खिसक जाती है तो भी कौन रोता है ? मकान नहीं रोता हम रोते हैं।

संसार में कई कार्यक्रमों का उद्घाटन होता हैं। परंतु यहाँ तो कोई कार्यक्रम ही नहीं हैं, किसका उद्घाटन होगा यहाँ। न वस्तु हैं न वास्तु हैं न व्यावसायिक प्रतिष्ठान। संसार के उद्घाटन में रिबिन काटनेवालों का ध्यान

विडियो की ओर होता हैं। उन्हें विडियो में रस होता हैं उद्घाटन में नहीं। इस उद्घाटन मे अधिक से अधिक लोग बुलाये जाते हैं। यहाँ तो उद्घाटन में कोई नहीं हैं सिर्फ सिर्फ सिर्फ हमारा **मैं** हैं। उसी मैं में भगवंताणं ने कुछ आदि करनी हैं। कुछ उद्घाटन करना हैं। संसार के उद्घाटनों के मुहुर्त तारीख वार आदि होते हैं। पर हमारे लिए तो हे परमतत्त्व ! तू जिस दिन मेरे भीतर प्रगट होगा और जब मेरे भीतर के भीतर तेरी स्पर्शना होगी तब मनमंदिर के द्वार का उद्घाटन होगा। मैं ने भी प्रभु ! भीतर एक जगह ऐसी रखी हैं जहाँ तेरे सिवा और कोई नहीं आ सका हैं। उद्घाटन करनेवाला उद्घाटन करके कभी खाली हाथ नहीं जाता हैं। कुछ देकर जाता हैं। परमात्मा हमें क्या देकर जाऐंगे? परमात्मा अतुलसुख संपन्न हैं। ऐसा सुख जिसे उपमा नहीं दी जाती। शास्त्रकार कहते हैं,

अउलं सुहं संपत्ता, उवमा जस्स णत्थि उ ।

परमात्मा अनंत समाधि सुख के दाता हैं। ऊर्ध्वगमनके मार्गदाता हैं। भगवती सूत्र में आईगराणं ने मोक्ष मार्ग की आदि के चार प्रयोग बताये हैं -

१. पूर्वप्रयोग, २. बंधच्छेद, ३. तथागति और ४. असंगत्त्व। इसी को चार दृष्टांतों से समझाते हैं। कुम्हारचक्र, एरंडबीज, अग्निशिखा और लेपरहित तुंबी।

प्रथम हम पूर्वप्रयोग को देखते हैं। कुम्हार दंड के द्वारा चक्र को जोर से चलाता हैं। जब वह एकदम चलाना छोड देता हैं तब भी चक्र थोडी देर तक चालु रहता हैं। चलाने की प्रक्रिया बंद करने के बाद भी चक्र के चलते रहने की क्रिया को पूर्व प्रयोग कहते हैं। पूर्वकृत पुरुषार्थ, पूर्वकृत उद्यम, पूर्वकृत प्रयत्न से जीव का उर्ध्वगमन होता हैं मोक्ष होता हैं। अनादिकाल से आत्मा हैं, अनादिकाल से संसार हैं, अनादिकाल से अज्ञान हैं, अनादिकाल से कर्म हैं। ये चार चीजें अनादिकाल से हैं। इसमें प्रथम आत्मा को छोडकर बाकी तीन का अंत करके आत्मा के उर्ध्वगमन की आदि करनी है। बचपन में कभी आपने थाली या कटोरी को गोलगोल घूमाया होगा। घूमाना बंद कर देन के बाद भी थाली या कटोरी थोडी देर तक घूमते रहते है। बचपन में आप भँवरे (rotating toy) से खेले होंगे जो छोड ने के बाद बहुत देर तक घूमता रहता हैं। इसी तरह जीव संसार अवस्था में मोक्ष के लिए बारबार प्रयत्न करता हैं। पुरुषार्थ करता हैं। उद्यम करता हैं। ऐसा करते करते कभी अभ्यास छूट जाता हैं फिर भी संस्कार रह जाते हैं और जीव का ऊर्ध्वगमन शुरु हो जाता हैं। यही ऊर्ध्वगमन मुक्त जीवन का प्रयोग बन जाता हैं। धनुष्य में से छूटा हुआ बाण जैसे अपने लक्ष की ओर सीधा पहुंचता हैं। उसी तरह कर्म मुक्त आत्मा सीधा मोक्ष गमन करता हैं।

दूसरा प्रयोग बंधच्छेद का हैं। ऐरंड का वृक्ष आपने देखा होगा जिसपर ऐरंड के बीज होते हैं। सूर्य की किरणों में सूख जानेपर ये ऐरंड के बीज फटकर, उछलकर बाहर निकल जाता हैं। जब आत्मा की पूर्ण परिपक्वदशा हो जाती हैं तब परमात्मा की कृपा का वह पात्र बन जाता हैं। सूर्य की किरणों में सूखकर ऐरंडबीज जैसे फटता हैं, उछलता हैं वैसे ही परमात्मा की कृपा प्राप्त होनेपर आत्मा कर्म बंधन से मुक्त होकर उर्ध्वगमन करता हैं।

तीसरा प्रयोग तथागति अग्निशिखा का हैं।अग्निशिखा कभी नीचे नहीं जाती उपर उठती हैं। पानी हंमेशा नीचे की ओर जाता हैं परंतु उसे गरम करनेपर भाँप जैसे उपर की ओर चली जाती हैं ऐसा उसका स्वभाव हैं। उसी तरह आत्मा का स्वभाव भी उपर की ओर जाने का ही हैं।

चौथा प्रयोग लेपरहित तुंबी का हैं। मान लिजिए एक तुंबी और एक पत्थर पर मिट्टी का लेप करके पानी में छोड दिया जाए। धीरे धीरे मिट्टी के पिघलने से लेप उतरता जाएगा। पत्थर डूबा रहता हैं पर तुंबी लेपरहित होकर उपर आकर तैरने लगती हैं। पत्थर कभी उपर नहीं आ सकता हैं। इसका क्या कारण हैं? कभी सोचा आपने? ध्यान रहे केवल मिट्टी के दूर होने से ही यदि चीज उपर आती तो पत्थर भी ऊपर आ सकता था परंतु ऐसा नहीं

हुआ। लेप हट जानेपर तुंबी ऊपर आयी क्योंकि तुंबी स्वयं हलकी ही थी। मिट्टी के कारण वह भारी थी। यह हलकापना तुंबी का अपना स्वभाव था। इसीतरह भव्यआत्मा में स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन होता हैं। लेपरहित होते ही वह सहज स्वाभाविक सिद्ध दशा को प्राप्त हो जाता हैं।

पूर्वकथित इन प्रयोगोंसे ये तो निश्चित होता हैं कि, सिद्धत्त्व के सामर्थ्यवाले जीवों का प्रयोग के माध्यम से मोक्ष संभव हैं। ऊर्ध्वगमन उनका स्वयं का स्वभाव है। इस बात का स्वीकार करलेनेपर एक प्रश्न होता हैं जब ऊर्ध्वगमन स्वभाव हैं तो जीव नीचे जाता क्यों हैं? यद्यपी तुंबी के दृष्टांत ने समजाया भी कि, तुंबी में नीचे जाने का कारण लेप हैं और जीव के निम्नगमन में कारण कर्म हैं। आप सोचोगे कि जीव कर्मबंधन करता क्यों हैं? इस गूढ प्रश्न का समाधान करने हेतु ज्ञानीपुरुषोंने कर्मबंध का कारण संगत को माना हैं। असंगता कर्मबंध से निवृत्त करने में सहायक होता है। व्यवहार भाषा का एक सामान्य उदाहरण इसे स्पष्ट करता हैं। आपने अंग्रेजी भाषा में आई शब्द का प्रयोग किया होगा। यह तरह से लिखा जाता हैं - I और i। अब देखिए I अर्थात् मैं। मैं स्वयं में अकेला हैं।मैं एक स्वतंत्र सत्ता हैं। यह मैं समस्त द्रव्यों से भिन्न हैं। अनंतकाल से चैतन्यसत्ता कर्मपरमाणु के साथ रहते हुए भी कभी क्षणवार भी अंशात्मक रुप में कर्ममय नहीं बन सकती हैं। उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्त्व सदा स्वतंत्र ही रहता हैं। वैराग्य बुद्धि में आप कईबार जीव अकेला आया है अकेला जाएगा कोई किसी का नहीं है ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं। मैं के लिए हमेशा बडे I का उपयोग होता हैं। आई के आगे या पीछे एस एन आदि जोडते समय छोटे आई का प्रयोग होता है। हमारा प्रश्न है कर्म बंध क्यों होता है? हमारी स्वतंत्र सत्ता I है। इस I के साथ जब पर की संगत होती है तब वह छोटा बन जाता है। संगत करना कर्मबंध का कारण हैं। लेप के संग से तुंबी डुबती हैं और लेपरहित होनेपर ऊपर तैरने लगती है।

कर्मबंध के चार प्रकार हैं - स्पष्ट, बद्ध, निधत्त और निकाचित।

पहला प्रकार स्पष्ट है। स्पष्ट अर्थात् स्पर्शा हुआ। कभी किसी कारण से कोई स्त्री घर से बाहर गयी हो। घर में बच्चे कैची से कागद आदि काटकर और अन्य पदार्थों से घर में कचरा करते हैं। वह स्त्री वापस लौटकर घर में झाडू लगाकर सफाई करती हैं। इसीतरह आत्मा के उपर कार्मिक रजें सिर्फ छायी हुयी होती हैं। इन रजकणों को सिर्फ भक्तिरुपी झाडू से साफ किया जाता है।

दूसरा प्रकार बद्ध है। दूसरे दिन वह स्त्री बाहर से घर लौटी। उसने देखा आज घर में बारीश के कारण कीचड जम गया हैं सिर्फ झाडु से काम न चलेगा पोछा भी लगाना पडेगा। इसीतरह बद्धकर्म को जो आत्मा के साथ बंधे हुए हैं उन्हें नाम के साथ स्मरण, भक्ति, ध्यान कायोत्सर्ग की आवश्यकता हैं।

कर्मबंधन का तीसरा प्रकार निध्धत्त हैं। तीसरे दिन उसके घर में दूध, घी, तेल आदि से घर चिकना हो गया था। उस महिला ने उस दिन सफाई में साबुन आदि के साथ कमरे की सफाई की। कर्मबंधन के निध्धत्त स्वरुप में कर्मों की बद्धता चिकनाहट के साथ होती है। इसे हटाने के लिए क्रिया-प्रक्रिया के साथ भावनात्मक और प्रयोगात्मक प्रयास होते है। जैसे दूध में नींबू नीचोडनेसे दूध और पानी अलग हो जाते है, उसी तरह क्षमा, आलोचना, तप आदि द्वारा कर्मों को आत्मा से अलग किये जाते हैं।

चौथा प्रकार है निकाचित। इस उदाहरण में घर में पेंटिंग करते हुए रंग आदि से घर को गंदा किया हुआ हैं। कर्मोंके इस प्रकार में इतनी गूढता होती है कि, इनका क्षय नहीं हो पाता है। उन्हें भुगतनाही पडता है। इन कर्मबंधन को भुगतते समय समकितीजीव नये कर्मबंधन से बचने के लिए परमात्मा से समता रखने का सामर्थ्य मागते है।

सामायिक सूत्र में कर्मपरमाणुओं से मुक्त होने के लिए चतुष्करण प्रयोग दिया गया है। ये चार करण इस प्रकार हैं -

१. उत्तरीकरणेणं :- उत्तरीकरण से स्पष्ट कर्मोंका नाश होता है।

२. पायच्छित्तकरणेणं :- प्रायच्छित्तकरण के द्वारा पच्चक्खाण बद्धकर्म को साफ करने में पोंछा लगाने का काम करता है।

३. विसोहिकरणेणं :- विशुद्धिकरण के इस प्रयोग में तप, जप, आदि रुप साबु के द्वारा आत्मा की विशुद्धि होती हैं।

४. विसल्लिकरणेणं :- इसमे निकाचित कर्मोंका पुन:बंध न हो इसके लिए मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य को हटाया जाता है।

कर्मबंध से रहित होने के विविध प्रयोगों के द्वारा जैसे जैसे कर्म शिथिल होते जाते है वैसे वैसे जीव में समाधि सुख की शुरुआत होती जाती है। आपने सुख शब्द का प्रयोग कई बार किया हैं। आईगराणं में सुख के पूर्व समाधि शब्द का प्रयोग होता है। केवल सुख और समाधिसुख में क्या अंतर है ? केवलसुख क्षणिक होता है शाश्वत नहीं। आज सुख है तो कल दुख भी हो सकता है। जैसे पंखा गरमिंयों में सुख देता है तो सर्दियों में वह दु:खदायी लगता है। क्योंकि सुख-दु:ख की यह व्याख्या पुद्गल जन्य हैं। समाधि सुख में आत्मजन्य परिभाषा इसकी वास्तविकता को खोलती है। सुख पंखे में नहीं है। सुख देह में भी नहीं है क्योंकि मृतदेह के साथ पंखे का सुख-दु:खदायी संबंध नहीं है। सुख आत्मा की संवेदना है। देह और आत्मा भिन्न है। आत्मा की उपस्थिति से देह में सुख-दु:ख की अनुभूती होती है। साक्षीभाव से इस संवेदना को समझाने की आदि है आईगराणं।

प्रवास के समय आपको हजारो साधु-साध्वीयों की मुलाकात होती है। गरमी के दिनोंमें सामान उठाकर विहार करते समय उन्हें देखकर आप गाडी से उतरते हैं, वंदन करते हैं और एक जैन पारिभाषिक शब्द का प्रयोग करते हैं, **आप सुख शाता में हैं ?** क्या हैं ये सुख और शाता? सुख के साथ जब शांति आती हैं तब शांति के स्थानपर शाता शब्द का प्रयोग होता है। तपश्चर्यां में भी तपस्वियों को शाता पूछी जाती हैं।

सुख के साथ शाता और शांति दो शब्द लगते है । दोनो भिन्न शब्द लगने से सुख की व्याख्या भिन्न लगती है। हमने शांति को इतना कोमन बना रखा है कि जिस में शरीर को सुख मिले तो हमारी आत्मा को शांति मिलती है और शरीर को दु:ख होता है तो आत्मा को अशांति, आकुलता, व्याकुलता हो जाती है । शाता में ऐसा नहीं है । शाता में शरीर और आत्मा की दोनों प्रकार की व्यवस्था में एक बहुत बडा अंतर है । जैसे साधु-साध्वियों को विहार में इन्द्रियजन्य दु:ख होते हुए भी वे दु:ख की संवेदना से मुक्त रहते हैं। संयमजीवन के आनंद में आत्मजन्य संवेदना का अनुभव देता है सुख और शांति। इसीलिए सुख शाता पूछनेपर वे कहते हैं, आनंद है मंगल है। आनंद शब्द उनके भीतर से निकलता है। कभी तो बेठकर सोचो इतनी गर्मी में इतना चल रहे फिर भी आनंद मंगल कैसे हो सकता है? और आप उन्हें सुख शाता पूछते है इसका मतलब सुख शाता शांति इसकी व्याख्याओं में कही न कहीं कोई बहुत बडा राज है । इतना तो स्वीकार लो । आप जैन हो तो सुख किस में है इसको तो खोजो। यदि आपको उपलब्धि नहीं होती है तो आईगराणं से आदि करालो। संज्ञाशील हो, संज्ञा को प्रछन्न करो, खोलो। गणधर भगवंत से प्रज्ञा लो। जिनेश्वर भगवान की आज्ञा का स्वीकार करो।

संज्ञा, प्रज्ञा और आज्ञा इन्हें समझना जरुरी हैं। जैसे कि एक चींटी को चीनी, शक्कर की खुशबु आती है और वह उस दिशामें चलना शुरु कर देती है । चींटी संज्ञा के आधारपर शक्कर के पास पहुंचती है। तो वह यह देखकर तो नहीं जाती कि मेरा मार्ग मेरा रास्ता अवरोध वाला है या नहीं है । अेक्सीडन्ट हो सकता है कि नहीं हो सकता है । ऐसा सोचकर वह नहीं जाती वह तो बस सिर्फ चली जाती है चाहे वह रास्ता लोगों के चलने का हो , चाहे

गाडियों के चलने का हो वह सीधी सीधी खूशबु की ओर चल पडती है । अेक्सीडन्ट होता है और उसकी जीवन लीला समाप्त हो जाती है। इसको कहते है प्रज्ञारहित आहारसंज्ञावाला जीव ।

आहासंज्ञा मानव को भी होती है। वह भी किसी खाद्य सामग्री को पाने के लिए इधर उधर जाता है।वह प्रज्ञा के साथ जाता हैं। वैसे पदार्थ का संज्ञा और प्रज्ञा से कोई संबंध नहीं हैं। परंतु प्रज्ञा संज्ञापर नियंत्रण करती हैं। वह संज्ञा को रोक नहीं सकती हैं परंतु उसका मार्गदर्शन अवश्य करती हैं। वह उसे समझाती हैं, तुम पदार्थ के पास जाओ उसका उपयोग करो परंतु उसे पाने के लिए तुम्हें लालायित नहीं होना चाहिए। लालसा खतरा हैं केवल मात्र संज्ञा के आधारपर भगोगे तो तुम गिर सकते हो। तुम्हे कोई वाहन टकरा सकता हैं आदि आदि..।

तीसरा हैं आज्ञामयी संबंध। आज्ञामयी संबंध में उपदेश, आदेश और संदेश सबकुछ आता हैं। जैसे माँ बच्चे को गरम दूध को नहीं छूने की आज्ञा देती हैं। सर्दी जुखाम होनेपर गोली, टॉफी या आईस्क्रीम नहीं खाने देती हैं। इसतरह हमारी सुख और साता प्रज्ञा और आज्ञा के द्वारा वहन होती हैं। इसी कारण वह पवित्र होती हैं। एकतरह से वह एक ऐसा प्रोडक्शन हैं जो पुन: पुन: पवित्रता को पैदा करता रहता हैं।

चार गतियों में घूमने के कारण हमें सुख की व्याख्या का पता नहीं चला। चींटी के भव में जब हम एक शक्कर की डली मिल गई तो उसमें सुख था । एक शक्कर की डली में सुख हो सकता है ? मानव भव पाया, पांच सात वर्ष के बच्चे हुए और एक टॉफी किसीने दे दी तो उसमें भी सुख मिला। बडे होनेपर मिठाई में सुख मिलने लगा। जीव ने पदार्थों में सुख ढूंढने की कोशिश करता हैं कि जगत के पदार्थ मुझे सुख देंगे, शांति देंगे, समाधान देंगे। फिर चाहे एक साइकिल भी क्यों न हो। जब साइकिल ली तो साइकिल में सुख हुआ। पर बडे होने पर मर्सिडीस कार लेंगे तभी सुख महसूस होगा। पता नहीं आप किस किस में सुख ढूंढ रहे हो? यदि पसीना होने में दु:ख है, गर्मी लगने में दु:ख है तो आप हमें सुख शाता क्यों पूछते हो। कभी ब्रो दु:ख शाता पूछो। आप जानते है पसीना होता है गर्मी होती है दु:ख होता है । पंखा चलता है तो सुख होता है । आप ही जैसे हमारे पुद्गल है ना । आप ही जैसे लोगों से दिया गया है ना। औदारिक ही देह है ना । यह बॅक्रिय और आहारक शरीर तो नहीं है कि जैसा मर्जी रुप बना लेंगे । आपको गर्मी में दु:ख होता हे तो हम साधु साध्वियों को गर्मीयों में सुख कैसे हो सकता है ?

यह कोई सुख नहीं है तो आईगराणं हमारे भीतर कौन से सुख की आदि करेंगे और वह कौन सा सुख होता है ? जिस सुख का हमें संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य बनने के बाद अनुभव होता हैं। हम अपने सुख की जिस आदि को ढूंढ रहे हैं उस आदि को , उस परम तत्व के सिवा कोई नहीं दे सकता । जिसको कहा जाता है सुख को देखने से नहीं मिलता, सुख को समजने से नहीं मिलता, सुख को पढने से नहीं मिलता । हम अब उस बात पर सोचेगें कि जिस सुख की प्राप्ति के बाद पसीने मे तर भगवान महावीर का एक श्रमण कहता है हां जी आनंद है, प्रसन्नता है।

संसार का कोई पदार्थ , संसार की कोई व्यक्ति, संसार का कोई माध्यम ऐसा नहीं है कि जो दु:ख का अंत करके सुख की आदि करे। यही कारण रहा कि देह और आत्मा के भेद विज्ञान को समज लेने के बाद दु:ख में भी सुख की शाता होती है। धूप में चलना, प्यासा रहना, पसीने से तर हो जाना ये सब दु:ख के कारण है परंतु हम सुख शाता पूछते है तो संत मुस्कुराकर कहते है सुख शाता है। भेद विज्ञान के द्वारा परमात्मा सुख शाता की आदि करते हैं। यही आदि सिद्धि की सफलता और मोक्ष का मार्ग बनती है। जिसके अत:करण में सुखशाता की आदि हो जाती है उसकी वाणी में सुख शाता प्रगट हो जाती है। उसके आत्मानंद का विमोचन हो जाता है। समाधि की सस्पर्शना हो जानेपर व्रत की प्रतिपालना होती है। एक छोटे से पचक्खाण में भी **सव्वसमाहिवत्तियागारेणं** शब्द का प्रयोग इसी कारण होता है कि पचक्खाण पालन में सर्व समाधिभाव का होना आवश्यक है।

आदि अर्थात् प्रारंभ। इसे महत्त्वपूर्ण इसलिए माना जाता हैं कि, जिसका प्रारंभ महत्त्वपूर्ण होता है उसका मध्य और अंत भी महत्त्वपूर्ण होता है। जैसे आपने देखा होगा कि, कौरस में गानेवालों में गीत प्रारंभ करनेवाला महत्त्वपूर्ण होता है। इसमें गीत प्रारंभ करनेवालें की लय और राग महत्त्वपूर्ण होता है। लय जैसी होती है कौरस की सरगम उसी लय में प्रगट होती है। नमोत्थुणं की लय नमोत्थुणं शब्द से शुरु होती है और उसकी लयबद्धता आईगराणं में समाकर सिद्धालय में संपन्न होती हैं।

आइए अब हम हमारे भीतर आईगराणं पद की स्थापना करें। तित्थयराणं पद में प्रवेश करें। हमारे निज्रतीर्थ में तीर्थंकर को आमंत्रित करें। नमोत्थुणं के द्वारा अनंत गणधरों का हमें अनुग्रह प्राप्त होता है। सुख देते है तीर्थंकर परमात्मा,

शाता उपजाते है गणधर भगवंत और सुख और शाता पूछते है शक्रेन्द्र भगवान । अब हम उस सुख शाता की अनुभूति करने के लिए दो मिनिट का बिल्कुल सीधे बेठ कर नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं, नमोत्थुणं आइगराणं पद के द्वारा आइगराणं परमात्मा को अपने नमस्कार देकर उनको मन ही मन प्रार्थना करेंगे अंत तो तू करने वाला है विश्वास है तो आदि भी तू ही कर देना । परमात्मा हममें दु:ख का अंत और सुख और शाता की आदि कैसे करते है इसका अनुभव करें ।

...नमोत्थुणं आईगराणं...
...नमोत्थुणं आईगराणं...
...नमोत्थुणं आईगराणं...

तित्थयराणं

जो भीतर के राग-द्वेष-कषायादि शत्रुओं का अंत करते है वे अरिहंत ।
जो भव, भय, भ्रम और भ्रमण का अंत करते है वे भगवंत ।
जो अनंत समाधि सुख की आदि करते है वे आईगराणं ।
जो अनंत समाधि सुख को देता है वह तीर्थ ।
जो अनंत समाधि सुखमय तीर्थ देते है वे तीर्थंकर ।
जो तीर्थ में हमें प्रवेश देकर मोक्ष तक ले जाने तक साथ देते है वे तीर्थंकर ।

परमात्मा हमें दो योग देते है। सिद्धांत योग और जीवन योग। सिद्धांत योग से हमें तत्त्व मिलता है और जीवन योग से तीर्थ। इसतरह हमें प्रभु से प्रदत्त दो भेंट है - तीर्थ और तत्त्व। तत्त्व की दृष्टि से देह और आत्मा अलग है ऐसा तो भारत के सभी धर्म-दर्शन कहते है परंतु देह में रहकर देहातीत होने की कला तो तीर्थ में ही समझी और पायी जा सकती है। तीर्थ और तीर्थंकर को समझाते हुए भगवती सूत्र में कहा है,

तित्थं भंते! तित्थं, तित्थगरे तित्थं ?
गोयमा!अरहा ताव णियमं, तित्थगरे, तित्थं पुण चाउव्वण्णाइण्णे समणसंघे।
तं जहा-समणा, समणीओ, सावया, साावियाओ।

हे भगवन! तीर्थ को तीर्थ कहते है या तीर्थंकर को तीर्थ कहते है?

हे गौतम! अरिहंत अवश्य तीर्थंकर है किंतु तीर्थ चार प्रकार के वर्णोसे युक्त श्रमणसंघ है जैसे साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका। तीर्थ में भक्ति है और तत्त्व में विरक्ति है। शक्रेन्द्र ने एकबार कहा, इन दोनों मे हमसे सिर्फ भक्ति हो पाती है। हम कहा विरति धर्म का पालन कर सकते है। इसी दृष्टि से मानव हमसे श्रेष्ठ है। आचारांग में इसी कारण कहा है - **"तच्चं चेयं तहा चेयं अस्सिं चेयं पवुच्चइ"** - तीर्थ तत्त्व-सत्य है, तथ्य है (तथारुप है), अस्तित्त्व यहीपर स्पष्ट होता है, प्रतिपादित होता है। तत्त्व, तथ्य और अस्तित्त्व जहॉ रहते है वहॉ तीर्थ है। जिसमें बैठकर परमात्मा देशना देते है उसे समवसरण कहते है। गणधर भगवंत जहॉपर बैठकर धर्मदेशना देते है उसे गुरु सभा कहते है। परमात्मा की देशना पूर्ण होने पर उनके चरणासन पर बैठकर गणधर भगवंत परमात्मा की देशना को विस्तार से समझाते है। किसी के मन में कोई प्रश्न हो तो उसका समाधान करते है। जहॉ आचार्य बैठकर धर्म प्रवचन करते है उसे हम दरबार कहते है। उपाध्याय जहॉ बैठकर जीवों को बुझाते है उसे उपाश्रय कहा जाता है। साधु-साध्वी जहॉ बैठकर श्रोताओं के अत:करण में परमात्मा-देवगुरु धर्म का स्थान बनाते है उसे स्थानक कहते है। इन सभी मे तीर्थ निहित है।

जहॉ दो-तीन नदियों का संगम होता है उसे तीर्थ कहा जाता है। यहॉ तो साधु-साध्वी, श्रावक-श्रविका रुप तीर्थस्वरुप नदियां बहती है। इसमें जन्मो जन्म की थकान दूर होती है। आश्रवों से स्लथित, थकित, भव्य आत्माओं का यह विश्राम स्थल है। तीर्थ के लिए जो यात्रा की जाती है उसे तीर्थयात्रा कहते हैं। गणधरों से प्रणिपात सूत्र प्राप्त

किया। शासन प्रेमी शक्रेन्द्रों से शक्रस्तव की साधना पायी। नमोत्थुणं सूत्र के द्वारा परमात्मा को नमस्कार किया परंतु फिर भी हम यहाँ पर क्यों है ? आज भी कितनी तीर्थयात्राए होती है। क्यों नहीं मिलता है यात्राओं का फल? इन सारे प्रश्नों का एक ही उत्तर है। यात्राए तो होती है। तीर्थ की स्थानिक स्पर्शना होती है। कभी कभी तो स्थानिक स्पर्शना भी अजीब सी होती है। स्थानपर उतर कर स्थान का स्पर्श कर स्नान, भोजनादि से निवृत्त होकर यात्री बाजार मे माल-सामान खरीदने या स्वजनों से मिलने इधर उधर हो जाते है। कई बार यात्रा के वाहन बस आदि उन्हें छोडकर आगे निकल जाते हैं। जब तक तीर्थ में आत्मिक स्पर्शना नहीं होती और तीर्थ के अधिष्ठाता तीर्थंकर की परम भक्ति आत्मसात् नहीं हो पाता। तब तक तीर्थ यात्रा फलित कैसे हो सकती है।

तीर्थ का प्रभाव अचिंत्य हैं। तीर्थ निर्माण से भगवान ऋषभ देव के साथ ४,००० पुरुषों ने दीक्षा ली थी। भगवान मल्लिनाथ के साथ ३०० पुरुषों ने दीक्षा ली थी। भगवान पार्श्वनाथ के साथ भी ३०० लोगों ने दीक्षा ला थी। भगवान वासुपुज्य के साथ ६०० पुरुषोंने दीक्षा ली थी। अन्य १९ भगवानों के १,००० पुरुषोंने दीक्षा ली थी। केवल भगवान महावीर ने ही अकेले दीक्षा ली और अकेले मोक्ष में गए।

तीर्थ की स्थापना करने से पहले भगवान महावीर गोदोहासन में बैठे थे। इस मुद्रा में पाँव की दसों अंगुलियों का जमीन से स्पर्श होता है। जानते हो परमात्मा ने जब इस मुद्रा में कैवल्य पाया वह स्थान था ऋजुबालुका नदी का तट। मतलब जिस नदि के तट की बालू अत्यंत ऋजु अर्थात नरम थी। क्या सोचते हो आप क्या वह तट भगवान के लिए आरामदायी डनलोप जैसा था? कभी प्रयोग तो करके देखो पता तो चले कि कितना मुश्किल है। ऐसी परिस्थिति में ध्यान करते हुए प्रभु में केवलज्ञान प्रगट हो गया। सर्वज्ञान सर्वदर्शन प्रगट हो गया। हाथ की हथेली में रखे हुये पदार्थ की तरह प्रभु में लोकालोक को देखने का सामर्थ्य प्रकट हो गया। मेरा प्रश्न है आपसे केवलज्ञान के बाद परमात्मा ने सबसे पहले क्या देखा होगा? क्या किया और क्या बोला?

किसी की शादी का एक आलबम आपके हाथ में आवे। एक के बाद एक तस्विर को देखते हुये आप आगे निकल जाते है। सोचो कहाँपर अटकते हो आप? उस आलबम में जहाँ जहाँ आपकी तस्विर है वहाँ वहाँ आप अटकते हो रुकते हो, झाँकते हो। देखते हो स्वयं को मै कैसा लगता हूँ। दर्पण में जब आप स्वयं का चेहरा देखते हो तब आपके चेहरे के साथ साथ दर्पण में अन्य पदार्थ भी दिखायी देते है। सच्चाई से बोलिए आप क्या-क्या देखोगे? सोचते है आप पदार्थ तो वैसे भी देख लेंगे। दर्पण में स्वयं को देखा जाता है। सोचो अब आप परमात्मा ने क्या देखा होगा? आत्मा में झलकते हुए आत्मा के दर्पण में परमात्मा ने स्वयं के आत्म स्वरुप को देखा। भीतर प्रगटते हुए अजस्त्र आनंद से अखिल ब्रम्हांड को भर दिया। आनंद को समाने के लिए जहाँ एकसाथ सब आनंद को प्राप्त कर सके उसके लिए तीर्थ करा और तीर्थंकर कहलाए। तीर्थ में योग्य शिष्यों को गणधर पद देकर त्रिपदी रुप तत्त्वत्रयी की संपूर्ण विश्व को अद्भुत भेंट दीं। यह त्रिपदी है - **"उप्पन्ने इ वा, विगमे इ वा, धुवे इ वा।"** अर्थात् समस्त विश्व के पदार्थ उत्पन्न होते है। नाश होता है। स्थिर भी होते हैं। तीर्थंकरनामकर्म के उदय का प्रभाव ही ऐसा है कि उनसे उच्चारित इन पदोंका श्रवण गणधर शिष्यों के श्रुतज्ञानावरण कर्मों के क्षयोंपशम कराने में जबरदस्त निमित्त

बनता है। क्षयोपशम होते ही विश्व के धर्मास्तिकायादि षडद्रव्य और उनकी पर्यायें प्रकट हो जाती हैं। उनकी यथार्थता को सफल रुप देते हुए तीर्थंकर भगवान कहते है - **"द्रव्य-गुण-प्रर्याय से मैं तीर्थ की अनुज्ञा देता हूँ।"** अर्थात् अब आप यह आगम अन्यों को बोधान्वित करो। संबोधिदो ज्ञान और स्वाध्याय के रुप में प्रगट करो।

स्वयं को देखते देखते केवलज्ञान प्राप्त कर परमात्मा संपूर्ण ब्रह्मांड को देखते हैं। स्वयं को जानना साधना का प्रथम और अंतीम साध्य है। जो स्वयं को जानता है वह जगत् को जानता है। **जो एगं जाणई सो सव्वं जाणई, जो सव्वं जाणई सो एगं जाणई।** जगत् को जानकर तीर्थंकर तीर्थ की प्रतिष्ठा करते है। जिस वृक्ष के नीचे परमात्मा को केवलज्ञान होता है वह अशोक वृक्ष के उपर लगता है। उसे चैत्य वृक्ष कहते है। उस वृक्ष का महत्त्व इस लिए है कि केवलज्ञान होते ही तीर्थंकर प्रभु तीर्थ रचना का आयोजन बनाते है। तीर्थ का महत्त्व इस लिए है कि तीर्थंकर चले जाते है पर उनका तीर्थ हंमेशा रहता है। तीर्थंकर प्रभु स्वयं समवसरण में पधारकर देशना देने से पूर्व चैत्य वृक्ष को तीन बार मंत्रोच्चर के साथ प्रदक्षिणा देते है। प्रदक्षिणा करते समय प्रभु **"णमो तित्थस्स"** मंत्र का उच्चारण करते हैं। ऐसा प्रभु क्यों करते हैं आपको प्रश्न होगा ? परमात्मा इसका समाधान करते हैं तीर्थ शास्वत है। हमारे निर्वाण के पश्चात् भी तीर्थ रहता है। इस लिए तीर्थ को नमस्कार हो।

तीर्थ को नमस्कार कर सिंहासनपर बिराजकर परमात्मा नाभि चक्र से ॐ का उच्चारण करते है। इस ध्वनि को सुननेवालों की मनोकामना पूर्ण होती है। मन में उठे प्रश्नोंका समाधान होता है। योग्यता के अनुसार संदेश प्राप्त होते है। परमात्मा की नाभि में लय होती है, स्वर में लय होती है और संदेश में भी लय होती है। ये तीनों लयें त्रिवलय बनकर परमात्मा के सातों चक्रों को प्रदक्षिणा करती हुई संपूर्ण ब्रह्मांड में व्याप्त हो जाती है। मार, मरकी, स्वचक्री-परचक्री, दुर्भिक्ष-दुकाल आदि सब भय इस लय में समा समाप्त हो जाते हैं।

जो तिराता है वह तीर्थं है। जो डुबते हुए को बचाता है वह तीर्थ है। शासन सदा तीर्थंकरों का होता है। अनुशासन सदा छद्मस्थों का होता है। केवलज्ञान के बाद भगवंत अनुशासन नहीं करते हैं। इसीलिए गौतम स्वामी के केवलज्ञान हो जाने पर उनकी उपस्थिति होनेपर भी सुधर्मा स्वामी कों शासन सम्हलाया गया था। तीर्थ प्रवाह है उसमें तीर जाना है। परमात्मा के चरणों में समर्पित हो जाना होता है। जिनको तीरना आता है वे स्वयं को प्रवाह में प्रवाहित कर देता है। जो प्रवाहित हो जाता है उसे हाथ पांव को अधिक सक्रिय नहीं करना पडता है। उसे शांति से आराम पूर्वक स्वयं को केवल मात्र प्रवाह में सर्मपित और प्रवाहित करने की आवश्यकता है।

तीर्थंकर तीर्थ करते क्यों है ? सभी जीवों का अतिंम जब मोक्ष है तो, तीर्थ क्यों बनाते हैं। उसका समाधान शास्त्रकार इसतरह कहते हैं -

अणुलोम हेऊ तच्छीलिया ।।

तीन कारण से तीर्थंकर भगवंत तीर्थं की स्थापना करते है। पहले अनुलोम। परमात्मा की सभा में सभी तरह के लोग रहते है। सभी स्त्री-पुरुष, अनपढ-पढे हुए, विद्वान-पण्डित आदि सब तरह के श्रोता रहते हैं। उन सब के बीच में परमात्मा जब देशना देते हैं, वह देशना समान रुप से परिणत होती है। लोम अर्थात् रोम और रोम के साथ अनु शब्द लगा दिया। अर्थात् वारंवार। अर्थात् प्रत्येक प्रदेश में। जो परमात्मा की सभा में आते हैं उन सब के प्रति

लोगों को परमात्मा की स्पर्शना होती है। किस चीज की स्पर्शना होती है? किस चीज को छूने की बात की है यहाँ ? आप जब सामायिक करते है उसके समापन में कहते हैं - **"समकाएणं न फासियं न पालियं न तिरियं न कित्तीयं ..... तस्स मिच्छामि दुक्कडं।"** यहाँ कहने का तात्पर्य यह है की स्पर्श न किया हो, पालन न किया हो आदि आदि तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं अर्थात स्पर्श होना आवश्यक है। यहाँ आठ स्पर्शोवाले स्पर्श का कथन नहीं है। या आत्मस्पर्शना का कथन है। आत्मस्पर्शना न होना एक दोष है और उसी दोष के निवारणका मिच्छामि दुक्कडं है। मिच्छामि दुक्कडं आलोचना की बहुत बडी कडी है। मोक्ष की मंगलमय आरती है। दो शब्दों में संपूर्ण निवृत्ति का विधान है। स्पर्शना न होने के कारण यह केवल मात्र शाब्दिक अभिव्यंजना रह जाता है।

राजस्थान में खमतखामणा करने का ऐसा रिवाज था। छोटे लोग बडे लोगों के पास जाते थे। एकबार राजस्थान का कोई व्यापारी अपने गाँव से पाली में किसी काम के लिए पहुंचा हुआ था। पाली में पहुंचते ही संवत्सरी का दिन आ गया। उसने वहीपर पाली में ही पौषध कर लिया प्रतिक्रमण भी कर लिया । समूह में बैठ कर पारणा भी कर लिया फिर सोचा गाँव जाने की गाडी शाम को ५-६ बजे है तो सोचा मेरा ससुराल यही पर है । सासु धापीबाई भी अभी यहीपर आयी है। उसे मिल भी लूं और उनकी बेटी की तरफ से खमतखामणा भी कर लू। ऐसा सोचकर वह सासु मॉ के यहॉ पहुंचा। खमतखामणा सा! बोलते हुए घर में प्रवेश किया। अचानक जवाईं को घर के आंगन में देखकर सासु मॉ घबरा गई। जीमने का टाईम है। मैं ने तो सिर्फ पतीली में दलीया बनाया है। इसे थूलि भी कहते है। जिसमें मनचाहा घी, गुड अथवा शक्कर डाल कर खाया जाता है। अचानक जवाई को आए देखकर पहले तो उसने घूंघट निकाला। घूंघट में से देखते हुए बोलने लगी। अरे कॅवर सा आज कांय आया दूजा किसा दिन आवता तो मैं थाने जिमावती भी अने इस टाइम में आया कि मै काई बणा भी ना सकू। बोले कोई बात नहीं माताजी आपने अपने लिए जो बनाया उसमें से दो कवे खा लूंगा। ये तो मैं किसी काम से आया था। अनायास संवत्सरी आ गई तो सोचा प्रत्यक्ष खमतखामणा कर लूँ और आपको आपकी बेटी की खबर भी दे दू। उसके भी मिच्छामि दुक्कडं दे दू। तो सासु को लगा कि जमाई आए है तो जमाई को कुछ देना भी पडेगा। खिलाना भी पडेगा। जमाई ने कहा आपको मेरी कसम है आपने मेरे लिए कुछ बनाया तो। जो आपने बनाया उसीमें से आपके साथ बैठकर दो कवें खा लूंगा। बताईए आपने अपने लिए क्या बनाया। सास कहती है मैंने तो अपने लिए थुली बनाई है। चिंता मत करो मै थूलि खा लूंगा। आप भी ये घूंघट वूंघट हटाइए। इन सब का जमाना गया। आप तो मेरे साथ बैठिए आराम से परोसीए। मै भी दलीया ही खाऊंगा। तो सासु बोलती है ठीक है और कोई चीज नहीं बनानी पडेगी। सासु अंदर जाती है गर्म-गर्म थुली निकालती है। थाली में परोसकर जवांई के पास रखकर फिर घी लाने जाती है। राजस्थान में घी के बडे सिस्टम रहते है। जिसमें घी रखते है उसे घिलोडी कहते है उसमें एक नालछा लगा रहता है जिसमें से घी परोसा जाता है। घिलोडी में घी गर्म करके सासु मां रखती है और पूछती है, कॅवरसा दलिया रा साथे काई चाले, गुड या शाकर? बोले माता जी कुछ भी चलेगा जो तैयार हो वो ले आओ। जमाई ने सोचा घी कैसा है ? थोडा देखुं तो सही उसने घीलोडी को हाथ की ओर झुकाया तो मुश्किल से घी की दोन बूंदे टपकी। सोचा क्या रुकावट है देखूं तो

सही क्या अटकता है। उसने घिलोडी खोलकर नालछे में छोटी अंगुलि डालकर देखा तो अंदर घी ज्यादा न निकले इस हेतु एक रुई का फोहा रखा हुआ था। उसने फोहा निकाल दिया और घिलोडी ढककर रखकर चुपचाप बैठ गया। राजस्थानी महिलाओं को गाने का बडा शौख होता हैं। कोई भी काम करे जैसे जवाई को खाना खिलाती, गा के खिलाती है। उन्होंने घी की कुलछी पकडी सासुमां ने गीत गाया -

घी ने थूली रो सादो जिमन किधो कवर सां ।
मिच्छामि दुक्क्डं देवे सासु जमाई आज ।।

सासु मॉ आई बोली लो कॅवरसा बैठा काई घी तो डालो चलो मैं ही डालती हूं ऐसा कहकर उसने घिलोडी उलटाई। पता क्या हुआ? सारा ही घी जमाई की थाली में गिर गया। उसे गलती की क्या हुयी पता न लगा। गलती ढूंढने से तो घी का सही उपयोग कैसे करुं यह सोचने लगी।

सासु सोच रही थी। जवाई ने पूछा, माँ क्या सोचते हो? बोले आपने साथ खाने को कहा। हमारे पाली में जमाई के साथ बैठकर खाना खावे ऐसा रिवाज नहीं है। आप तो जमाने के सुधरे हुए हो। शहर से आए हो इसीलिए आप मुझसे आग्रह करते हो तो ठीक है मैं आपके साथ ही बैठकर ही खा लूंगी और ऐसा कहकर पूरा दलिया थाली में डाला और गाना गाते हुए थाली में लकीरे खिंचने लगी ताकि घी अपनी तरफ आ जाए -

होली ने नही आया कवर सा याद किया था थाने,
रवाजा गुंजारी कियो कडावो दिवाली रे माहें,
थाने याद किया ने आंसू ढलक्या कंवरसा... मिच्छामि दुक्क्डं....

न आपं बेटी को लाए न होली में न दिवाली में आए । जमाई बडे पहुँचे हुये थे क्योंकि वो आए थे अजमेर से। अजमेर का दामाद पाली में आया उसने कहा माताजी! दुख न लगावो। चिंता की कोई बात नहीं। आपके जैसा गाना तो नही आता पर थोडा बहुत गा सकता हूं ऐसा कहते हुए उसने साकर, घी और थूलि को थाली में गोलगोल घुमा दिया ताकि सारा घी थूली में समा जावे। सब पूरा लिक्वीड सा हो गया। और गाने लगा -

होली दीवाली भले नी आयों छंमछरी मनाऊं आज ।
दुख पावो तो थानी बेटी रा सोगन थाने आज.... मिच्छामि दुक्कडं ।

माजी ! मै भले ही होली में नहीं आया दिवाली में नहीं आया पर आज छमछरी पूरी आपके साथ अच्छी तरह से मनाता हूँ। हमारे कोई भी व्यवहार से आपको दु:ख लगे तो आपको अपकी बेटी की सौगंध हैं ऐसा कहकर थाली मुह को लगायी और पुरी घी सहित की थुली एक साथ पी गया। सासु मां अंदर के अंदर तो वाकई में रो रही थी। ऐसे भी मिच्छामि दुक्कडं होते है। समाज के इस शिष्टाचार के प्रति जाग्रत होकर आत्मस्पर्शना के मिच्छामि दुक्कडं होने चाहिए।

तीर्थ का दुसरा हेतु है तत्शीलता। परमात्मा कृतकृतार्थ है। शक्तिमय सामर्थ्य संपन्न है। तीर्थंकर नामकर्म के कारण तीर्थ करते हैं। तीर्थ के द्वारा तत्त्व की प्रभावना करते हैं। एकबार परमात्मा का अपार वैभव देखकर गौतम स्वामी को किसी महाशय ने पूछा था, क्या तीर्थंकर को ही ऐसा वैभव होता है? गौतम स्वामी ने कहॉ, हॉं। समवसरण आदि की रचना करने वाले देवों के इन्द्रों से पुछो तो जान पाओंगे वे स्वयं कहते है बिना तीर्थंकर

परमात्मा के हम ऐसा नहीं कर सकते है। सभा में किसी ने पूछा तो क्या भगवान बनने का ठेका इन्होंने ही ले रखा है? गौतम स्वामी ने कहा नहीं ऐसी कोई बात नहीं है। स्वयं भगवान ने ही एकबार कहा था कि तीर्थंकर बनने के सिर्फ बीस ही कारण है। बीस में से किसी एक कारण की भी साधना करने से तीर्थंकरत्त्व प्राप्त होता है।

अरिहंत सिद्ध पवयण गुरुथेर बहुस्सुएतवस्सिसु, वच्छलयायतेसिं अभिक्खणाणोवओगेय।
दंसण विणय आवस्सएय सिलवएनिरईयाए, खणलव तवचियाए वेयावच्चे समाहिए।
अपुव्वणाणगहणे सुयभत्तिपवयणे पभावणया, एएहिं करणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो।।

इन बीस कारणों से तीर्थंकरत्त्व की प्राप्ति होती है।

तीर्थ का तीसरा कारण है हेतुता। जगत के कल्याण करने के हेतु से जो तीर्थ का निर्माण करते हैं उन्हें तीर्थंकर कहते है। सब के भीतर स्व को प्रगट करते है। स्व में सत् को प्रगट करते हैं। तीर्थ अर्थात् सद्धर्म की स्थापना। परमात्मा के शासन का हेतु है अबोधता से मुक्त करना। हम कोई भी क्रिया करते है थक जाते है। थकान उतारने हम हिलस्टेशन जाते हैं। देवलाली भी तो आप लोग विश्राम करने आते है। यहाँ दस बजे प्रवचन शुरु होता है तो भी कुछ लोग दोपहर को आकर कहते है, हमें सुबह वाला प्रवचन सुनना है ओर कुछ सुनावे उन्हें मंजुर नहीं। सुबह का प्रवचन वहीं प्रवचन दोपहर कैसे हो सकता है? उनसे ऐसा कहने पर कहते है, हम यहाँ विश्राम करने आये है। तो हम कहते है फिर विश्राम करों। तो कहते है, हम सो-सो कर भी थक गए है। कितना आश्चर्य है थकते है तो सोते है यह तो ठीक है परंतु जो सो-सो कर भी थकते है, उसका क्या करना?

एकबार मैं सुबह की गौचरी के लिए किसी के यहाँ गयी थी। सुबह ७-७:३० का समय होगा। साथ के भैया जी ने दरवाजा नोक किया। दरवाजा खुलते ही आँख मसलते हुए एक भाई ने स्टील की पतीली बाहर निकाली यह समझकर कि दूधवाला भैया दूध देने आया है। कैसे समझाए इनको दूध देने नहीं दूध लेने आए हैं। फिर सामने देखकर शरमा गए। दोनों को समझ नही आ रहा था कि सोरी कौन कहें? मैं या भाईसाहब? भीतर से धर्मपत्नी ने आकर कहाँ, पधारो आहार पानीका लाभ दो। मैं ने कहा, मुझे पता नहीं था कि आप लेट उठते है तो मैं नहीं आती। बहन ने कहा, ऐसी कोई बात नहीं ऊठ तो हम जल्दी जाते हैं पर आज ही लेट हुआ। सहज ही मैं ने पूछ लिया कब ऊठते है आप? सुबह होते ही। सुबह कब होती है? बच्चे ने का स्कुलबस आनेपर। भाई साहब ने कहा पेपर आनेपर। बहन ने कहा दूधवाले के आनेपर। मुझे आश्चर्य हुआ। एक घर में तीन सुबह कैसे हो सकती है!

तीर्थ हमें सुबह कब होती है ? जागरण क्या होता है? ऊठ कर क्या करना चाहिए ? जिससे तन, मन, धन और पर्यावरण, वातावरण सब शुद्ध रहे इसकी कला शिखाता है इसीकारण चतुर्विधसंघ को तीर्थ कहते है। तीर्थ पदार्थों का यथोंचित प्रतिपादन करता है। प्रत्येक तीर्थिक के आत्मा में उसका वास होने से ये चैतसिक है। वस्तुत: परमात्मा का तीर्थ **"सव्वपावप्पणासणो"** सर्व कर्मो से मुक्त करने में सहायक होते है।

आइए इस मंगलमय तीर्थ में -

यहाँ है विषय-कषायरुप शत्रुओंका अंत करनेवाले अरिहंत।
यहाँ है भव-भय-भ्रम और भ्रमण का अंत करनेवाले भगवंत।

यहाँ है सादि अनंत समाधि सुख की आदि करनेवाले आईगराणं।
यहाँ है मोक्षदायी मंगलमय तीर्थ के प्रणेता तित्थयराणं।

तीर्थ करनेवाले तीर्थंकर हमारे अंत:करण में पधार रहे है। हमारे अंतरभवन में पधारकर परमप्रभु तीर्थंकर किस तरह हममें हमारा ही स्वयं का संबुद्धत्त्व प्रगट करते है? कल हम इस तैयारी के साथ यहाँ तैयार रहेंगे।

आखे बंद करे नमोत्थुणं तित्थयराणं को अपने अंत:करण में आमंत्रित करे। सन्मानित करे। स्वयं के भीतर तित्थयराणं मंत्र के साथ प्रवेश करे।

नमोत्थुणं तित्थयराणं नमोत्थुणं तित्थयराणं नमोत्थुणं तित्थयराणं

नमोत्थुणं - सयंसंबुद्धाणं

स्व में स्व को जानना सयंसंबुद्धाणं है।
स्व से स्व को जानना सयंसंबुद्धाणं है।
सर्व के स्व को जानना सयंसंबुद्धाणं है।
सर्व में स्व को प्रकट करना स्वयंसंबुद्धाणं है।

*स्व ने स्वयं का स्वयं द्वारा, स्वयं के लिए स्वयं से स्वयं के स्वयं में **प्रगट** होना सयंसंबुद्धाणं है।*
*स्व ने स्वयं का स्वयं द्वारा, स्वयं के लिए स्वयं से स्वयं के स्वयं में **प्रवेश** करना सयंसंबुद्धाणं है।*

स्वयं का स्वीकार करो, स्वयं से ही प्यार करो।
वह स्वयं तुम्हारे साथ है, तुम स्वयं स्वयं के साथ रहो।
तू स्वयं का अनुदान है, तू स्वयं समाधान है।

तू स्वयं इन्सान है, तू स्वयं भगवान है।
तू स्वयं की शोध और तू स्वयं का बोध है।
तू स्वयं से संदिग्ध है, तू स्वयं मे उपलब्ध है।

तू भले अवरुद्ध है पर तू सदा अनिरुद्ध है।
तू भले अबुद्ध है पर तू स्वयंसंबुद्ध है।
तू शुद्ध है, तू बुद्ध है, तू स्वयं संबुद्ध है।

ऑखें बंद करे। गहरी गहरी लंबी-लंबी धीमी-धीमी सांसों के साथ भीतर प्रवेश करे। आइए भीतर आइए। स्वयं में प्रवेश कीजिए। देखिए भीतर भगवान है। सुनिए भगवान क्या कहते हैं - वत्स ! स्वयं के भीतर प्रवेश कर, अनुभव कर जो प्रतिपल, प्रतिक्षण भीतर प्रवाहित हो रहा है। अनुभूत हो रहा है। उसका अनुभव कर। तू तेरे से जितना नजदीक है उतना नजदीक विश्व में ओर कोइ नहीं हो सकता। सर्वात्ममें समदृष्टि तेरा स्वभाव है। परिघ में जो भी बनता है बनने दे। तू केंद्र में स्थिर रह। जाग्रत और संबुद्ध रह। इस स्थिति में आने के लिए मैं भी **सयं पवेसिया जाई -** मैं ने स्वयं में प्रवेश किया क्योंकि स्वयं ही अनन्य हैं। अन्य सब अन्य है। स्वयं में आने के लिए अनन्य को ही देखना है अनन्य में ही रहना है और अनन्य में ही रमण करना है। क्योंकि,

जो अणण्णदंसी से अणण्णारामी,
जे अणण्णारामी से अणण्णदंसी ।

जो अनन्य (स्वयं) को देखता है वह स्वयं में रहता है। जो स्वयं में रमण करता है वह स्वयं को देखता है। अत: वत्स! **अप्प दीवो भव**। स्वयं ही स्वयं के दीपक बनो भीतर से स्वयं का आलोक प्रगट करो। अन्य के बारे में

मत सोचो। तुम्हारे आलोक में समस्त विश्व आलोकित हो जाएगा। तुम्हारा शुद्ध स्वभाव विश्व का प्रभाव बन जाएगा। अत: शुद्ध बनो। बुद्ध बनो। स्वयं संबुद्ध बनो। वत्स! इतना जानो - हम स्वयं है। हमारा अपना स्वयं हैं। हमारा स्वयं ही स्वयं की समृद्धि है। स्वयं से संसार का प्रारंभ होता है, स्वयं से ही संसार का विस्तार होता है और स्वयं से ही स्वयं का मोक्ष होता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में स्वयं को समृद्ध करने का सामर्थ्य होता है। वत्स! इतना जानो हम स्वयं है। हमारा अपना स्वयं है। हमारा स्वयं ही स्वयं की समृद्धि है। स्वयं से संसार का प्रारंभ होता है, स्वयं से ही संसार का विस्तार होता है और स्वयं से ही स्वयं सी स्वयं का मोक्ष होता है।

सयंसंबुद्धाणं

परमात्मा से हमें तित्थयराणं पद में दो योग प्राप्त हुए - सिद्धांतयोग और जीवनयोग। इसी को तात्त्विक भाषा में तत्त्व और तीर्थ कहा जाएगा। तत्त्व से सिद्धांतयोग प्राप्त हुआ और तीर्थ से जीवनयोग। तित्थयराणं पद में तीर्थ का महत्त्व देख चुके जहाँ पानी के बिना प्यास छिपती है, बिना भोजन के भूख मिटती है, बिना सोये आराम मिलता है। निरंतर समवसरण का संन्निधान, निरंतर परमात्मा का निदिध्यासन निरंतर देशना श्रवण। परमात्मा का एक स्वघोष -

सयं सयय सयं

तुम स्वयं सतत स्वयं के साथ रहो। **अप्पणा सच्चमेसेज्जा -** स्वयं को खोजो और स्वयं में खो जाओ। स्वयं को जानना मोक्ष का मार्ग है। तू स्वयं मोक्ष स्वरुप है। तू स्वयं परमात्मा है। तेरा शास्वत स्वरुप, तेरा भगवत स्वरुप तुझ में ही है तू उसे प्रगट कर।

सयं संबुद्धाणं पद के द्वारा गणधर भगवंत हमें यही कहते है, वत्स! स्वयं के सिवा परमात्मा के पास ओर कुछ मत मांगो। अनादि काल से तुम्हारा स्वयं तुमसे खो चुका है। उसे खोजो न मिले तो उसे प्रभु से मांगो। तुम्हारा स्वयं जितना तुमसे नजदीक है उतना तुम्हारे नजदीक विश्व में कुछ भी नहीं है। आश्चर्य तो इस बात का है कि, मनुष्य जितना दूर का देख सकता है उतना नजदीक का नहीं। चाँद पर पहुंचे गॅगरीन को जब पूछा गया चाँद पर पहुंचकर तुमने सबसे पहले क्या देखा? पता है उसने क्या कहा ? उसने कहा, मैं ने चाँद पर से सर्व प्रथम मेरी धरती देखी जो बहुत ही सुंदर थी। धरती का ऐसा सौंदर्य पहले मैं ने कभी नहीं देखा। है न आश्वर्य की बात। धरतीपर रहकर धरती कभी न देखी, धरतीपर से देखा चाँद और चाँद पर से देखी धरती। मानव को दूर का देखने की आदत है। स्वयं के नजदीक आओ। स्वयं के भीतर जागो। स्वयं से सुंदर विश्व में कुछ नहीं है इसका अनुभव करो। स्वयं में ही स्वयं के स्वयं (भगवान) के दर्शन होंगे।

स्वयं से अतिरिक्त विश्व में सबकुछ पर है। पुद्गल के साथ का हमारा संबंध कैसा है। हमारा प्रभाव अधिक है या पुद्गल का प्रभाव अधिक है? जिस जमीन पर कुछ नहीं होता है उस प्लॉट पर तुम प्लान बनाकर उचा-नीचा आडा-खडा मकान बना लेते हो। तुम मकान खडा कर सकते हो पर क्या कभी उस मकान में तुम गिर पडो तो क्या

मकान तुम्हें खडा करेगा? मकान गिरे तो तुम रोते हो पर क्या तुम गिरो तो मकान रोता है? चैतन्य और पुद्गल की विलक्षणता को जानते हुए भी आप सर्वथा अनजान हो जाते हो। चैतन्यशील आत्मा की यह कैसी दुर्दशा है? अमूल्य समृद्धि से भरपुर चेतन दो पैसे की मिरची लाता है। स्वाद बनाने के लिए खाता है। बायचान्स मिरची तीखी लगती है। खाई तो मुँह में, गई तो पेट में पर दिमाग गरम हो गया। नाक घुरघुराया। ऑखों में पानी आ गया। पूरी चेतना डिस्टर्ब हो गयी। एकेन्द्रिय मिरची ने सज्ञिपंचेन्द्रिय ने परम ऐश्वर्य स्वरुप आत्मा को सहज रुला दिया। एकेन्द्रिय को चार प्राण और पंचेन्द्रिय को दस प्राण। चार प्राण वाले नें दस प्राण को रुला दिया। जाने दो चारप्राण वालों की बात सब्जी काटते हुये हाथ में छुरी लग जाए, शेवींग करते हुए ब्लेड से कट लग गया, शैर करते हुए पाँव में छोटी खिली चुभ गई बताओ क्या होगा? निर्जीव लोहे का टुकडा चेतना को कितना हतप्रभ करता है। जगत् में पदार्थ असीम है। किसी पदार्थ की ताकत नहीं, सोच भी नहीं कि हम काटे या चुभे पर परमाणु जब कम हो जाते है तो वह शक्ति संपन्न बन जाते है। परम + अणु = परमाणु यह कितना भी धमाका करे फिर भी चेतनाशील आत्मा के सामने नाचीज है। यदि यही परम अणु का त्याग कर आत्मा के साथ जुड जाता है तो परमात्मा बन जाता है। परमाणु से अलग होते ही चेतना का अनंत साम्राज्य शुरु हो जाता है। परमाणु की ताकात इतनी है तो परमात्मा की ताकात कितनी हो सकती है? परमाणु यदि हमें इतना प्रभावित कर सकता है तो परमात्मा हममें कितना कुछ कर सकते हैं - **अचिंतसत्तिजुत्ता हि ते भगवंतो वीयरागा** - परमात्मा अचिंत्य शक्ति से युक्त है, क्योंकि वे वीतराग भगवान हैं।

एक महिला जो माँ है दूध गरम कर रही है। अचानक नीचे से बच्चे की रोने की आवाज आती है। बच्चे समूह में खेल रहे है। अनेक बच्चों में से एक बच्चे की रोने की आवाज उसने सुनी। आवाज पहचानी रोनेवाला मेरा **स्वयं** का बच्चा है। बताओ मुझे माँ गॅस पर का दूध देखेगी या रोता हुआ बच्चा? आप भी माँ है बताइए क्या करोगे? भगेगी, दौडेगी, शिघ्र बच्चे के पास जाती है देखती है खेलते खेलते बच्चा गिरा है। बारिश के कारण कीचड से सन गया है। नहा धोकर कडक साडी में पार्टी में जाने तैयार माँ खडी रहकर कीचड से सने हुए रोते हुए बच्चे को देखेगी या तुरंत ऊठाकर गले लगा लेगी ? अनंतकाल से अनादि संसार के कीचड में खेलते रहे, गिरते रहे, रोते रहे। ऐसे ही कभी परमस्वरुप विश्वमाता, जगत् जननी ने आवाज सुनी और कीचड से सने हुये हमें उठाया, गले लगाया, साफ किया और सयं संबुद्धाणं के शिशे में हमें स्वयं का सौंदर्य दिखाया। स्वयं के स्वरुप के दर्शन कराये। प्रारंभ में ही आपने सुना है-

स्व ने स्वयं का स्वयं द्वारा, स्वयं के लिए स्वयं से स्वयं के स्वयं में प्रगट होना सयंसंबुद्धाणं है।

आप उलझ गये ना यह सुनकर ? आप सोचोगे ये स्व स्व स्व क्या है? यहाँ स्वयं के सिवा कुछ नहीं है। केवल स्वयं के एक ही शब्द से स्वयं को प्रगट करने की शैली सयं संबुद्धाणं है। स्व ने स्व को जानना है, किसके द्वारा ? किसी ओर के द्वारा नहीं। स्वयं के ही द्वारा स्वयं को जानना है। किसके लिए स्वयं को जानना है? स्वयं के लिए स्वयं को जानना है। किससे जानना है? स्वयं से। किसमें जानना है? स्वयं के स्वयं में । एक अकेला स्व सात विभक्ति

कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, संबंध और अधिकरण इसतरह सात भाग में बंट चुका है। सात में बंट जानेपर भी स्वयं अकेला है। हर व्यक्ति का अपना स्वयं होता है। चाहे हम परमात्मा के समवसरण में भी हो हम परमात्मा के अकेले भक्त है। स्वयं बहुत बलवान है। स्वयं स्वयं भगवान है। स्वयं केवल अव्यवहार राशि में अप्रगट होता है। व्यवहार राशि में प्रगट होकर वह बलवान हो जाता है। स्वयं की एक सहज व्यावहारिक परिभाषा है जैसे, हम कहते है, **मैं ने खुद अपनी ऑखों से देखा।** इसमें खुद जो है वह स्वयं है। प्रत्येक व्यक्ति का **स्वयं** अपना होता हैं। आप सोचोगे कैसे समझे हम स्वयं का उपयोग। स्वयं को समझते हुये भी हम नासमझ है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि हम कभी भी स्वयं को अपने निज स्वयं से नहीं देखते हैं। इसी कारण हमें हर दुसरों में गलती नजर आती है। इस स्व को समझाने के लिए परमात्मा सयं संबुद्धाणं बनकर प्रत्येक स्व में प्रगट हो गए।

जन्मजन्मांतर से मैं अस्तित्त्व में हूँ परंतु साक्षी में नही हूँ। सयं संबुद्धाणं हमारी चेतना में स्फुरणा लाते हैं और कहते हैं, तू जो भी कर स्वयं की साक्षी में रहकर कर। प्रयोग कर के देखो निरंतर सयं संबुद्धाणं आपके साथ हैं और वे निरंतर आपको साक्षी में रहने का सुचन देते हैं। कर्म करो या धर्म करो साक्षी में रहकर करो। जिस दिन प्रयोग सिद्ध हो जाएगा आपका साधना में प्रवेश हो जाएगा। आप स्वयं एकदम अप्रतिम हो जाओगे। परमात्मा कहते है, इसी का नाम समकित है।

सयं संबुद्धाणं पद से हम परमात्मा को नमस्कार करते हुये हमारे स्वयं के संबुद्धत्त्व को प्रकट करने की जिम्मेवारी देते हैं। जैसे की परमात्मा हमारे लिए अर्लाम क्लॉक हो गये। हमारा समर्पण तो श्रेष्ठ है परंतु व्यवहार जीवन में हमारी मूर्छा इतनी अधिक है कि रात को सोते वक्त घडी में अर्लाम हम ही सेट करते है और अर्लाम बजते ही हम उसे बंद कर पुन: सो जाते हैं। इसीलिए कहा जाता है, अर्लाम समयपर घंटी बजाकर जगा तो सकता है पर मुँह पर ढंकी चर खोलकर आदमी को ऊठा नहीं सकता है। हम भी सयं संबुद्धाणं का अर्लाम बजा सकते हैं पर न जगते हैं न जगाते हैं।

परमात्मा को केवलज्ञान होने के पूर्व च्यवन जन्म आदि कल्याणक अवसर पर शक्रेन्द्र महाराज नमोत्थुणं से नमस्कार करते हैं क्योंकि परमात्मा तीन जन्मपूर्व ही सर्व जीवों के लिए मोक्ष की कल्याण कामना करते हुए तीर्थंकर नामकर्म का निकाचन करते हैं। जन्म से ही तीर्थंकर को तीन ज्ञान होते हैं। तीन ज्ञान अनेक जीवों को होते हैं परंतु परमात्मा के तीन ज्ञान संबुद्धत्त्व के साथ होते हैं। भगवान महावीर जब मा के गर्भ में थे तब मा को पीडा न हो इसकारण स्वयं के शरीर को गर्भ में संकुरित करके हिलना डुलना बंद कर दिया था। गर्भ की धडकन, कंपन आदि का अनुभव न होने के कारण मोहवश माता विचलित हो गयी। इस विकल्प को समझकर प्रभु ने माता के अनुरुप बरतना शुरु किया। जन्म के बाद शक्रेन्द्र भगवान को अभिषेक के लिए जब मेरु पर्वत के पंडग वन पर ले गए तब जलाभिषेक के पूर्व इन्द्र के मन में आया इतना छोटा बच्चा ठंडे जल का अभिषेक कैसे सहन कर पाएगा? स्वयं संबुद्ध परमात्मा ने इन्द्र के मन की बात को जान लिया। तुरंत ही उन्होंने पॉव के अंगूठे से मेरु पर्वत को हिला दिया। पर्वत के कांपते ही इन्द्र भी भीतर से कांप गए। तुरंत ही भगवान की क्षमा मांगी। भगवान ने परावाणी के स्त्रोत में

कहा, शक्रेन्द्र! हमारे प्रति आपका विश्वास मेरु पर्वत की तरह अडग होना चाहिए। आपकी आस्था नि:शंक होनी चाहिए। मेरु पर्वत का कंपन तुम्हारे विश्वास के कंपन के साथ तालमेल रखता है। तुम्हारा विश्वास शासन का विश्वास है। इन्द्र यदि तुम शंका करोगे तो शासन की सुरक्षा कैसे करोगे? इन्द्र का विश्वास क्षणवार कंपित हुआ था उसके उत्तर में भगवान ने मेरु पर्वत कंपा दिया। आज हमारा शासन के प्रति विश्वास कितनी बार कंपित होता है? सयं संबुद्धाणं पद से तीर्थंकर और गणधर भगवंत हमें बारबार जाग्रत करते है और कहते है, वत्स! तू कौन है? कहॉ जाना है इसकी खोज कर।

बडी मुश्किल से मेहनत करके बडा डोनेशन दे कर के बच्चे को स्कुल-कॉलेज में एडमिशन दिलाने के बाद बच्चे यदि पढेंगे नहीं तो आपको कितनी पीडा होंगी। परमात्मा ने अपने जीवन की तीन जन्म हमारे लिए डोनेशन में दिए, पर हमने क्या किया? शासन की अवहेलना की या आदर किया? सोचो? यदि परमात्मा हमारे बारे में न सोचते तो उनका उसी भव में मोक्ष हो जाना था। ध्यान है न आपको? नंदनऋषी के भव में मासखमण पचखाते हुए गुरु ने शिष्य से प्रश्न किया था, वत्स! इतनी विशुद्ध तपश्चर्या के बाद भी तेरा मोक्ष क्यों नहीं हो रहा है? कौनसी इच्छा? कौनसी वांछा? कौनसी मनसा? तेरे मन में है? तब शिष्य ने कहा, प्रभु! कुछ नहीं बस केवलमात्र सर्व जीव को शासन प्रेमी बनाने की इच्छा है। जब एक ग्लास पानी देखता हूँ तो ऐसा मन करता है कि मेरा चले तो पानी के इन सभी जीवों को मोक्ष ले चलु। तीन भव पूर्व की प्रभु की इस काम्मना ने हमें सयं संबुद्धाणं मंत्र की उपासना के अधिकारी बनाए।

आज हम स्वयं को ही भूल रहे है। संस्कृत में दशम न्याय करके एक कथा आती है। एकबार दस घर में से एक-एक आदमी नदि पर नहाने के लिए गये थे। जाते समय उनको सूचना दी गई थी कि नदी में बाढ आई है सब सम्हलकर जाओ और सब एकसाथ वापस लौटो। उन्होंने वैसे ही करते हुये वापस लौटते समय घाटपर एक शयाने आदमी ने कहा, देखे तो सही कि हम सभी है तो सही कोई बाकी तो नहीं रहा। उसने गीनती करने के लिए सब को लाईन में खडे रखे और गिनती करने लगा। एक से नव तक गिनती होते ही लाईन खतम हो गई दस में से एक कहाँ गया? उसको घबराहट होने लगी। नव में से एक ने कहा, तुझे गिनती ठीक से नहीं आती तु लाईन में आजा मै गिनती करता हूँ। इसतरह सभी ने सब को गलत ठहराते हुये दस बार गिनती की। हर वक्त नव आने के कारण कोई तो भी एक मर गया है ऐसा मानकर मुंह पर कपडा ढंककर रोने लगे। इतनें में एक पंडित जी वहॉ से निकले पूछा, क्यों रोते हो? कौन मरा? उन्होंने सब कथा सुनाई। पंडित जी एक ही नजर में सब भांप गए। उन्होंने कहा, चलो मैं सब ठीक करता हूँ। सब को लाईन में खडे किये और गिनती की पूरे दस होते ही सब खुश हो गए। पंडित जी का धन्यवाद किया। गांव में शोर मचाया पंडित जी बहुत उंची चीज है मरे हुए को वापस ला सकते है। पंडित जी की पूजा शूरु हो गई। पंडित जी ने मन ही मन सोचा मैं ने तो कुछ किया नहीं केवल सही गिनती कर दी। वे स्वयं को नहीं गिनने के कारण गलत गिनती करते थे। सर्व धर्म यहीं समझाते हैं कि, स्वयं को समझो, स्वयं को देखो, स्वयं को पहचानो, स्वयं को नहीं गिनने पर सारी गिनतियाँ गलत ठहरती है।

भरतचक्रवर्ती जब सारे आभूषण उतारने लगे तो उनको तैयार करनेवाले ब्यूटिशीयन ने कहा, महाराज! क्या कर रहे हो आप? केवल एक अंगूठी नहीं पहनाने की गलती पर आप नाराज हो गए। महाराज! मुझे क्षमा करो। भरत जी ने कहा, तुम्हारी कोई गलती नहीं है, मुझे तैयार करनेवाला बदल गया। उसने कहा, मेरी जगह कौन ले सकता है? भरत ने कहा, तू मुझे बाहर से तैयार करता था, आज मुझे वह मिल गया जो मुझे अंदर से तैयार करता है। आज मैं तीन चीज देख रहा हूँ। अंगूठी, भरतचक्रवर्ती का शरीर और उसे आईने में देखनेवाला। शरीर पर लगे हुये आभूषणों को धारण तो शरीर करता है पर उस शरीर को देखने वाला है कौन? कौन देखता है इस शरीर को? आभूषणों को देह सुशोभित करता है या देह को आभूषण सुशोभित करते हैं। वस्तु का मूल्य अधिक है या मॉडेलिंग करनेवाले का? भरतचक्रवर्ती सयं संबुद्ध हो गए। आईने में देखते-देखते केवली भगवान हो गए।

कौशांबिक नगरी के महाराजा शतानीक की बहन श्रमणोपासिका जयन्ती, जो जैन इतिहास में जिज्ञासामूलक प्रश्न करनेवाली स्त्रियों में प्रमुख स्थान रखती थी। उसने एकबार प्रभु से पूछा था, प्रभु! जीव प्रसुप्त (सोये हुये) अच्छे है या जाग्रत? भगवान महावीर ने कहा, जो व्यक्ति धर्मनिष्ठ, बलवान और उद्यमी है वे जाग्रत अच्छे है। जो आलसी है वे प्रसुप्त अच्छे हैं। भगवती सूत्र का यह कथन यही समझाता है कि जो सोयेगा वही तो जागेगा। जो जाएगा वही तो पाएगा। परंतु सोना भी तो आना चाहिए। यहा कितने लोग ऐसे हैं जिन्हें बिना औषधि के नींद आती हो।

हमारे बडे म.सा. एक बहुत अच्छी बात कहते थे कि, सोना मिलता है तो सोना चला जाता है। एक कहावत कहते थे,

सोना तू तो बडा चुगल्ला,
तूने हमको ख्वार किया,
तू तो बैठा रंगमहल में,
हमको चौकीदार किया।

हमारी दैहिक सिस्टम सोने के साथ चार अवस्थाओं में बांटी जाती है। पहली है निद्रावस्था - ज्ञानी, अज्ञानी सोते सब है परंतु सब के सोने और जगने की व्यवस्थाए अलग है। इसलिए गीता में कहा है, जगत् जब सोता है तब ज्ञानी जगते है अर्थात् जब ज्ञानी जगते है तब जगत् सोता है। नरसिंह मेहता ने कहा है,

जागीने जोऊं तो जगत् दिसे नहीं, ऊंघ मा अटपटा भोग भासे।

दूसरी है स्वप्न अवस्था - निद्रा में जो दिखता वह स्वप्न है। स्वप्न के भी दो प्रकार है। निद्रा स्वप्न और दिवास्वप्न। जगत् निद्रास्वप्न को तो स्वप्न मानता है परंतु दिवास्वप्न को सत्य मानना बहुत बडी गलती है। वह भी एक स्वप्न हैं। साक्षी भाव में रहने से दोनों स्वप्न के भेद और भ्रम टूट जाते हैं।

तीसरा है सुषुप्ति अवस्था - जब स्वप्नावस्था टूट जाती है। जैसे की देखने को कुछ बचा ही नहीं हैं। नाटक पूरा हो गया सब घर लौटने लगे। मॉ ने बच्चे को उठा लिया। उसे जगाने लगी, लोरी गाने लगी। किसी पूछा था, अभी कुछ समय पहले तो जब बच्चा खेल रहा था तूने पीठ थपथापकर लोरी गाकर सुला दिया और अब उठा क्यों

रही हो? मॉ ने कहा, अब बच्चे का जगना जरुरी है क्योंकि शयन स्वप्न है और जागरण जीवन है। जो सोता है वही जगता है। जिसे सोना ही नहीं आता वो जगेगा क्या।

शास्त्रकारों ने जाग्रत पुरुषों की तीन कॅटेगरी बताई है। पहले वे ज्ञानी पुरुष जो जगत के सब जीवों को शासन प्रेमी बनाकर मोक्ष ले जाने की भावना रखते हैं वे तीर्थंकर होते है। दुसरे जो अपने स्वजन संबंधी, मित्र आदि सब परिचित जीवों को मोक्ष तक पहुंचाने की जीम्मेवारी लेते है वे गणधर होते है। तीसरे वे जो स्वयं साधना करते है और स्वयं मोक्ष जाते है वे सामान्य केवली होते हैं।

इन्द्र से पराजित होते हुए दशार्णभद्र राजा जब भगवान महावीर के चरणों में मस्तक झुकाते हैं तब भगवान ने उन्हें ऐसा क्या कहा था की भगवान ने कहा, "भद्र ! स्व में आओ स्व में जाग्रत हो जाओ। संबुद्ध हो जाओ। जिसे तुमने अपना ऐश्वर्य माना है वह सिर्फ पदार्थ मात्र है। वह जगत् का है और जगत् में ही रहेगा। न तुम्हारा हैं न तुम्हारे साथ जाएगा। तुम्हारे भीतर तुम्हारा अपार वैभव है। जिस वैभव के साथ इन्द्र कभी प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता। सत्त्व संपन्न होकर अंतर्वैभव को देखो। स्वयं संबुद्धत्त्व तुम्हारा धर्म है।"

दशार्णभद्र राजा की चेतना जग गई। जन्म जन्म के अंधारा टूट गया। जीवन में एक ऐसा सूरज उगा जिसने हमेशा के लिए अंधेरे को छेद दिया। संबुद्धत्त्व धर्म को पाकर दशार्णभद्र का मस्तक प्रभु चरणों में झुक गया। शर्मिंदा करने आये हुए इन्द्र स्वयं शरमा गए। गदगदित होकर इन्द्र ने प्रभु को बधाई दी विरती धर्म की जयघोषणा हुयी। सयंसंबुद्धाणं ऐसे होते हैं। स्व को भेदते है। स्व को जगाते है। सबको संबुद्ध करते हैं। चलो हम भी सयं संबुद्धाणं होने के लिए -

नमोत्थुणं सयं संबुद्धाणं. . . .नमोत्थुणं सयं संबुद्धाणं. . . .नमोत्थुणं सयं संबुद्धाणं. . . .

नमोत्थुणं - पुरिसुत्तमाणं

जो व्यक्त होने पर भी अव्यक्त रहते है वे भगवान है।
जो अव्यक्त रहनेपर भी व्यक्त होता है वह इन्सान है।
जो व्यक्त में अव्यक्त हैं वे भगवान है।
जो अव्यक्त में व्यक है वह इन्सान है।

भगवान भगवत् सत्ता में व्यक्त हैं, प्रगट है फिर भी हमेंशा अव्यक्त रहते है, अप्रगट रहते हैं, छिपे रहते हैं। इतने छिपते हैं कि कभी तो वे है ही नहीं ऐसी अनुभूति होती हैं। कईबार उन्हें खोजते खोजते हम खो जाते हैं। पुरिसुत्तमाणं पद में दो शब्द है पुरुष और उत्तम। पुरुषोंमे उत्तम पुरुष को नमस्कार हो। पुरुष की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार कहते हैं, पुर अर्थात नगर श अर्थात शयन करने वाला। पुर शब्द पर से जयपुर, जोधपुर, नागपुर आदि शहरों को पुर शब्द लगता है। हमारा शरीर एक नगर हैं। जिसमें रहने वाला आत्मा जब शरीर के साथ एकत्त्व स्थापित करता है तब मुर्छित रहता है। जो संबंध, स्थिति और हरकत शरीर में होती है वह मुझे अर्थात् आत्मा को होती है ऐसा माना जाता है। जब आत्मा संबुद्ध होती है, जाग्रत होती है तब उसे देह के साथ भिन्नता का बोध हो जाता है । इस बोध का होना उत्तमता का सूचक है। स्वयं का स्वयं पर नियंत्रण होना तीनो लोकोंपर उत्तमता का सूचक है।

सोते हुए तो हमने अन्यों को कई बार जगाये परंतु परमात्मा कहते है इस देह के भीतर परमतत्त्व सोया हुआ है। भगवत्सत्ता सुषुप्त है। उस छीपी हुई भगवत्सत्ता को जगाना है। अस्तित्त्व को व्यक्त करना है। जो स्वयं में व्यक्त होकर अन्य को व्यक्त करता हैं वे पुरुषोत्तम हैं। व्यक्त होना अर्थात् साक्षात्कार होना। अस्तित्त्व का स्वीकार हो जाना। हमारा नमस्कार उनको हो रहा है, जिनका साक्षी का स्वीकार हो गया। भक्तामर में कहा है, **"व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ।"** हे भगवन् ! व्यक्त हो जाने के कारण आप पुरुषोत्तम हो। नमस्कार महामंत्र में पंचपरमेष्ठि भगवान की स्वरुपसाक्षी है। नमो में हमारी अस्तित्त्व साक्षी हैं। नवकार मंत्र जो रोज गिना जाता है, उसी में साक्षी को खोजोगे तो कठिन लगेगा। नवकार मंत्र में परमेष्ठि भगवान पांच हैं। क्या इसमें कही आप हैं? नवकार मंत्र में आपका स्थान कहाँ है बताओगे? लगता हैं ना आपको मैं गलत हूँ? मुझे यह पूछना चाहिए था कि नवकार मंत्र में आप हैं या नहीं? आप स्तब्ध हो गए। बचपन से आप यही सोच रहे ना कि नवकार मंत्र में सिर्फ पांच परमेष्ठि भगवान हैं, हम नहीं हैं। आज पुरुषोत्तमाणं पद के माध्यम से मुझे आपको नवकार मंत्र में एडमिशन दिलाना हैं। आपका आईकार्ड चाहिए।

नवकार मंत्र में नमो शब्द पांच बार आता हैं। यह शब्द किसके लिए वापरा जाता है? अरिंताणं अरिहंत के लिए, सिद्धाणं सिद्ध के लिए ऐसे पांचों पद स्वतंत्र हैं। नमो शब्द किसके लिए वापरा गया? नमो अर्थात नमस्कार कौन करता है? हम करते हैं ना? तो नमो शब्द हमारा पर्याय हुआ या नहीं? आप तो स्वयं का अस्तित्त्व स्वीकारते ही नहीं हो। यद्यपि नवकार मंत्र में पंच परमेष्ठि भगवान एक-एक बार है और आप पांच बार हो। स्वयं शब्द से साक्षी

रहते हुये भी अस्तित्त्व से अव्यक्त हो जाते हो। नमो में स्वयं के साक्षी भाव का स्वीकार करो। स्वयं की साक्षी बनोंगे तो भगवान का साक्षात्कार होगा। चाहे नवकार मंत्र हो, लोगस्स सूत्र हो या भक्तामर सूत्र हो। पहले आपको अर्थात भक्त को साक्षी रुप में प्रगट होना पडेगा। आप स्वयं साक्षी बनोगे तब भगवत्सत्ता का साक्षीत्त्व व्यक्त होगा।

कतृत्त्वपक्ष में हम अनायास **मैं** से जुड जाते हैं। मैं और मेरा इन दो कारणोंमें हमारा मैं फंस गया हैं। पहले तो मैं का ऑपरेशन करके उसे इस मेरेपन से मुक्त करना होगा। मेरेपन से मुक्त होकर शुद्ध होगा तभी वह परमपरात्मा पुरुषोत्तम को पहचान पाएगा। आनंदघनजी ने अच्छा कहा हैं, **"धार तलवार नी सोहिली, दोहिली चौदमा जिन तणी चरणसेवा"** परमात्मा की उपासना तलवार की धारपर चलने से भी अधिक कठिन हैं क्योंकि इसमें मैं को कतृत्त्व भाव से मुक्त करना हैं । कतृत्त्व से मुक्त होनेपर अस्तित्त्व प्रगट होता हैं। प्रगट अस्तित्त्व परम तत्त्व की उपासना करने में सफल होता है।

आप को इस बात का अनुभव होगा कि जिसको रोज दिनभर या दिन में तीन-चार बार खाना खाने की आदत हो और वह कभी उपवास आदि करे तो उसे भूख नहीं लगती हैं। छोटी उम्र में बडी बडी तपश्चर्याएं होती है। आप लोग कहते भी हो मेरा बेटा-बेटी, पोता-पोती आदि कभी भूखा नहीं रहता हैं। पांच-दस मिनिट लेट होता हैं तो शोर मचाता हैं और आज देखो कैसा तपश्या का जोर लगा लिया है। सोचो आप भूख क्यों नही लगी? पर्युषण के वातावरण में पुर अर्थात् नगर अर्थात् देह में शयन किया हुआ मालिक आज जग चुका है। उसकी जाग्रत अवस्था ने अपने दिल दिमाग को ऑर्डर किया है कि आज उपवास हैं। संकल्प के समय हमारी दोनों भौहों के बीच में रहे हुए आज्ञा चक्र के पास रही हुई पिच्यूटरी ग्रंथि में से विशेष हार्मोन्स स्रावित होते हैं। ये सभी एड्रोक्लाईन ग्रंथियों को सूचना देते है कि आज उपवास है। अंत:स्रावी ग्रंथियाँ सूचना मिलते ही अपनी सक्रियता को डायवर्ट कर देती है। आप ये तो अवश्य जानते हैं भूख और प्यास लगने पर मस्तिष्क में रहा हुआ हाईपोथेलोमस भक् भक् करता है। सारी ग्रंथियों को भूख-प्यास लगने की सूचना देता है। जब तक इसकी खानापूर्ती नहीं होती है तब तक वह मस्तिष्क में धूम मचाता है। यही कारण है कि भूख लगने पर व्यक्ति नियंत्रण से बाहर हो जाता है। उपवास होने पर स्वयं पिच्यूटरी ग्रंथि आदेश जारी करती है तो सारी ग्रंथियां शांति के मार्ग पर शांति से काम करती हैं। साधक यदि कमजोर हो, मन विचलित हो तो गडबड हो सकती है वरना आराम से तपश्चर्या जारी रहती है।

जीवन में प्राण का आयोजन श्वासोश्वास के साथ होता है। ऑक्सिजन लेना और कार्बन छोडना यह इस आयोजन की विशेष प्रणाली है। इनमें से एक भी प्रक्रिया कमजोर होती तो क्या होता है यह आप सब जानते हो। नगर में जिस तरह बाहर से आयात होता है उसी तरह निर्यात भी होता है। हमारे देह में भी ऐसी व्यवस्था है। खाना पीना आदि आयात होता है तो निर्गमन भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है। भूख की खाने की जितनी दवॉईयां नही होती उतनी पेट साफ करने की होती है। नगर में शयन करनेवाला पुरुष जब जाग जाता है तब आध्यात्मिक प्रक्रिया शुरु होती है। **"मिच्छामि दुक्कडं, अप्पाणं वोसिरामि।"** आदि जन्म-जन्मांतर के दुर्भावों से मुक्ति दिलाता है। पुरुषोत्तमाणं स्वयं जगते है और अन्यों को जगाने के लिए ऐसी विश्व व्यवस्था स्थापित करते है।

भक्तामर स्तोत्र में मुनि मानतुंगाचार्य ने कहा है- **"व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ।"** हे भगवान! व्यक्त होने के कारण आप पुरुषोत्तम हो। आप मेरे मन में, तन में, सर्व आत्म प्रदेशों में व्यक्त हो गए। अभिव्यक्त हो गए। साक्षात् हो गए और स्वर बनकर स्तोत्र के रुप में संसार में प्रगट हो गए। भक्तामर के पुस्तक में आपने पढा होगा कि शक्रेन्द्र ने आचार्य श्री को बिनती की थी प्रभु! आप हमें बेडियों को तोडने की आज्ञा दिजिए। शासन का चमत्कार होगा। धर्म का प्रचार होगा और आपका महिमा विश्व में फैलेगा। आचार्य श्री ने कहा था, शक्रेन्द्र! ऐसी किसी भी प्रक्रार की हरकत मैं नहीं होने दूंगा। मुझे ये बताओ की राजाने ऐसा क्यों किया? किसी ने राजा को चढाए और राजा ने मेरी परीक्षा ली ये सब क्षुल्लक बाते हैं। यदि मेरे कर्मों में ही ऐसा न लिखा होता तो बिचारा राजा क्या कर सकता था। यदि तुम मेरे कर्मों की बेडी के बंधन तोड सकते है तो तोड दो। करो चमत्कार। बाकी तो शासन स्वयं चमत्कार है। हम क्या चमत्कार करेंगे। शक्रेन्द्र ने कर्मक्षय में सहायता करने का असामर्थ्य प्रगट किया। मुनिश्री उनके ध्यान में लीन हो गए, जो कर्मक्षय में सहायता करने के लिए हरवक्त व्यक्त रहते हैं, जो पुरुषोत्तम बनकर आते है।

जैसा मुनि मानतुंगाचार्य के साथ में हुआ वैसा हमारे साथ क्यों नहीं होता है? ऐसा प्रश्न आपको होता होगा। इसका उत्तर ज्ञानी पुरुष देते है कि, **"कपट रहित थई आतमअरपणा"** - कपट रहित होकर आत्मा का अर्पण कर दो। परम पुरुष के चरणों में अपना सबकुछ न्योच्छावर कर दो। परमात्मा आपके है आप परमात्मा के हो। आपको किसी ओर माध्यम की आवश्यकता नहीं है। जब आत्मा के नमस्कार हो चुके तो मन और तन को नमस्कार करने की आवश्यकता नही है। अपने आप नमस्कार हो जाते है। इसीकारण यहाँ नमो अरिहंताणं और नमोत्थुणं अरिहंताणं शब्द का प्रयोग हुआ है। नमामि शब्द कतृत्त्व का सूचक है। मैं नमस्कार करता हूँ। नमो भाववाचक शब्द है। नमस्कार करता नहीं हूँ पर नमस्कार हो जाते हैं। क्योंकि भगवान् ! आप नमस्कृत्य हो।

जो काम कर के छिप जाते हैं उन्हें भगवान कहते हैं।
जो काम करके प्रगट हो जाते हैं उसे इन्सान कहते हैं।
जो काम न करके प्रगट होता है उसे शैतान कहते हैं।

इतने बडे तीर्थ का निर्माण किया, संघ की स्थापना की, हमें समाचारी दी और चले गए। कहाँ चले गए? हमारा महाव्रतों का संविधान, आपका अणुव्रतों का संविधान, हमारी श्रमण समाचारी, आपकी श्रावक समाचारी कितना कुछ बनाया, कितना कुछ दिया और चले गए। कहाँ चले गए? ऐसे छिप गए कि, हम हमेशा खोजते रह गए। इसीलिए कहा जाता हैं, जो काम करके छिप जाते हैं उन्हे भगवान कहते है। अब देखो इन्सान की हालत क्या है। काम करके प्रगट हुए बिना मानव नहीं रह सकता। कभी कभी ऐसा भी कहने को मन करता हैं कि, प्रगट होने के लिए ही काम करते हैं। चुनाव के टाईम में विजय पाने के लिए कितना आश्वासन दिया जाता हैं। कितनी गिफ्ट दी जाती है। विजय हो जाने पर कितने सन्मान की अपेक्षा होती है। यदि कही सन्मान ना हुआ हो उन्हे दुश्मन माना

जाता है क्योंकि काम करके प्रगट होना मानव का स्वभाव है। मजे की बात तो यह है कुछ तत्त्व समाज में ऐसे भी है जिनको काम नहीं करना है पर सन्मान चाहिए। ये तीसरी कॅटेगरी के लोग हैं। ऐसे सामाजिक तत्त्व शैतान के नाम से पहचाने जाते हैं।

परम सत्ता तो जन्म से तीन भव पूर्व ही हमारा काम करना सुरु करती हैं। तीर्थंकर भव में भी करते हैं और सिद्ध होने के बाद भी वह अप्रकट सत्ता हमारे सिद्धत्त्व को प्रकट करने का अधिकार रखती हैं। हमारी प्रत्येक क्षण की, प्रत्येक प्रवृति, प्रत्येक पर्याय, प्रत्येक संकल्प-विकल्प की पर्यालोचना हो जाती हैं। जगत् में कही भी जाओ, कुछ भी करो वे जानते है। हर जगह वे व्यक्त है। फिर भी हम कहते है कि, वह अव्यक्त हैं। कभी कभी तो हम यह भी कह देते है कि, पता नहीं भगवान जैसी कोई सत्ता हैं या नहीं। एक खेल है जिसे लुकाछीपी (हाईड अँन्ड सिक) कहते है। इस खेल में एक बच्चा ऑखों को ढँककर रखता हैं बाकी बच्चे छिप जाते है। अब वो एक बच्चा अन्य बच्चों को ढूँढता हैं। छिपने वाले बच्चा छुप छुप कर चालाकी से खोजने वाले बच्चे को देखता हैं छेडता हैं पर उसकी नजरों में ना चढे ऐसी चेष्टा करता हैं। यदि वह दिख जाता है तो वह हार जाता है। भगवान भी छिपने वाले बच्चे की तरह छुप छुप कर ढूँढनेवालों को देखते हैं। कभी हारते नहीं, कभी थकते नहीं, कभी हमारी नजरों में चढते नहीं। हमारे सारे प्रयास केवल मात्र उनको खोजने के हैं। जप, तप, ध्यान, कायोत्सर्ग, तपश्चर्या, नवकार, लोगस्स, नमोत्थुणं सब कुछ केवल मात्र उनको ढूँढनें के प्रयास हैं।

प्रगट होने के तीन प्रकार हैं। पर्याय से, प्रज्ञा से और परिणाम से। दूसरे तरीके से इसे इसतरह कहते है - शरीर से, संबंध से और स्वरुप से। पर्याय से व्यक्त व्यक्तित्त्व में जगत् हमें देखता हैं, जानता हैं, मानता हैं। हम जो दिखते हैं वह हम हैं और उसी पहचान से हम प्रसिद्ध होते हैं। पर्याय के साथ ही संबंध प्रगट होता है। जन्म के साथ ही माता पिता पर्याय को जिस नाम से संबोधित करते है हम हमें उसी नाम से पहचानते हैं। नाम की पहचान जब अधूरी महसूस होती है तब पिता का नाम लगता हैं। वह भी अधूरी महसूस होती है तो कुलनाम का उपयोग किया जाता हैं। जैसे मेरे बचपन में हम एक ही परिवार के तीन बच्चे स्कुल में पढते थे बी.सी. दोमडिया के नाम से पहचाने जाते थे। कई बार गडबड होती थी जैसे मैं भारती चीमनलाल दोमडिया, एक भाई भरत छोटालाल दोमडिया और एक भाई भरत चंदुलाल दोमडिया। आगे चलकर हमें अपनी पूर्ण पहचान पिता के पूर्ण नाम से देनी पडती थी। हमारा नाम जब अधूरा पडता हैं तब पिता का नाम हमारी पहचान को पूर्ण करता हैं। ये सब हमारे देह अर्थात् पर्याय की पहचान हैं।

प्रज्ञा की पहचान अर्थात् संबंध की पहचान। मानो मकान में उपर नीचे रहनेवाली लडकी आपके यहाँ रोज आती हो। साथ उठना-बैठना, खाना-पीना, कामकाज सब करती हैं लेकिन कभी अपने हाथ से कुछ लेती नहीं हैं। बायचान्स उस लडकी के साथ आपके बेटे का रिश्ता हो जाए तो कितना फरक पडेगा। पडोसी की बेटी को आप अपनी बहु मानने लगेंगे। वह भी इस घर अपना घर मानने लगती है। पात्र वही हैं, परिवार भी वहीं हैं, घर भी वहीं हैं फिर भी संबंध में एक बहुत बडा अंतर महसूस होता हैं। यह केवल प्रज्ञा का ही तो अंतर है, बुद्धि का ही तो अंतर है। अपनापन जो है वह बुद्धि का स्वीकारा हुआ हैं।

तीसरी पहचान परिणाम की पहचान हैं। यह कठिन पहचान हैं। परिणाम से पहचानना मुश्किल हैं। इस प्रयोग के लिए सर्व प्रथम स्वयं को देखना, जानना, समझना पडेगा। आत्म सिद्धि में प्रथम गाथा के प्रथम चरण में यही कहा है, **"सर्व दुःखो का कारण स्वयं के स्वरुप को नहीं समझना हैं।"** परिणाम की पहचान के बिना कितना अधूरापन महसूस होता हैं ये तो आप कईबार अनुभव करते हैं। दुकान से कोई चीज खरीद के लाए हो, कंपनी का नाम थोडा फर्क नहीं समझ पाए और हलकी चीज दुकान वाले ने पकडा दी आप तुरंत कहेंगे दुकानवाला तो अच्छा दिखता था ऐसा निकलेगा पता नहीं था। कंपनी की चीजों को जाने दिजिए। २०० रु. के जुते लाते हो और सब को बोलते हो सेम ऐसे ही जुते मैं ने दोस्त के देखे जो ६०० रु. में लाया था। यही जुते जब १५ दिन में चिंथडे होने लगते हैं तब आप कहते हैं, दुकान वाले ने धोखा दिया। ऐसे ही सब्जी, भाजी, साडी आदि कई चीजों में आपके साथ ऐसा होता हैं। तब आपको लगता है कि आप परिणाम से अनभिज्ञ होने के कारण फंस गये हो।

पुरुषोत्तमाणं परिणाम को जानते हैं। परिणाम की पूर्वाभिव्यक्ति और पश्चादभिव्यक्ति दोनों को जानने के कारण उचित प्रयोग करते हैं। हम परिणाम से अनभिज्ञ होने के कारण अपनी बुद्धि से उस परिस्थिति को अनुचित ठहराते हैं। समझ गयी मैं कि यह सैद्धांतिक बात आपको कठिन लगती हैं। उदाहरण से देखिए, भगवान महावीर के पास मुनिनंदिषेण ने दीक्षा ली। कुछ वर्ष संयम पाला फिर पतन हुआ। पुनः वे मार्गपर आए। इस बात पर आप क्या सोचोगे? कि महावीर ने श्रेणीक के पुत्र समझकर दीक्षा दे दी? भगवान जानते थे न कि इसका पतन होनेवाला हैं, फिर भी क्यों दीक्षा दी? यही प्रश्न कभी किसीने महावीर से पूछ लिया। भगवान ने कहा, ठीक हैं पता था परंतु मार्ग का प्रारंभ और पतन के मध्य काल में जो काम करना था वो कर लिया। उसी काम ने पतन के बाद मुनि को पुनः पदासीन किया। पुनः मार्गपर लाए। साधना की कठिन तपश्चर्या करवाई। पश्चादाभिव्यक्ति को जानने के कारण पूर्वाभिव्यक्ति का प्रयोग हुआ।

परिणाम के व्यक्त होने से पूर्व परिणाम का पता जान लेने पर परिवर्तन करने का अवसर प्राप्त होता हैं। कर्म की भाषा में इसे उदीरणा या निर्जरा कहा जा सकता है। कर्म के परिणाम प्रगट होने से पूर्व यदि उन्हें कम करना चाहे या संपूर्ण समाप्त करना चाहे तो काल हमें चुनौती देता हैं। संक्रमण, उदीरणा, निर्जरा आदि प्रक्रिया अव्यक्त परिणामों को व्यक्त होने से पूर्व व्यक्त होने की पात्रता होनी चाहिए।

हमारी समस्या यह है कि हम केवल जैसा दिखता हैं वैसे व्यक्त का स्वीकार करते हैं। व्यक्त की अव्यक्त सत्ता से हम अनजान या अनभिज्ञ हैं। व्यवहार में हम नहीं दिखनेवाले पर भी विश्वास करते हैं। देश-विदेश में जिन पार्टियों को हम नहीं जानते, न ही देख सकते केवल फोन से बात करते ही बडे-बडे बिझनेस कर लेते हैं। व्यवसाय तो छोडो व्यवहार में इंटरनेट से अनजान व्यक्तियों के साथ अच्छे घरों की लडकियाँ शादियां तय कर लेती है। ऐसे अनजान व्यक्ति के साथ जिंदगी के सौदे करते हुए इस कलियुग में अव्यक्त परमसत्ता के प्रति विश्वास क्यों नहीं करते हैं।

यहाँ परमात्मा को पुरषों में उत्तम ऐसा कहकर परमात्मा रुप में व्यक्त किए गए हैं। यह उत्तमता दस प्रकार से व्यक्त होती है। निगोदादि एकेन्द्रिय आदि अवस्था में भी ये गुण इन आत्माओं में निहित होते हैं। यद्यपि सामग्री

के अभाव में अव्यक्त अवश्य हो सकते है परंतु ये निजगुण उनकी साहजिकता हैं। योग्यता के आधारपर ये प्रकट हो जाते हैं।

1. परार्थव्यसनिता :- चराचर विश्व में स्वार्थ व्यसनी जीव अधिक होते हैं। परार्थ व्यसनी परमात्मा ही होते हैं। व्यसन उसे कहते हैं जो बारबार किया जाय। व्यसन तो हर एक को होता हैं परंतु जो परहितरसिक होते हैं वे परार्थ व्यसनी कहलाते हैं। स्वार्थ परार्थ और परमार्थ ऐसे तीन प्रकार के जीव संसार में होते हैं। अधिकांश स्वार्थव्यसनी होते हैं। परार्थव्यसनी और परमार्थव्यसनी पुरुषोत्तम परमात्मा होते हैं। चंडकौशिक को बूझाने के लिये भगवान १५ दिन तक उत्तरवाचाल में ध्यानस्थ रहे। इसतरह तीर्थंकरों के जीवन के कई उदाहरण उनकी परार्थव्यसनी वृत्ति के साक्षी हैं।

2. स्वार्थगौणता :- परार्थव्यसनी होने से स्वार्थ का गौण हो जाना स्वभाविक हैं। परमात्मा ने तीन भव पूर्व सर्व जीवों के लिए शासन रसिक की भावना करते हुए सर्व जीवों की कल्याण कामना की। यदि वे यह भावना नहीं करते तो उनकी तपश्चर्या ऐसी थी की उसी जन्म में मोक्ष हो जाता। परंतु सर्वजीव हेतु की गयी भावना के कारण उनका स्वार्थ गौण हो गया और परार्थव्यसन का गुण प्रधान हो गया।

3. उचित क्रिया :- तीर्थंकरों के वाणी, विचार और वर्तन तीनों औचित्य से भरपुर होते हैं। भगवान महावीर दीक्षा लेने से पूर्व बडे भाई नंदीवर्धन के रोकने से दो वर्ष पर्यंत गृहस्थाश्रम में रहे थे। दीक्षा नहीं ली थी पर एकांत में रहते थे। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इस तरह दिशाओं के क्रम में छ: छ: महिना ध्यान में रहे थे। ऐसा क्यों किया उन्होंने? आपके लिए किया। औचित्य पालन गृहस्थ धर्म का एक अंग हैं परंतु इसे विवशता मान लेना अनुचित हैं।

4. अदीनभाव :- परमतत्त्व में दीनभाव की कल्पना भी नहीं कर सकते। परमात्मा स्वयं अदीन रहते हैं और उद्घोष भी करते हैं - **"अदीण मणसा चरे।"** वत्स! अदीन मन से विचरण कर। भगवान आदीनाथ के दीक्षा लेने के बाद आहारदान व्रत से अनभिज्ञ जनसमुदाय परमात्मा को भिक्षा नहीं दे सके थे तब बारह महीने के लंबे समय तक भगवान ऋषभ देव अदीनभाव से विचरण करते रहे।

5. सफलारंभ :- पुरुषोत्तम परमात्मा से हर कार्य का प्रारंभ सफल होता हैं। कभी निष्फल नहीं होते। ये सफल प्रवृत्ति भी सहज भाव से होती हैं। भक्तामर स्तोत्र में मुनि मानतुंगाचार्य कहते हैं, हे परमात्मा! आप ने मुझमें कर्मक्षय सहायता का सफलारंभ कर दिया हैं। भले ही आप नहीं दिखते हो। भले ही आप अव्यक्त हो परंतु आप मुझमें व्यवस्थित रुप में व्यक्त हो गए हो। तभी तो मेरी बेडियों के बंधन टूट रहे हैं। आपका आरंभ सफल होने के कारण ही हम आपको आईगराणं कहकर नमस्कार कहते हैं।

6. अदृढानुशय :- अनादिकाल से उत्तमता का गुण निहित होने के कारण अनिष्ट करनेवाले जीवों के प्रति गाढ क्रोध नहीं आता और उनके प्रति प्रबल अपकार बुद्धि नहीं होती हैं। शूलपाणीयक्ष, चंडकौशिक आदि कितने उपसर्ग करते हैं, फिर भी प्रभु उनके प्रति सहज करुणा का उपचार करते हैं।

7. कृतज्ञतापति :- अरिहंत परमात्मा कृतज्ञता के स्वामी होते हैं। स्वामीत्त्व उसे कहते हैं जो सदा स्थायी हो। अपने लिए थोडा सा भी उपकार करनेवालों के प्रति प्रत्युपकार करना उनका सहजगुण होता हैं। कभी कभी तो हम किसी का उपकार हैं ऐसा भी नहीं समझते हैं। ऐसी घटना के समय में ये तो मेरे कर्मक्षय के सहायक हैं। ऐसा मानते हैं।

८. अनुपहतचित्त :- अर्थात् अभग्न मन वाले। जिनका चित्त का उपघात नहीं होता। चाहे कितने भी भयंकर उपद्रव क्यों न हो। परम आत्माओं के अध्यवसाय उच्च होते हैं। अनार्य देश में विचरण करते समय भगवान महावीर स्वामी जब **"अंतसो जाइ"** अर्थात् अंतर्ध्यान में लीन थे तब आस पास के लोगों नें **"हंता हंता बहवे कंदिंसु"** ऐसा कहकर शोर मचाया था, प्रहार किया था तब भी प्रभु ने अपने अध्यवसायों को कमजोर नहीं किये थे।

आदरभाव में सदा सक्रिय रहनेवाले परमात्मा देव गुरु और धर्म के त्रितत्त्व को धर्म मार्ग का प्रथम अनुष्ठान घोषित करते हैं। मरिचि के भव में त्रिदंडी तापस बने हुये महावीर की आत्मा ने भगवान ऋषभ देव के समवसरण में आनेवाले साधकोंको स्वयं की कमजोरी सूचित कर परमात्मा के सन्मान का, बहुमान का और आदरभाव का महत्त्व समझाया था।

9. गम्भीराशय :- अरिहंत परमात्मा के अभिप्राय गंभीर होते हैं। साधना काल के समय आत्मविकास में छोटासा निमित्त मिलनेपर इनमें विशिष्ट गुण प्रारंभ हो जाते हैं। भगवान मल्लिनाथ का चरित्र आपने सुना हैं ना ? ६ राजा उनके रुप के दिवाने थे। सभी उनसे शादि करना चाहते थे। ऐसा उचित नहीं था। मल्लिनाथ भगवान ने क्या किया? उन्होंने अशोक वाटिका में अनेक स्तंभोंवाला मोहन घर बनवाया। उसके बीच में एक गुप्त गृह बनवाया उसके चारों ओर ६ जालियाँ लगवाई। बीच में एक विशाल चबूतरा बनवाकर उसके उपर अपने समस्वरुप मुर्ति बनवाकर रख दी। यह मुर्ति बीच में से खोखली थी। ऊपर से कुछ डालने के लिए ढक्कन रखा था। प्रतिदिन स्वयं जो खाती थी वो उसमें डलवाती थी।

कुछ दिन के बाद छहो मित्रों को आंमत्रित कर मोहन घर में ठहराया गया। अंदर घुसते ही जाली से गुप्त गृह में मल्लिकुमारी की प्रतिमा को मल्लिकुमारी ही समझा सभी एक टक देखने लगे। इतनें में मल्लिकुमारी ने पीछे से मुर्ति का ढक्कन खोल दिया। ढक्कन खुलते ही चारों ओर दुर्गंध फैल गयी। सभी परेशान हो गए। घबरा गए। मल्लिकुमारी ने सबको संबोधित करते हुए कहा, "जिस मुर्ति में भोजन का एक कौर डाला गया तो इतनी दुर्गंध होती हैं। तो मेरे जिस शरीर पर तुम आसक्त हो रहे हो वह कितना अशुचिमय हैं। जिन पुद्गलों से यह शरीर बना है वह पुद्गल भी कितने अशुचिमय होते हैं।" छहों राजा मल्लिकुमारी के इस गंभीराशय से जाग्रत हो गए। प्रतिबुद्ध हो गए। अतीत लौट आया। जातिस्मरण ज्ञान हुआ। छहो मार्गानुगामी होकर मोक्षगामी हो गए।

विभाव में सोना होगा, स्वभाव में जगना होगा। पुरुषोत्तम अर्थात् **"अप्पाणमणुसासई"** - स्वयं का स्वयंपर नियंत्रण पुरुषोत्तमता हैं। तीनों लोकोंकी उत्तमता प्रगट हो गई। चैतन्य की शास्वतता पुरबहार खिल गई।

जन्म और मृत्युपर विजय हो गया। आत्मा का अमरत्त्व प्राप्त हो गया। ऐसे परुषोत्तमाणं को हमारे नमस्कार हो। नमस्कार का फल यही हैं कि नमस्कार करनेवाला स्वयं नमस्कृत हो जाता हैं।

हमारे लिए उत्तमता की बात छोडो पुरुषत्त्व प्रगट हो जाय तो भी बहुत हैं। आनंदघन महाराज अजितनाथ भगवान के स्तवन में हमारी तरफ से कहते हैं, **"जे तें जित्या रे तिणे हुं जितीयो रे, पुरुष किस्युं मुज नाम।"** हे प्रभु! राग द्वेष आदि जिनतत्त्वोंपर आपने विजय प्राप्त की उन सभी तत्त्वों ने मुझे पराजित कर रखा हैं। पुरुष किस्युं मुज नाम - पुरुष कहलाने के भी लायक नहीं हूं क्योंकि पुरि शेते पुरुष। जो मात्र देह में रहता हैं परंतु आत्म स्वरुप को समझकर देह में स्वतंत्र सत्ता के रुप में रहता हैं। देह में रमण नहीं करता हैं वह पुरुष हैं।

पुरुषोंमें उत्तम परमात्मा स्वयं में उत्तम हैं। उत्तमता अर्थात् चेतना का समादर। उनकी उत्तमता हमें कर्मक्षय में कैसे सहायक बने यह प्रश्न हमारा हंमेशा का हैं। हम जानते हैं हमारे कर्म बहुत भारी हैं अत: इनका क्षय करके मोक्ष पाना कठिन हैं। कर्मों का सामना करना, कर्मों का मुकाबला करने के लिए हमें कर्मों से भी बलवान सहायता चाहिए। इस के लिए हमें अपने भीतर इनर वर्ल्ड में जाना होगा। हम कल परमात्मा की पुरिससीहाणं पद के द्वारा उपासना करेंगे। हमारे उपास्य हमारे अनुष्ठान में पधारे। हमारे नमस्कार का स्वीकार करें और साक्षात्कार के द्वारा मोक्ष का पुरस्कार दे। बोलो पुरुषोत्तम परमात्मा की जय! ऑखे बंद कर नमोत्थुणं पुरिसोत्तमाणं मंत्र का अभिषेक करते हैं।

. . . नमोत्थुणं पुरिसोत्तमाणं . . . . . नमोत्थुणं पुरिसोत्तमाणं . . . . . नमोत्थुणं पुरिसोत्तमाणं . . .

नमोत्थुणं पुरिससीहाणं

निर्भीकता जिनका स्वभाव हैं वे पुरिससीहाणं हैं।
शूरवीरता जिनकी स्वाभाविकता हैं वे पुरिससीहाणं हैं।
जिनका वर्चस्व संपूर्ण विश्वपर हैं वे पुरिससीहाणं हैं।

उपमा के दो प्रकार हैं - पूर्णोपमा और लुप्तोपमा। उपमा के मुख्य चार गुणधर्म हैं - समानधर्म, उपमेय, उपमान और उपमावाचक। इन चारों के द्वारा प्रस्तुत पद को हम परमपुरुष के साथ जोडकर देखेंगे। परमपुरुष में रहा हुआ सिंहत्त्व हमारे कर्मक्षय में कैसे सहायभूत हो सकता है वह इस पद के द्वारा समझाया जाता है।

१. समानधर्म :- पुरुष और सिंह,
२. उपमेय :- सिंह के सामने सिंह,
३. उपमान :- सिंह के सामने हरिणी,
४. उपमावाचक :- सिंह का सिंहत्त्व।

प्रस्तुत चारों गुण जहाँ होते हैं वहा पूर्णोपमा हैं और जहाँ चारों गुणों में से एकाद गुण भी कम हो तो उसे लुप्तोपमा कहते हैं। आज नमोत्थुणं के द्वारा परमात्मा की पहचान पाने आगे बढते है तब उपमाओं के सारे आवरण टूट जाते हैं और अनुपम परमात्मा को पहचानने में उपमान अनावश्यक हो जाते हैं। फिर भी छद्मस्थोंको समझाने के लिए ज्ञानी पुरुषों ने इस पद से उपमानों का उपयोग शुरु किया हैं। यहाँ पर प्रस्तुत दोनों उपमाओं में यह पद लुप्तोपमा वाला कहलाता हैं, पूर्णोपमावाला नहीं। क्योंकि हमें भगवान का स्वरुप समझाने के लिए सिंह की उपमा दी जाती हैं परंतु सिंह को समझाने के लिए भगवान की उपमा नहीं दी जाती। यह हैं लुप्तोपमा। पूर्णोपमा में दोनों आपस में एक दूसरें की उपमा में फीट बैठते हैं।

सिंह के जिस उपमान को यहाँ पर उपयोग में लिया गया उसमें दो प्रकार की विशेषताऐं पायी जाती हैं। जैसे सिंह में शूरवीरता भी है और क्रूरता भी है। यहाँ उपमानों का उपयोग केवल गुणों के आधारपर किया गया है। यहाँ परमात्मा में निहित सिंहत्त्व के अनुभव के लिए दस लक्षणों का उपयोग किया जाता हैं - शूरवीरता, क्रूरता, असहिष्णुता, वीर्यवान, वीर, अवज्ञावाले, निर्भय, निश्चिंत, अखिन्न और निष्कंप।

१. शूरवीरता :- संपूर्ण जंगल में अन्य प्राणियों के साथ रहा हुआ सिंह राजा कहलाता है। कोई उसका राज्याभिषेक नहीं करता है परंतु उसकी शूरवीरता ही उसे वन के साम्राज्य का स्वामी बनाती है। जो निर्भीक होकर सामना कर सकता है उसे शूरवीर कहते है। शूरवीरता अर्थात् बिना घबराए सामना करना। मोक्ष मार्ग में निर्भीक होकर कर्मोंका सामना करना होता हैं। इसके लिए आनेवाले परीषहों का और उपसर्गोंका जमकर मुकाबला करना होता हैं। तीर्थंकर परमात्मा शूरवीरता के इस सद्गुण के कारण संपूर्ण विश्व के स्वामी है। शूरवीरता के इस गुण के कारण परमात्मा विश्व के अखंड साम्राज्य के स्वामी है।

२. क्रूरता :- जो शूर होता है स्वाभाविक ही वह क्रूर होता है। शत्रुओं का उच्छेद करने में सिंह क्रूर होता है। तीर्थंकर परमात्मा कर्मोंका उच्छेद करने में क्रूर अर्थात् कठोर होते है। भगवान महावीर की जीवनचर्या परमात्मा

के इस गुण को स्पष्ट करती है। संगम ने जब परमात्मा के उपर घोरतम उपसर्ग किए तब स्वयं के ही घोरकर्मोंका उदय समझकर अत्यंत क्रूरता पूर्वक उसका उन्मूलन किया। यदि कर्मों के प्रति क्रूर न होते तो संगम दुश्मन हो जाता और संगम के प्रति उनका आचरण कठोर हो जाता। यहाँ परमात्मा कर्मों के प्रति क्रूर और संगम के प्रति कोमल थे।

३. असहिष्णु :- सहिष्णुता दो प्रकार की होती है। कष्टों को सहन करना और अन्याय को सहन करना। परमात्मा स्वयं के कषाय और अन्यों का अन्याय सहन नहीं करते हैं। भगवान महावीर ने प्रमाद, क्रोध आदि को कभी भी सहा नहीं था। चिरकाल तक निद्रा के आधीन नहीं हुए थे। थोडे से प्रमाद की आशंका होते ही परमात्मा चंक्रमण करते (घूमते) थे। अच्छंदक आदि नैमित्तिको के इर्ष्या आदि अवगुणों को सहन नहीं करते हुए वहाँ से विहार करते हैं।

४. वीर्यवान :- सिंह हाथी आदि के सामने जिस तरह पूर्ण पराक्रम से प्रस्तुत होते हैं उसी तरह परमात्मा रागद्वेष आदि का मुकाबला पूर्ण पराक्रम से करते हैं। परमात्मा का वीर्य सर्वद्रव्य, सर्वक्षेत्र, सर्वकाल और सर्वभाव में पूर्ण प्रकाशित और उल्हसित रहता है।

५. वीर :- सिंह वनवास और वनविहार अकेले पूर्ण वीरता के साथ करते हैं। वैसे ही अरिहंत परमात्मा समस्त संयमचर्या पूर्ण वीरता के साथ व्यतीत करते हैं। भगवान ऋषभदेव हजारों पुरुषों के साथ दीक्षित हुए थे। चर्या कठिन लगने के कारण कई साधु ने मार्ग छोड दिया तो कई अलग रहकर स्वच्छंद हो गए। किसी की भी परवाह न करते हुए परमात्मा ने अखंड पुरुषार्थ से मार्ग की उपासना की।

६. अवज्ञावाले :- जैसे सिंह स्वयं के सिवा अन्य सब को क्षुद्र गिनकर उनकी अवज्ञा करता हैं उसीतरह तीर्थंकर भगवान भूख-प्यास, धूप-छाँव, मान-अपमान आदि परिषहों को तुच्छ गिनकर उसके प्रति लापरवाह रहते हैं। ये परिषह क्यों आए? कब खतम होंगे? इसे सेहने में किसकी सहायता ली जाए? आदि किसी भी प्रश्नपर कभी सोचते नहीं है। वे अत्यंत स्वाभाविकता से इसे सहन कर लेते हैं।

७. निर्भय :- जिस तरह सिंह जंगल में अकेला घूमता है पर किसी से भयभीत नहीं होता है। भयजनक स्थिति में भी निर्भीक रहता है। परमात्मा का सिद्धांत है कि, देह और आत्मा के बीच के अभेद से भय उत्पन्न होता है। तीर्थंकर प्रभु देह और आत्मा के बीच के भेद को निरंतर बनाए रखने में सतत जाग्रत रहते हैं। साधना काल में आनेवाले किसी भी परीषह और उपसर्गों के समय भेद विज्ञान के आधारपर निर्भीक रहते हैं। भय रहित आत्मदशा उनका सहज स्वभाव होता है।

८. निश्चिंत :- इष्ट का संयोग और अनिष्ट का वियोग चिंता का कारण होता है। परमात्मा संयोग वियोग की इस क्रममाला से बिलकुल अलग होते हैं। स्वचिंता, परचिंता, इन्द्रियचिंता, पदार्थचिंता आदि किसी भी प्रकार की चिंता उन्हें दुखदायी नहीं बना सकती है। हर्ष और उद्वेग से रहित होने के कारण चिंता हो भी कैसे सकती है? स्वावलंबी होने के कारण निश्चिंतता उनके जीवन मे स्वाभाविक होती है।

९. अखिन्न :- सिंह जिस तरह प्रत्येक प्रवृत्ति खेद और खिन्नता से रहित करता है उसीतरह तीर्थंकर महाप्रभु की जीवन चर्या खेद और खिन्नता से रहित होती है। निरंतर प्रसन्न और प्रशांत रहने के कारण खेद और

खिन्नता उनमें आ ही नहीं सकती है। इच्छा अनिच्छा जैसा कुछ होता ही नहीं है।

१०. निष्कंप :- किसी भी प्रकार के गलत काम या मिथ्याभाव में कंपन होता है। परमात्मा मिथ्यात्त्व का त्याग कर श्रेणी का प्रारंभ कर अपूर्व आत्मदशा का अनुभव करते हैं अत: चलविचल कंपन से रहित होते हैं।

सिंह शब्द सह् धातु से बनता है। सह् धातु के दो अर्थ होते है, सहन करना और जीत लेना। जो सहन करते है वो जीतते है। जो सहन नहीं करते वे जीत भी नहीं सकते। यह जीत चाहे स्वयं की स्वयं के प्रति हो या अन्य के प्रति परंतु जीतने के लिए सहना जरुरी है। स्वयं को जीतकर दूसरों को जीता जा सकता है। वर्तमान काल को जीतो चाहे भावी निर्माण को जीतो परंतु जीतने के लिए सहना जरुरी है। जो इन्द्रियों को जीतता है वह आत्मा को जीतता है। जो आत्मा को जीतता है उसकी सर्वत्र जीत ही जीत होती है।

तीर्थंकर भगवान की माता को तीर्थंकर के च्यवन के समय स्वप्न आते है उनमें सिंह का तीसरा स्वप्न होता है। भगवान महावीर का चरण चिन्ह भी सिंह था। भगवान महावीर के एक शिष्य का नाम सिंहअणगार था। आजितनाथ भगवान के प्रथम गणधर भगवान का नाम सिंह था। भक्तामर स्तोत्र की एक गाथा में एक साथ भक्ति, शक्ति और प्रिती का तात्पर्य एक साथ बताने हेतु सिंह का उदाहरण मृगेन्द्र शब्द से दिया गया है।

त्रिपृष्ट वासुदेव के भव में भगवान महावीर ने बिना शस्त्र सामग्री के शंखपुर के एक सिंह को मार फाडा था। तडपता हुआ सिंह आकुल व्याकुल हो रहा था तब वासुदेव के रथ के सारथि ने नीचे उतर कर केशरी सिंह की केसरी जटा पर हाथ रखकर कहा, हे महाभाग! शोक रहित हो जाओ, खेद रहित हो जाओ। तुम किसी सामान्य व्यक्ति के हाथ से नहीं मरे हो। तुम जंगल के राजा हो तो तुम्हें मारनेवाला तीन खंड का अधिपति त्रिपृष्ट वासुदेव है। सारथि के आश्वासन को पाकर सिंह ने शांति से प्राणत्याग किया। किसी भव में सारथि के गौतम स्वामी बन जानेपर यह हालिक नाम का किसान बनकर गौतम स्वामी से बोधान्वित होता है।

पुरुषसिंह को समझने के लिए सिंह को समझना होगा। सिंह को समझने के लिए उसके साथ के संबंधों को समझना जरुरी है।

सिंह के सामने सिंह
सिंह के सामने बकरी
सिंह के सामने हरिणी
सिंह के सामने बंदर
सिंह के सामने कुत्ता

एक बार एक सिंह का नवजात शिशु जन्म के साथ ही अकारण उसकी माँ से बिछुड चुका था। अचानक ही वह बच्चा किसी गोपाल के हाथ में आ गया। बडे प्यार से उठाकर उसने उसे भेड और बकरियों के समूह में रख दिया। बकरियों के साथ रहकर वह सिंह शिशु में में करना, घास खाना, छोटी छोटी छलांगे मारना सिख गया। उसे ऐसा कभी न लगा कि ऐसा बरतना मुझे शोभा नहीं देता। ऐसा आचरण मेरे लिए अयोग्य है।

एक बार गोवाल इस समूह को जंगल में चराने लेकर गया। चारा लेते लेते बकरियों का समूह नदी के तट पर पहुंच गया। तभी एक सिंह सामने तट पर पानी पीने के लिए आया। उसने बकरियों का समूह देखा। आप को तो

पता होगा कि सिंह कभी बकरी का शिकार नहीं करता। वह उसे तुच्छ और छोटा प्राणी समझकर छोड देता है। फिर भी बकरियाँ तो उनसे डरती है। सिंह ने बडा समूह देखकर गर्जना की। गर्जना सुनकर भेड-बकरियोंका समूह वहा से भाग गया। भेडों की तरह वह सिंह शिशु भी घबरा गया, डर गया और भगने का प्रयास करने लगा इतने में सिंह ने कहा, तू डरता क्यों है? हम कभी डरते नहीं, हम तो डराते है। हम सजातीय हैं। तू मेरे जैसा ही है। आपको क्या लगता है? क्या बच्चे ने उस बात को माना होगा? हमें हमारे पुरिषसिंहाणं आकर कह दे कि, तू मेरे जैसा ही है, तू भी भगवत् स्वरुप है। तो क्या हम मान लेंगे? क्या हम प्रभु की इस बात का स्वीकार कर लेंगे कि मैं जो दिखता हूँ वह मैं नहीं हूँ। मैं तो भगवान आत्मा हूँ। नहीं न? वह बच्चा हमसें अधिक होशियार था। यह कहनेवाला कौन है? किस की गर्जना है? सब भग गए। वह इन्वेस्टिगेशन में लग गया। वह सिंह के सामने आया। आखों में आखें डालकर एकटक देखने लगा। अनिमेष नयनो से देखते हुए सिंह शिशु में एक नई शक्ति का संचार हुआ। उसे देखकर सिंह ने पुनः गर्जना की। पंजा उठाया परंतु सिंह शिशु घबराया नहीं।उसकी आखों में एक आश्चर्य था, कौतूहल था। मेरे साथ की बकरियाँ क्यों डर गयी ? इसमें घबराने जैसा क्या था? भयभीत होकर क्यों भग गई? डरने जैसा इसमें कुछ भी नहीं है।

सिंह उस सिंह शिशु को लेकर नदी के तटपर आया। स्वयं पानीमें देखने लगा। उसे ऐसा करते हुए देखकर सिंह शिशु ने भी वैसा ही किया। पानी में स्वयं के प्रतिबिंब को देखकर बारबार स्वयं को और सिंह को घुरघुर कर देखता रहा। स्वयं को बकरियों से भिन्न जानकर उसने गर्जना करके निर्णय किया कि क्या मैं सच ही बकरियों से भिन्न हूँ? स्वयं के सामर्थ्य को समझकर उसे बोध हुआ कि मैं बकरियों के साथ रहता था पर स्वयं बकरी नहीं हूँ। छलांग लगाना, बें बें करना, घास खाना यह मेरी वास्तविकता नहीं हैं। धीरे धीरे उसका सिंहत्त्व प्रगट हुआ। निज की अनुभूती हुई। जात की भाषा और परिभाषा समझ आई। सामने खडे सिंह ने उसे अपने वनराज होने का परिचय दिया। तू में में करनेवाला नहीं तू गर्जना करेगा तो पूरा वनउपवन कांप जाएगा। तू पंजा उठाकर दहाडेगा तो जंगल के सारे प्राणी भग जाऐंगे। तू और मैं एक निर्भीक जाति के प्राणी हैं। किसी कर्मयोग के कारण तू इन बकरियों के साथ बडा हुआ। परंतु आज जब तुझे स्वयं की पहचान हो गयी हो तो तुझे अपनी जन्म जाति के अनुसार बरतना चाहिए।

निर्भीकता हमारा स्वभाव हैं। शूरवीरता हमारी वास्तविकता हैं। हमपर किसी का वर्चस्व हम सहन नहीं कर सकते। स्वयं के प्रति हम कोमल होते हैं, पर दुश्मनों के प्रति हम अत्यंत क्रूर होते हैं। हम इतने वीर्यसंपन्न हैं कि हमारा दूध सोने की थाली में टिक सकता हैं। हम जंगल में कहीं भी जा सकते हैं, पर किसी से डरते नहीं हैं सब प्राणी हम सें डरते हैं। हम निर्भीक और निश्चिंत रहते हैं। बेटा! शिस्तबद्ध दिखाई देनेवाली मानवजाति को सात पीढियों की चिंता होती हैं पर हम कल की भी चिंता नहीं करते हैं। भूख लगती हैं तब ही शिकार को निकलते हैं। स्वयं ही मेहनत करके स्वयं ही व्यवस्था करते हैं। हम अवज्ञा स्वभाववाले हैं। छोटे-छोटे, चींटे-चांटे भेड-बकरियों जैसे तुच्छ प्राणियों की हम उपेक्षा करते हैं। बेटा हम खेद और खिन्नता से रहित रहते हैं। हमारा अपना सोचा हुआ

शिकार यदि हमारी ही जातिवाला उठा लेता है तो हम खिन्न होकर खेद नही करते हैं। भेडबकरियों के बीच में पला सिंह शिशु जब इतनी गहरी बातें नहीं समझ पाया तब इसे सरल करते हुए सिंह ने कहा, वत्स ! जब एक कुत्ता भोंकता है तो मोहल्ले के सारे कुत्ते भोंकने लगते हैं। परंतु यदि कोई मानव एक कुत्ते को पकडेगा तो सारे कुत्ते भग जाऐंगे। इतना ही नहीं एक गाँव में यदि दूसरे गाँव का कुत्ता आता है तो गाँव के सारे ही कुत्ते उसपर हमला कर देते हैं। हम ऐसा नहीं करते हैं संपूर्ण वन में हमारे जातिबंधु चाहे जिस किसी देश प्रदेश से आये हो एक ही वन-उपवन में समा जाते हैं। यदि कोई शिकारी एक भी सिंह का शिकार करता है तो बाकी के सिंह भग नहीं जाते हैं पर चारों ओर से इकट्ठे होकर शिकारी पर आक्रमण करते हैं। मानव किसी की पार्टी तोडते है, बिझनेस तोडते हैं, नोकर, मेनेजर, मकान, रीत-रिवाज तोडते हैं पर हमें किसी का कुछ तोडने में कोई इंट्रेस्ट नहीं हैं। मानवजात में यदि किसी बच्चे के माता पिता की मृत्यु हो जाती है तो अन्य माता-पिता उसका पालन पोषण आवश्य करते हैं परंतु परायापना उसके साथ कायम रहता है। हमलोग ऐसा नहीं करते है। हम अपने ही बच्चे की तरह उसका पालन पोषण करते हैं। हमारी जाति के नियम सिखाते है।

जा वत्स! संपूर्ण वन में विचरण कर। सारे नियमों को याद कर पूर्ण वफादारी के साथ उसका आचरण कर जिससे हमारा सिंहत्त्व सृष्टि का उदाहरण बन जाए। महापुरुषों का उपमान बन जाए। महापुरुषों के साथ जुडा उपमान वरदान बन जाता है। इतना कहकर उसे एक दिशा में भेजकर सिंह स्वयं दूसरी दिशा मे चला गया।

परमात्मा के साथ जुडा सिंहत्त्व हमारी उपासना का एक अंग बन जाता है। भक्तामर स्तोत्र में दो पंक्तियों में ही इसका वैशिष्ट्य झलकता है। देखिए कुछ पंक्तियाँ -

बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि ।
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते ।।

यहाँपर क्रम शब्द का चार बार उपयोग हुआ हैं। क्रमबद्ध, क्रमगतं, क्रमयुग और नाक्रामति। क्रमबद्ध अर्थात् व्यवस्थित जमाया हुआ। क्रमगतं अर्थात् एक के बाद दूसरा। क्रमयुग अर्थात् दोनों चरण और नाक्रामति अर्थात् आक्रमण नहीं करना। यहाँ प्रथम लाईन के दो शब्द सिंह के लिए है और दूसरी लाईन के दो शब्द परमात्मा के लिए है। क्रमबद्ध एक के बाद दूसरा ऐसे व्यवस्थित चारों चरणों को आक्रमण की स्थिति में तैयार सिंह परमात्मा के दोनों चरणों के बीच में संश्रित किसी भी प्राणी पर आक्रमण नहीं करता है। यहाँपर पुरुषसिंहत्त्व का महत्त्व समझाते हुए सिंह की शूरवीरता को गोण किया गया। इसके साथ ही परमात्मा के आश्रित होने का भी अपना एक अलग महत्त्व होता हैं।

वैसे भी सिंह का आश्रय महत्त्वपूर्ण होता हैं। मैं जब संस्कृत पढती थी उसमें पंचतंत्र नाम का एक ग्रंथ था। उसमें एक रसप्रद कथा आती थी। एकबार शाम के समय में एक बकरी समूह से बिछड गयी। वह समझ चुकी थी उसका अब अकेले वापस गाँव लौटना मुश्किल है। अत: स्वयं के रक्षण की व्यवस्था स्वयं को ही करनी होगी। स्वयं की सुरक्षा के लिए उसने आसपास देखा। नजदीक में ही उसने एक सिंह की गुफा देखी। वह वहाँ जाकर बैठ गई। सिंह को बकरी का दरवाजे पर बैठने का एहसास हुआ परंतु बकरी जैसे तुच्छ जीवों का शिकार बिना कारण

सिंह नहीं करते है। अन्य प्राणी बकरी को अकेली समझकर शिकार करने नजदीक आते हैं परंतु उसे सिंह की आश्रित समझकर छोड देते थे। सुबह प्रभात होते ही सिंह उठकर बाहर निकलने लगता है। बकरी को देखकर सोचा इसकी इतनी हिंमत कैसे हुई कि मेरी आज्ञा के बिना मेरे क्षेत्र सीमा में आ गई। बाहर आकर उसके सामने खडे होकर कहने लगा, ओ बकरीबाई! उसे देखकर भयभीत हुई बकरी खडी हो गई और कहने लगी, महाराज! मुझे माफ कर दो। कल शाम को मैं मेरे समुदाय से बिछड चुकी थी। अपनी सुरक्षा हेतु कल रात मैंने आपके निवास के पास विश्राम लिया। अब आपको जो सजा देनी है वह दे दो। आपकी शरणागत ऐसी मैं किसी अन्य प्राणी का शिकार नहीं बन सकती हूँ। कल रात जब कोई भी प्राणी मुझपर आक्रमण करना चाहता था तब मैं उनसे यही कहती थी ठहरो जरा मेरे स्वामी सिंहराज अंदर हैं यदि आप मुझे कुछ करोगे तो मेरे स्वामी आपपर आक्रमण करेंगे। जहाँपनाह! मुझे पता है कि मैं जंगल में भटक गई हूँ इसलिए मुझे भय है। संसार का नियम है कि जब भी कोई डरता है तब वह राजा के आश्रित हो जाता है। राजा उसके आश्रित अर्थात् शरणागत की सुरक्षा करता है। आप मेरी रक्षा करो। सिंह ने सोचा आश्रित और शरणागत बनकर आयी हुई बकरी का शिकार मेरी वीरता को शोभा नहीं देता। शरणागत की रक्षा करना मेरा धर्म है।

एक सिंह की शरण में आयी हुई बकरी यदि सुरक्षित हो सकती हैं तो नमोत्थुणं द्वारा परमपुरुष सिंहत्त्व से संयुक्त परमसत्त्व संपन्न परमात्मा को पुरिससीहाणं पद द्वारा चरणों में नमस्कार कर शरण का स्वीकार करनेवाले हम कितने सुरक्षित हो सकते हैं। आश्रित होने में हमारा विश्वास कितना प्रबल है। सिंह शरण्य हैं । परमात्मा तो उससे कई ज्यादा अधिक परम विशेष शरण्य हैं। बकरी को जितना सिंहमें विश्वास है उससे कई अधिक हमें परमात्मा में विश्वास होना चाहिए।

पुरिससीहांण पद को समझाने के लिए शास्त्रकारों ने गुण और लक्षण ऐसे दो प्रकार बताए हैं। उपमा, उपमान और उपमेय तीनों को समझने के लिए ये दोनों प्रकार की अवधारणा उपयुक्त हैं। गुण और लक्षण में अंतर स्पष्ट हैं। लक्षण पहचान है। जैसे की हमनें सिंह में दस लक्षण देखें। यह लक्ष जातिगत सिंह में पाए जाते हैं पर इन लक्षणों में गुण है वे गुण सिंह में नहीं पाए जाते हैं। जैसे शूरता, सिंह में दुश्मन के शिकार के लक्षण रुप में पाया जाया है जब की परमात्मा में यह लक्षण गुण स्वरुप हैं। कर्म और कषाय के अवसर में परमात्मा पूर्ण शूरत्त्व के साथ उसका सामना करते हैं। यहीं लक्षण अन्य की सुरक्षा के समय परमलक्षण महालक्षण बन जाता है। जैसे उत्तरवाचाल में जनसमुदाय के रोकनेपर भी परमात्मा महावीर चंडकौशिक के वन में पधार गए। शूरत्त्व का प्रदर्शन करने के लिए नहीं पधारे थे परंतु जीवों की वृति का परिवर्तन वे खामोशी पूर्वक करते थे। शूरवीरता का सामान्य प्राणी में प्रदर्शित होना लक्षण है और वही शुरवीरता जब ज्ञानी पुरुष में परिणमित होती है तब वह ज्ञानी पुरुष का गुण बन जाती है। इसीकारण गणधर भगवंतो ने तीर्थंकर महापुरुषों को सिंह की उपमा दी है। सिंह जिसतरह वन मे अकेला घूमता है। उसी तरह महाप्रभु भी साधना काल में अकेले विचरण करते है। परमात्मा महावीर ने अकेले ही दीक्षा ली थी और अकेले ही साढे बारह वर्षतक विचरण करते रहे। शक्रेन्द्र महाराज की साथ रहने की बिनती का भी

उन्होंने स्वीकार नहीं किया था। सिंह जैसे वन के किसी भी विभाग में प्रतिबंध रहित चरता है वैसे ही परमात्मा अप्रतिबंध विहारी होते है। चलीए परमवनविहारी पुरुषसिंह परमात्मा के आश्रित और शरणागत होकर, परमस्वामी के अनुगामी होकर उनके पीछे पीछे चलते हैं। अब हम वन विभाग के उस उपवन में पहुंच रहे है जहाँ बहुत बडा जल सरोवर हैं। सरोवर के तट पर प्रभात की सुनहरी किरणों के साथ कल हम वन विहार करते है। हमारी कल की प्रभात हमें अद्भुत दर्शन कराएगी। स्वच्छ निर्मल पवित्र होकर पुरिससीहाणं के मंत्रोच्चार के साथ कल के लिये तैयार रहे ।

/// नमोत्थुणं पुरिससीहाण /// /// नमोत्थुणं पुरिससीहाण /// /// नमोत्थुणं पुरिससीहाण ///

नमोत्थुण पुरिसवर पुंडरियाणं

पुंडरिक अर्थात् कमल। प्रकृति में पुंडरिक एक ऐसा तत्त्व है जिसके आकार का सूर्य के साथ प्रत्यक्ष संबंध हैं। सूर्योदय होते ही खुलना, खिलना, खुश होना और करीब आनेवालों को खुश करना कमल की स्वाभाविकता है। कीचड में उत्पन्न होकर और उससे आलिप्त होना कमल की साहजिकता है। ऐसी स्वाभाविकता और साहजिकता के कारण उसका देवलोक में दैवीय और मानव में चैतसिक स्थान रहा है। महापुरुषों की प्रकृति संसाररुपी कीचड से अलिप्त रहने के कारण उनके चरण, हृदय, हाथ, मुख, मस्तक आदि को कमल की उपमा दी गई है। नमोत्थुणं में प्रगट हुआ यह पुंडरियाण पद भगवतसत्ता के लिए उपयुक्त शब्द है। जो स्वयं संसार से अलिप्त है और उनके चरणों में नमस्कार करनेवालों को भी जो अलिप्त करने का सामर्थ्य रखते हैं। इसतरह कमल यह भौतिक प्रकृति का तत्त्व है और चैतसिक प्रकृति का सत्त्व है। सत्त्व और तत्त्व जब परमतत्त्व के साथ जुड जाते हैं तब अमरत्त्व का वरदान बन जाते हैं। शास्त्रों में सूयगडांग सूत्र में पुंडरिक नाम का एक अध्ययन है। ज्ञातासूत्र में पुंडरिक नाम के चरित्र की बोध कथा भी प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त भी शास्त्र और साहित्य में पुंडरिक अनेक नाम से प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध नामों में से नव नाम के साथ साधना का विशेष संबंध रहा है। १. पुंडरिक, २. पद्म, ३. पंकज, ४. अरविंद, ५. अंबुज, ६. कमल, ७. जलज, ८. नलिनी, ९. सोमनस। इन नवों में पुंडरिक नाम का अत्यधिक महत्त्व हैं। ऐसे तो कमल का मुख्य गुणधर्म सभी में समाया हुआ है। फिर भी नाम के अनुसार उसकी व्याख्याएं उसकी विभिन्न पर्यायें प्रगट करती हैं।

नाम चाहे कोई भी हो पर उसका सहज स्वभाव असंगता है। इसी स्वाभाविकता के कारण इसे साधना में स्वतंत्र स्थान मिला है। कमल उत्पन्न कीचड में होता है। उसके बाद पानी में बडा होता है। परिपुष्ट हो जानेपर पानी से भी अलग हो जाता है। उसी तरह तीर्थंकर प्रभु जन्म कर्म से होता है। संसार के दिव्यभाव रुप पानी में बडे होते है। देव समुदाय उनकी सेवा में अलौकिक भोग सामग्री प्रदान करते है। उसका उपभोग करते हुए वे बडे होते है परंतु जिस तरह कमल पूर्ण रुपेण तैयार हो जानेपर कीचड और पानी के उपर आ जाता है। एक बार उपर आ जाने के बाद उसका दोनों से संपर्क टूट जाता है। उसी तरह अरिहंत परमात्मा कर्म रुप कीचड से और दिव्यभोग जल दोनों को छोडकर विरती भाव और सर्वज्ञता में आ जाते है। निर्लिप्त दशा में निसंग भाव वाले होते है।

पुंडरिक अर्थात् श्वेतकमल, पुरिसवर अर्थात् इन्दिवर अर्थात् पुष्कर। पुष्कर एक कमल का नाम हैं जिसे निलकमल कहते है। इससे एक बात स्पष्ट हो गई कि पुरिसवर और पुंडरिक का अर्थ कमल ही होता है परंतु दोनों कमल में अंतर यह हैं पुरिसवर अर्थात् निलकमल और पुंडरिक अर्थात् श्वेतकमल। श्वेतकमल शुभ्रता, दिव्यता और पवित्रता का प्रतीक है। निलकमल गौरव, गरिमा, महत्ता और उच्चता का प्रतीक है। इस पद में परमात्मा को श्वेतकमल और निलकमल दोनों की उपमा दी है। परमात्मा का श्वेतकमल का ध्यान जीवन में दिव्यता, भव्यता और पवित्रता प्रगट करता है और परमात्मा के निलकमल का ध्यान जीवन में अशुभता और विकृति का नाश करता

है। पद्मप्रभु का लांछन (चरणचिन्ह) लालकमल है और इक्कीसवें नेमनाथप्रभु का लांछन (चरणचिन्ह) निलकमल है।

पुर अर्थात् नगर। इस देह रुपी नगर में जो स अर्थात् सत् प्रगट करता है वह पुरुष है। जो हमारे देहरुपी नगर में रही हुयी सुप्त चेतना को प्रगट करता है वह उत्तम पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तमाणं है। जो जिनवाणी रुप सिंहनाद से सुषुप्त चेतना को जगाते है। जगत को जागरण का संदेश देते है। ऐसा सिंहत्त्व जिन में है वे पुरिससिहाणं है। वर अर्थात् श्रेष्ठ। लोगस्स सूत्र में वर के बाद उत्तम शब्द है। यहाँ उत्तम के बाद वर शब्द है। अर्थ दोनों का ही श्रेष्ठ है। समाधि के साथ जुडकर वरसमाधि जीवन की श्रेष्ठता प्रगट करती है और उत्तम समाधि मृत्यु की श्रेष्ठता प्रगट करती है। नमोत्थुणं की सर्वोपरि विशेषता यह है कि वह प्रारंभ से अंत तक हमें प्रभु के साथ बांधकर रखता है और इसी कारण हमारी जीवन समाधि और मृत्युसमाधि प्रभु चरणों में समा जाती है। कमल परमात्मा है या हम इसका उत्तर अर्थात् पुरिसवर पुंडरियाणं। जीवन के साथ वर शब्द जोडकर वर अर्थात् श्रेष्ठ ऐसा अर्थ करते हुए जीवन के साथ जुडे हुए श्रेष्ठत्त्व को हमारे जीवन के अंदर पुंडरिक बनकर प्रगट करनेवाले परमात्मा है। परमतत्त्व स्वयं तो पुंडरिक जैसे है परंतु जिनको उनका भावस्पर्श है वो भी पुंडरिक बन जाते है। इसलिए इस पद की समृद्धि नमोत्थुणं पुरिसवर पुंडरियाणं पद में प्रगट हो जाती है। जब तक हमें अंदर से पुंडरिक की स्पर्शना नहीं होती हैं तब तक नमोत्थुणं की साधना संपन्न होने का अनुभव नहीं होता है। सूत्र की संपन्नता और सफलता स्वयं सूत्र में ही समायी हुयी होती है। फिर भी बिना स्पर्शना के उसकी सार्थकता हममें परिणमीत नहीं होती हैं।

अंगशास्त्रों में सूर्यगडांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन का नाम पुंडरिक अध्ययन हैं। ज्ञातासूत्र में पुंडरिक और कुंडरिक नाम के दो भाइयों की चारित्रमय बोधकथा आती है। इसमें संयम के वैशिष्ट्य का महत्त्व बाताया गया है। यह भी महाविदेह क्षेत्र के पुंडरीकिणी नगरी की कथा हैं। इनके नामों संबध भी कमल से जुडा हुआ है। पुंडरीक और कुंडरीक के पिता का नाम महापद्म हैं और बोध कथा का प्रारंभ नलिनीवन उद्यान में होता हैं। इस कथा में यह बताया गया हैं कि कुंडरीक एक हजार वर्ष तक संयम का पालन करते हैं परंतु अंत में संयम से विचलित हो जाने के कारण अल्प समय तक संसार उपभोग करके सातवीं नरक में जाते हैं। पुंडरीक जो हजारों वर्ष तक कीचड जैसे संसार में राज्योपभोग करते रहे परंतु कमलवत् निर्लेप रहकर अंतिम समय में अल्प दिनों में संयम का पालन कर समाधिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त कर सर्वार्थसिद्ध में उत्पन्न हुए। वहाँ से महाविदेह होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

भरतक्षेत्र के पूर्व और उत्तर दिशा का मध्यकोण जिसे हम ईशानकोण कहते हैं उसकी धुरी से सीधा 19,31,50,000 कि. मी. दूर महाविदेह क्षेत्र है। इस महाविदेह क्षेत्र में बत्तीस विजय है। महाविदेह क्षेत्र में विभागों को विजय नाम दिया है। इन बत्तीस विजय में एक विजय का नाम पुष्पकलावती है। इस विजय के राजधानी का नाम पुंडरिकिणी नगरी है। जिसमें अभी श्री सीमंधर स्वामी भगवान बिराजमान हैं। यह पूरी नगरी कमल जैसी है। जिसतरह खिला हुआ कमल पद्मसरोवर के अंदर सुशोभित होता है वैसे ही पुष्करविजय में पुंडरिक नगरी सुशोभित होती है। नगरी का प्रत्येक खंड कमलपत्र के आकार जैसा होता है। प्रत्येक खंड में रहे हुए छोटे-छोटे ग्राम, नगर,

पुर, पाटण सबकुछ कमल के आकार का है। ऐसे ही एक सुंदर कमल के अंदर कमल के आकार का तीन प्राकारोंवाला समवसरण है। अद्भुत लगनेवाले इस समवसरण में परमात्मा वर्तमान में चार से सात सुबह और शाम को चार से सात में देशना फरमाते हैं। भरतक्षेत्र में जब शाम होती है तब महाविदेह क्षेत्र में सुबह होती है और जब भरतक्षेत्र में सुबह होती हैं तब महाविदेहक्षेत्र में शाम होती है। देशना के पूर्व और पश्चात् दो बार नमोत्थुणं का पाठ होता है। देशना के प्रारंभ में गणधर भगवंत नमोत्थुणं का पाठ करते हैं और देशना के अंत में शक्रेन्द्र महाराज पाठ करते हैं। शक्रेन्द्र महाराज के द्वारा किया जानेवाला पाठ शक्रस्तव कहलाता है।

इस अद्भुत समवसरण के सोपान भी अद्भुत होते है। सोपान का आकार कमलपत्र जैसा होता है। आपने विविध प्रकार के पत्थरोंवाले सोपानों की सीढियां देखी होगी परंतु सीमंधर स्वामी के समवसरण में के सोपान, सोपान होते हुए भी न तो सिमेंट काँक्रेट के हैं न तो पत्थरों के हैं। ये है अत्यंत कोमल कमलपत्र जैसे फिर भी पाँव रखते हुए पत्थर के सोपान की तरह हमारा संतुलन बनाए रखते हैं। आँखे बंद कर अपने भाव चित्त में प्रवेश करे और आत्मदर्शन करें तो अनुभव होगा कि आप स्वयं कमलपत्र के सोपान चढ रहे हैं। आरोहण करते हुए आप सीधे समवसरण के तीसरे प्रकार में पहुंच चुके हैं। शांत चित्त से गहरे लंबे-लंबे साँस लेते हुए अनुभव कीजिए शांत शीतल वातावरण में सीमंधर स्वामी सामने कमलासन पर बिराजमान हैं। कमलपत्र के आकार के पादासनपर परमात्मा के चरण कमल है। मन ही मन स्वयं के भाग्यशाली होने का अनुभव कीजिए। गणधर भगवंतो की आज्ञा लेते हुए पहुंच जाइए परमात्मा तक। **जहेत्थ मए संधि झोसिए भवति एवमन्नत्थ संधि दुज्झोसिए भवति -** जैसा अवसर मुझे आज मिला हैं वैसा दुबारा मिलना मुश्किल है। मैं कितना भाग्यशाली हूँ। दूसरों को कहाँ ऐसा अवसर उपलब्ध हो सकता है। ऐसा सोचते सोचते परमात्मा के चरण कमल तक पहुच जाईए। सर्वात्मना समर्पित होकर नमन कीजिए, मस्तक झुकाइए और बोलिए नमोत्थुणं पुरिसवर पुंडरियाणं । परमात्मा की परम पवित्र उर्जा आपके मस्तक से भीतर प्रवेश कर रही हैं। आप सकारात्मक उर्जा से भर रहे है। आप स्वयं को शुद्ध निर्मल, पवित्र अनुभव कर रहे है। शास्वत सिद्धत्त्व आपमें प्रगट हो रहा है।

ऐसे ही कुछ अद्भुत क्षणों में उच्च अनुभव की मानसिक दशा में मीरा ने परमात्मा के चरणस्पर्श का अनुभव करा था। इस अनुभव को उन्होंने तिलक राग में गाकर व्यक्त किया था -

मन रे परस प्रभु के चरण
कंवल कोमल सुभग शीतल त्रिविध दुःख हरण....
मन रे परस पभु के चरण...।

प्रभु के चरणों का स्पर्श कैसा होता है इसका अनुभव गीत के द्वारा मीरा ने यहाँ व्यक्त किया है। प्रभु के चरण त्वरित खीलेहुए फुलों की तरह कोमल होते हैं। सुभग अर्थात् ऐसे भाग्यशाली चरण जिनका स्पर्श करनेवाला भी भाग्यशाली बन जाता है। स्पर्श में स्नेह की अनुभूति और स्नेह में उर्जा की अनुभूति होती है। संसार की उर्जा में उष्मा होती है परंतु परमात्मा की उर्जा शीतल होती है। ये चरणकमल आधि, व्याधि और उपाधि इन

तीनों ही ताप का हरण करते हैं। जन्म जरा मरण इन तीनों दु:खों का हरण करते हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों दोषों से मुक्त करते हैं।

वर्तमान चोवीसी के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान ने इसी पुंडरिकिणी नगरी में वज्रसेन नाम के तीर्थंकर भगवान के सान्निध्य में तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया था। इसी नगरी में भगवान ऋषभ वज्रनाभ नाम के चक्रवर्ती थे। बीस स्थानक तप की आराधना इसी नगरी में की थी। सर्व जीवकरु शासन रसिक की भावना करते हुए मेरे आपके और हम सबके सत् स्वरुप को प्रगट करने की भावना की थी। तीर्थंकर नामकर्म का विपाक उदय होते ही आप भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के रुप में प्रगट हुए और सृष्टि में सर्वप्रथम सत् स्वरुप का उद्घोष प्रगट किया। इस महाघोष में अनंत जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया। अनेक जीवों ने शासन में स्थान पाया और अनेक जीवों ने सन्मार्ग पाया। मरीचि के रुप में रहे हुए भगवान महावीर की आत्मा में परमात्म बीज का बीजारोपण हो गया। भरत क्षेत्र में तो जैसे एक से चौवीस भगवान के मोक्ष का सेतु (पुल) बन गया। इसतरह पुंडरिकिणी नगरी से हमारा गहरा संबंध रहा हैं।

चैत्री पूर्णिमा के दिन उपवास करके विधि विशेष के साथ किए जानेवाले तप का नाम भी पुंडरिक तप है। नंदि सूत्र की स्थविरावली में आचार्य देवर्द्धिगणि द्वारा **खमणं** और **पसन्नमणं** शब्दों से स्तुत्य वाचनाचार्य आर्यनंदिल द्वारा प्रतिबोधित और पद्मिनीखंड के पद्मकुमार नामक सार्थवाह की पत्नी वैरोट्या ने चैत्री पूर्णिमा का पुंडरिक तप का उपवास किया था। आचार्य नंदिल ने स्तुतिपरक **नमिऊण जिणं पासं** इस मंत्र गर्भित स्तोत्र की रचना की थी। वैरोट्या यह धरणेन्द्र देवी का पूर्वभव था। इसकी कथा बहुत रोचक है परंतु हमें आज पुंडरिक की चर्चा करनी है इसलिए इतना उल्लेख काफी है।

ग्यारह अंगों में दूसरा सूत्र सूयगडांग सूत्र हैं। उसके छटे अध्ययन का नाम वीरस्तुति अर्थात् पुच्छिस्सुणं हैं। दिवाली में इसका स्वाध्याय किया जाता है। उसकी बाईसवी गाथा में परमात्मा महावीर को पुष्पों में अरविंद जैसे कहे हैं। अरविंद अर्थात् क्या? अ अर्थात् अनंत, र अर्थात् रमणता और विंद अर्थात् वृंद। अरविंद अर्थात् अनंत में रमणता का वृंद-समूह। जिस तरह पुष्पों के समूह में कमल अपूर्व शोभा को प्राप्त होता है उसीतरह परमात्मा हम सब के आत्मीय रमणता के आनंद के कारण है। तीर्थंकर के च्यवन कल्याणक के समय तीर्थंकर की माता को जो स्वप्न आते हैं उसमें दसवां स्वप्न पद्मसरोवर हैं। इस समय माता ऐसे सरोवर के दर्शन करती है जो अनेक पद्मों से आच्छादित होता हैं। वह पद्म सरोवर कमलों से इसतरह आच्छादित होता है कि पूर्ण भरे हुए सरोवर में से एक भी बूँद पानी की या पत्र नहीं दिखाई देते हैं। इसतरह कमलों से भरपूर पद्म सरोवर को तीर्थंकर की माता केवल देखती ही नहीं है पर संपूर्ण सरोवर को मुख के द्वारा भीतर प्रवेश करता हुआ अनुभव करती है। माता को आया हुआ यह स्वप्न पुरिसवर पुंडरियाणं के जन्म की पूर्व सूचना है।

ऐसे भी स्पप्न विवरण में प्राय: कमल का स्वप्न होता हैं। हमारे श्रमण भगवान महावीर को छद्मस्थ अवस्था में दस स्वप्न आए थे उसमें छटा स्वप्न कमल था। उसी तरह भगवान महावीर निर्वाण के पूर्व हस्तिपाल

राजा की ऋजुका सभा में बिराजमान थे। तब अंतिम देशना के प्रारंभ होने से पूर्व पुण्यपाल राजा को उसी रात्री में सोलह स्वप्न आए थे। राजा के बिनती करने पर परमत्मा ने स्वप्नों का फलकथन करा था। इनफलादेंशोंको भी देशना की मान्यता प्राप्त रही। इन स्वप्नों में छट्ठा स्वप्न पद्म सरोवर था। इस स्वप्न की विचित्रता यह थी कि इस सरोवर का नाम तो पद्म सरोवर था परंतु उसमें एक भी कमल-पद्म नहीं था। उसने परमात्मा से पूछा प्रभु! यह कैसा विचित्र स्वप्न कि जिस सरोवर में एक भी कमल न हो उसे पद्म सरोवर कैसे कहा जा सकता है ? प्रभु ! ऐसा सोचते सोचते मैं ने सरोवर के आसपास घूमते हुए पूरे सरोवर को प्रदक्षिणा दी। प्रदक्षिणा करते हुए भी पूरे सरोवर में मैं ने एक भी कमल नहीं देखा। वापस लौटते समय गाँव में प्रवेश करते हुए कुडे पर कमल उगा हुआ देखा यह देखकर मुझे अत्यंत आश्चर्य हुआ। आप मुझे स्वप्न का रहस्य समझाइए।

परमात्मा महावीर ने इस स्वप्न का रहस्य प्रगट करते हुए कहा कि, जैसे ये सरोवर खाली दिखाई दे रहा है उसी तरह मेरे निर्वाण के बाद भरतक्षेत्र रुप सरोवर तीर्थंकर रुप कमल से रहित हो जाएगा। इस तरह तीर्थंकर रुप कमल इस भरतक्षेत्र में नहीं रहेगा ऐसा सुनकर तीर्थंकर के विरह की वेदना हमें अवश्य होती हैं परंतु गणधर भगवंत कहते हैं, सरोवर खाली था पर कूडे पर कमल उगा था उसी तरह संसार के कूडे में भी पुरिसवर पुंडरियाणं का कमल नमोत्थुणं का द्वारा खिलता है। कोई भी समय हो कोई भी क्षेत्र हो परंतु हमारे साधना के सरोवर में नमोत्थुणं द्वारा परमात्मा सदा उदित रहते हैं। प्रभु के शास्वत स्वरुप की अनुभूति अर्थात् नमोत्थुणं **पुरिसवर पुंडरियाणं**।

स्वप्न का उत्तरार्ध समझाते हुए परमात्मा कहते हैं, वत्स ! कूडे के उपर का कमल इस रहस्य को प्रगट करता हैं कि परिवार कूडे जैसा हो तब भी माता पिता कमलवत रहेंगे। आप आँख बंद करो राजन् ! तुम्हारे भीतर भविष्य में होनेवाला तुम्हारे स्वप्न का रहस्य ध्यान में प्रगट हो रहा है। राजा पुण्यपाल ने आँखे बंद कर एक अजीब घटना देखी उन्होंने देखा कि एक आदमी एक घडे में से सात खाली घडे में पानी उंडेल रहा था। आश्चर्य तो इस बात का था कि समान दिखाई देने वाले सातों घडे इस एक घडे में से भरे जाने के बाद भी कोई घडा अपूर्ण या खाली नहीं था। साथ ही उसने एक ओर आश्चर्य देखा कि, जिस एक घडे में से सात घडे भरे गये थे उन सात घडों में से खाली हुए एक घडे को भरना शुरु किया गया तब ये सात घडे मिलकर उस खाली हुए एक घडे को भर नहीं पाऐं। राजा ने कहा, भगवंत! ऐसा विचित्र दृश्य देखकर मैं सहसा जाग उठा। भगवान ने कहा, वत्स! भविष्य में एक समय ऐसा आयेगा कि माता पिता सात-सात बच्चों का पालन पोषण कर पाऐंगे परंतु सात-सात बच्चे एक साथ मिलकर माँ या बाप का पोषण नहीं कर पायेंगे। दोनों का एक साथ अवसर आते ही बच्चे माँ-बाप को बाँट लेंगे। माता पिता एक दूसरे के पास बारी बारी से रहेंगे। आजकल आप व्यवहार में देख रहे हैं कि माता पिता की अवदशा हो रही है। अब तो सात नहीं दो बेंटे होते हैं एक माँ को रखता है ओर एक बाप को रखता है। हमारा एक परिचीत कपल हमारे पास आया था। कह रहे थे, हर वक्त हम आपके पास आकर एक दिन रुककर चले जाते है परंतु इस बार हमने आठ दस दिन का प्रोग्राम बनाया हैं क्योंकि हम दोनों यही पर एक दूसरे के साथ आए है वहाँ तो हमें बच्चों ने बाँट रखा हैं। वापर ने को पैसे नहीं देते हैं, घरमें फोन भी लॉक रहता है। हम एक दूसरें से सुख-दुःख की

बातें भी नहीं कर सकते हैं। पुत्र-प्रेम के पागलपन में स्वयं के जीवन के जिम्मेवारी को बच्चों को सोंप देने वाले माता पिता की दुर्दशा को देखकर आपके दिखाई देनेवाले इस भ्रमित मिथ्यासंसार के प्रति घृणा होती हैं। मुझे समझ में नहीं आ रहा कि इतना कुछ बीतने के बाद भी आपको यह संसार प्रिय कैसे लगता हैं।

इस तरह कमल प्रत्यक्ष में प्रेमरुप में और परोक्ष में प्रतीक रुप में संसार में पूजा जा रहा है। आदर-सत्कार, सुशोभन-शृंगार, स्वप्न-साक्षात्कार आदि में कमल का अपना महत्त्व रहा है। हमारे देह में कितने कमल हैं पता है आपको? नीचे से शुरु करते हुए पहले पाँव को चरण कमल कहा जाता है। उसके बाद नाभिकमल, हृदयकमल, वदनकमल, नयनकमल आदि पार्थिव देह के अनेक नाम कमल से संबधित है। अपार्थिव आत्मसत्ता के लिए कमल शब्द का प्रयोग होता है। मुनि मानतुंगा चार्य ने भक्तामर स्तोत्र के आठवें श्लोक में परमात्मा को कमलदल समान कहें है। हे प्रभु आप कमल के पत्रदल समान हो। जिसतरह कमल पत्रपर पडा हुआ जलबिंदु मोती की शोभा को प्राप्त होता है। प्रभु! पानी की बुंद की क्या ताकत है कि वह मोती की शोभा को प्राप्त करे। उसी तरह मेरे शब्दों में क्या ताकात हैं कि स्तोत्र का मूल्य प्राप्त करें परंतु परमात्मा आपके अचिंत्य प्रभाव के कारण मेरे शब्द स्तोत्र की मूल्यता को प्राप्त हो रहे हैं।

आठवी गाथा में परमात्मा को कमलदल की उपमा देने वाले आचार्यश्री नववीं गाथा में परमात्मा को सूर्य की, भक्त को कमल की और संसार को सरोवर की उपमा देते हुए कहते हैं, रात्रि के समय में बंद कमल सुबह होते ही प्रभात में जब सूर्य की किरणें धीमे धीमे धरती का स्पर्श होते ही खिल उठता है। सूर्य हजारों कि.मी. दूर होता हैं परंतु उसकी प्रथम किरण धरतीपर आते ही कमल खिलना शुरु हो जाता है। कमल को सूर्य के पास जाकर पार्थना नहीं करनी पडती है या सूर्य को कमल के पास जाकर उसका स्पर्श करना नहीं पडता है और न तो कमल को उपदेश देना पडता है। बस केवल सूर्य का अस्तित्त्व और किरणों का अवतरण मात्र कमल के खिलने में सहायक हो जाता है। इसीतरह सिद्ध परमात्मा हमसें सात राजुलोक दूर है। प्रगट अरिहंत परमात्मा सीमंधर स्वामी भले ही सदेह धरती पर विचरण करते हैं परंतु वे भी हमसें 19,31,50,000 कि. मी. दूर है। ऐसा सोचते हुए हमें घबराना नहीं है। परमात्मा सूर्य है। परमात्मा की कृपा किरण है। हम कमल है। परमात्मा रुपी सूर्य का कभी अस्त नहीं होता। **नास्तं कदाचिदुपयासि....** रात में कितनी भी लाईटे हो कमल को वे उल्लसित नहीं कर सकती है। सूर्य की कुछ किरणें ही कमल को खिलने को काफी है। हे परमतत्त्व आप की अपार करुणा में से कुछ किरण ही हमारे लिए बस हैं। लाईटों की तरह अन्य कोई व्यवस्था हममें परिवर्तन करने में समर्थ नहीं है।

आगे छत्तीसवी गाथा में पंकज और पद्म दो शब्द मिलते हैं। हे प्रभु! आप जहाँ जहाँ चरण धरते है वहाँ वहाँ देव सुवर्ण कमल बिछाते हैं। सोने के होते हुए भी ये कमल मक्खन की तरह कोमल होते है। प्रभु! ऐसे देव निर्मित सुवर्ण कमल पर चरण रखकर आप समवसरण में पधारते हैं। मेरे पास ऐसे सोने के कमल भले ही नहीं है परंतु मेरा हृदय कमल भी कोमल है। देखिए मैं ने आप के चरण कमल में मेरा हृदय कमल बिछाया है। पधारिए आप मेरे हृदय कमल में, पवित्र कीजिए मेरे जीवन का जलाशय।

चरण कमल के बाद नाभिकमल आता है। जलाशय के कमल की तरह ही हमारा नाभि कमल भी रात को बंद हो जाता है। सूर्योदय के साथ ही जैसे जलाशय का कमल विकसित होता है वैसे ही हमारा नाभि कमल भी सूर्योदय के साथ खिलता है, खुलता है और प्रगट होता है। इसी कारण भगवान महावीर एवं अन्य सभी तीर्थंकरों ने रात्रिभोजन नहीं करने की प्रेरणा, प्रत्याखान और प्रज्ञापना दी है। नाभिकमल के मध्यभाग से निकली हुई नाल(डंडी) नीचे उर्जा केंद्र के मुल आधार में समायी हुई होती है। योगिलोग इसे मुलाधार चक्र कहते है। यह नाल मुलाधार के कमल के मध्यभाग से निकलकर अन्य चक्रों का आवर्तन करती हुई सहस्त्रार चक्र तक पहुंचती है। मध्यमार्ग में अन्य चक्रों के साथ जुडकर हमारे जीवन और जगत् के उर्जामय संबंधो की व्यवस्था का संतुलन रखती है। हमारे नाभिकमल में हमारे जीवन का स्त्रोत समाया हुआ है। नाभिकमल खुलते ही आनंद और उल्हास होता है। हमारे अस्तित्त्व का केंद्र नाभि है। माता के गर्भ में हम नाभि से ही जुडे हुए होते हैं। माता की उर्जा नाभि के द्वारा प्रवाहित होकर हममें जीवन के रुप में प्रगट होती है। जब हम स्वयं अपनी उर्जा का संचय करने में समर्थ हो जाते है। तब नाभि के साथ का हमारा संबंध संपन्न होता है। जैसे माता के साथ हमारा उर्जामय संबंध है वैसे ही परमात्मा के साथ भी हमारा उर्जामय संबंध हैं। केवल समझना यही हैं कि मातृ संबंध दृश्य और भगवत् संबंध अदृश्य हैं। जब तक हम हमारा सामर्थ्य प्रगट न कर सके तब तक हमें परमात्मा के संबंध को घनिष्ठ बनाए रखना चाहिए। लोगस्स सूत्र में हमें नाभि के द्वारा परमात्मा के साथ जोड रखने की साधना पद्धति है। यह पद्धति वैज्ञानिक भी हैं और एक शास्वत योगिक योजना भी है। परमात्मा के साथ सुमिलन साधकर साक्षीभाव के साथ सिद्धत्त्व तक पहुंचने का एक सफल प्रयोग अर्थात् लोगस्स।

तीसरा हृदय कमल है। हे पुरिवसर पुंडरियाणं! हमनें हमारे हृदयकमल को तेरे चरणकमल में समर्पित किया हैं अब संसार के साथ हमारा हृदय पूर्वक संयोग न हो इसका ध्यान आपको रखना है। पर्युषण में शास्त्रों में कल्पसूत्र और अंतगड सूत्र का स्वाध्याय होता है। क्योंकि इस शास्त्र में अनेक जगह हृदय कमल का निरुपण प्रस्तुत किया है। जैसे कि अंतगड सूत्र में देवकी माता का आधिकार आता है। दो-दो मुनियों के समुदाय में छह अणगार तीन बार गोचरी को पधारते हैं तब तब देवकी माता का हृदय कमल की तरह खिल जाता है। शास्त्र में इसके लिए **परमसोमणस हियया** शब्द का अद्भुत प्रयोग दिया है। कभी इसका ध्यान करके तो देखिए जब देवकी माता अपने नयनकमल अणगार के उपर बिछाती है उसका हृदयकमल खिल जाता है। कमल की प्रत्येक पंखुडी में भगवान नेमिनाथ के दर्शन होते है। दिखते हैं संत और दर्शन होते है भगवंत के। आदर करती है संतों का और सत्कार होता है भगवंत का। चरण कमल संतो के और चरणरज भगवंत की। देवकी माता में इतना अद्भुत सामर्थ्य प्रगट होता है कि वह तीर्थंकर नामकर्म का निकाचन करती हैं। अंतगड सूत्र में तो जगह जगह पर हृदयकमल के अद्भुत ध्यान प्रस्तुत हैं।

हे पुरिसवर पुंडरियाणं! आज मेरा हृदयकमल आपके चरणकमल में अर्पित हो रहा है। मेरे **परमसोमणस हियया !** पधारो मेरे अंत:करण में। भगवन् ! मेरे नाभि कमल में आपका आगमन होते ही आपके

परम अस्तित्त्व के स्पर्शन और दर्शन की मुझे दिव्य अनुभूति प्राप्त हो रही है। मेरे भीतर के नयनकमल आनंदविभोर हो रहे है। मेरे आभ्यंतर में आपका आगमन होने से मेरा हजारों पंखुडी वाला सहस्त्रारकमल खिल उठता है वह खिलता है, खुलता है तो उसमें आपकी प्रसन्नता का पवित्र स्त्रोत बहने लगता है। आपके चरणकमल और मेरा मस्तकमल का आज अद्भुत संयोग हुआ है वह मेरा संगम तीर्थ बन गया। आपका तीर्थत्त्व मेरे इस तीर्थ में प्रगट हो गया। आपके साक्षात स्वरुप की मुझमें अनुभूति हो रही है।

प्रभु के ऐसे साक्षात स्वरुप के दर्शन करके भी पुन: हम इस संसार में लौट आते हैं। संसार रुप सरोवर के इस तलघर में राग द्वेष का कीचड जमा है। राग द्वेष के घमशान युद्ध में संकट हरण चरणकमल के ध्यान के दो अद्भुत प्रयोग भक्तामर स्त्रोत्र में प्राप्त होते है। कमलवन और कमलरज का ध्यान। दो परिस्थिति में मानव को हताशा और निराशा होती है - राग और रोग में। राग से द्वेष विषय कषाय मोह माया आदि समझे जाते हैं। रोग से हताशा, निराशा, मानसिक विह्वलता और देह से संबधित भयंकर रोग आदि समझे जाते हैं। रागजन्य स्थिति में कमलवन का ध्यान करना चाहिए और रोगजन्य स्थिति में कमलरज का ध्यान करना चाहिए। कमलवन के ध्यान में स्वयं को मध्य में स्थापित करते हुए स्वयं के चारों ओर वृत्ताकार में वन उपवनों को निर्मित करें। वन का कोई भी स्थान तनिक मात्र भी खाली नहीं होना चाहिए। प्रतिस्थान में कमल हो और प्रति कमल पर परमात्मा के चरणयुगल प्रस्थापित हो। जहाँ देखो वहाँ दूरदूर तक चारों तरफ चरण युगल सहित कमलवन के दर्शन हो रहे है। कमल का सौंदर्य, शीतलता, सुवास का अनुभव हो रहा है। संपूर्ण वातावरण हमारे भीतर की आकुलता व्याकुलता को समाप्त कर रहा है। शांत, निरव, एकांत वातावरण परमात्मा की वीतरागता का अनुभव करा रहा है।

दूसरा ध्यान है कमलरज का। आप जानते हो प्रत्येक पुष्प के मध्यभाग में कर्णिका के ऊपर पुष्प की रज होती है। इसे पराग भी कहते है। इसी में से सुवास निकलती हैं। कमल के पराग का बहुत महत्त्व होता है। कमल के नाल में निहित तंतु सुदीर्घ होता है। तान लेने पर वह इलास्टिक की तरह खींचता है पर टूटता नहीं। इसीलिए प्रेम में कमल शब्द का अधिक प्रयोग होता है। इसी दीर्घता के कारण इसका पराग भी शक्ति संपन्न होता है। पराग को पुष्ट होने का अवसर मिलता हैं तब वह एक अलग फूल का रुप लेता है। जो समय के साथ फ़ल बन जाता है। जिसे कमलगट्टा कहा जाता है। इसके सुख जानेपर दानों की माला बनती हैं जिसका लक्ष्मी प्राप्ति के लिए मंत्र जप में उपयोग किया जाता है। यह सबकुछ बनने से पूर्व जब मात्र रज होती है उसका अंश मात्र भी प्राप्त हो तो वह अनेक रोगों का नाश करने में समर्थ होता है। इसे अमर वरदान माना जाता है। भयंकर रोग की स्थिति में परमात्मा के दोनों चरण कमल के उपर प्रस्थापित हो उसका स्पर्श करते हुए चरणरज लेकर रोगी के उपर लगाया जाता हैं तो भयंकर रोग में भी समाधि प्राप्त होती है।

हे परमतत्त्व! भवभवांतर से हम इस संसार के राग द्वेष के भयंकर युद्धक्षेत्र में युद्ध कर रहे हैं। जीत जीत कर हार रहें हैं। इस जन्म में भी तो नव लाख जीवों के साथ युद्ध किया। स्ट्रगल किया, किसी को धक्का मारा, किसी को दूर किया, किसी को हटाया, किसी को हराया तब मैं ने जन्म लिया। जीत जीत के हारा और हार हार कर जीता

हूँ। अब तेरे इस पंकजवन में मुझे आश्रय दो। मेरे भव, भय और भ्रम को मिटा दो। समर्पण का स्वीकार करके मुझे अपने चरणों में सम्हालों। इसीतरह परमतत्त्व! मुझे देहजनित रोग से मुक्ति की याचना नहीं परंतु देह और आत्मा के भेद की अनुभूति की कामना है। मुझे स्व में स्थिरता और स्वस्थता चाहिए। आपके चरणकमल का पराग मुझे राग और रोग से मुक्त कर रहा है। मुझे व्यक्ति रुप में होते हुए भी आप परमशक्ति की मुझमें अनुभूति हो रही है। मंत्र लीजिए मुक्ति दीजिए। देखिए अब हमारा मंत्र सुनकर परमात्मा किस रुप में हमारे पास आते हैं और हमें मोक्ष मार्ग की ओर आगे बढाते हैं।

॥। नमोत्थुणं पुरिसवर पुंडरियाणं ॥।

॥। नमोत्थुणं पुरिसवर पुंडरियाणं ॥।

॥। नमोत्थुणं पुरिसवर पुंडरियाणं ॥।

नमोत्थुणं पुरिसवर गंधहत्थीणं

हस्ती उसे कहते है जो स्वयं की मस्ती में रहता है। गंधहस्ती उसे कहते है चाहे कितने ही मदमस्त हाथी हो परंतु एक गंधहस्ती वहाँपर पहुंच जाए तो सभी हाथियों का मद जर जाता हैं। गंधहस्ती को कभी किसी के साथ लडना नहीं पडता हैं। केवल गंधहस्ती की उपस्थिति मात्र काफी होती है। गंधहस्ती की गंध मात्र से सारे हाथी हस्तीशाला से बाहर निकल जाते है। तीर्थंकर परमात्मा को गंधहस्ती की उपमा इसलिए दी गयी है कि परमात्मा के विहार के स्पर्श के पवन की गंध मात्र से आस पास के सव्वासो जोजन में शत्रु सैन्य का उपद्रव, दुष्काल का उपद्रव, मार मरकी के उपद्रव रुप, क्षुद्र हाथी दूर से ही भग जाते है। उनको भगाने के लिए परमात्मा को किसी अन्य मंत्र की उपासना या प्रयास करने नहीं पडते हैं।

गंधहस्ती के साथ की उपमा तो सामान्य रुप से हमने देखी परंतु हमारे भीतर जब **पुरिसवर गंधहत्थीणं** का प्रवेश होता है। ध्यान शुरु हो जाता है। विषय-कषाय रुप, विचार-विकल्प रुप सारे विकार अपने आप शांत हो जाते हैं। जैसे गंधहस्ती के हस्तीशाला में आगमन होनेपर अन्य हाथी खंभे तोडकर भग जाते हैं। जटिल शृखंलाएं खुल जाती हैं। वैसे ही इस ध्यान से भवांतरो से चला आ रहा गाढ मित्थात्त्व टूट जाता है। जटील ऐसी ग्रंथिया खुल जाती हैं।

पुरिसोत्तमाणं पद मंगलदायक है। **पुरिससीहाणं** पद शूरताप्रदायक है। **पुरिसवर पुंडरियाणं** सौंदर्यवर्धक और सर्जनात्मक है। **पुरिसवर गंधहत्थीणं** पद उत्तेजनात्मक है। पुरिस और गंधहस्ती शब्द के बीच में जो वर शब्द दिया गया है वह अपना एक अलग महत्त्व रखता है। वर अर्थात् श्रेष्ठ यह तो आप बिल्कुल समझ गए। फिर भी कल के प्रवचन के बाद बहनों को इस श्रेष्ठता के बारे में पूछा गया तो खुश हो गई। कहने लगी, कौनसी चीज कब अच्छी लगती है इसका ज्ञान तो हमें बहुत होता है। साडी जब तक बाजार में होती है स्टँडपर लटकी होती है तब तक उसकी उत्तमता का परिचय नहीं होता है। जो साडी बजेट में फीट हो जाती है, पॉकेट में सेट हो जाती है वह श्रेष्ठ बन जाती है। दूसरी महिला ने कहा, इतना ही नहीं वह साडी जब पहनी जाती है तभी उसकी सही किंमत होती है। इतना ही नहीं पहननेपर किसीने पूछ लिया कितने की है? यदि कहा 400 रु. की तो सुनने वाले की आँखे चमकने लगी यह तो बडी सस्ती हैं बाकी हमनें इसे 600 रु. की देखी बस इतना सुनकर ही हमारी बहनों का रुबाब बढ जाता है। बहनें कहती हैं, हमारी पर्सनॅलिटी इसीसे बनती है। मैं आपसे पूछती हूँ कि, व्यक्तित्त्व व्यक्ति से बनता है या वस्तु से?

गंध के दो प्रकार है। पौद्गलिक और चैतसिक। पौद्गलिक गंध के दो प्रकार है - सुरभिगंध और दुरभिगंध। पौद्गलिक होने के कारण ये घ्राणेन्द्रिय का विषय होकर आत्मा में पौद्गलिक परिणति करता है। चैतसिक गंध के दो प्रकार है - आमगंध और निरामगंध। आम अर्थात् दोषित चारित्र और निराम अर्थात् निर्दोष चारित्र। परमात्मा निरामगंध कहलाते हैं। निर्दोष चारित्रवाले होते हैं। इसे सरलता से समझाते हुए ज्ञानी पुरुष कहते हैं - आमगंध

अर्थात् सदोष गंध। सदोषगंध में राग द्वेष जुडे हुए होते हैं। राग द्वेष रहित अर्थात् वीतराग भाववालों को निरामगंध होती है। रागद्वेष गंध में नहीं होते है। रागद्वेष नाक में भी नहीं होते है। रागद्वेष हमारे भाव में होते है।

रागद्वेष को पदार्थ और भाव में देखने के लिए हमें अपने व्यवहार जगत् को देखना होगा। एक बार मैं एक घर में अचानक गोचरी के लिए पहुंची। घर के श्रावकभाई खुश-खुश हुए। खुशी का कारण समझाते हुए उन्होंने कहा, बंबई में तो हमें आहार दान का अवसर नहीं मिलता है। आज तो मैं भाग्यशाली हो गया। ऐसा कहकर आग्रहपूर्वक आहार बहराने लगे। एक-एक पदार्थ की प्रशंशा करते हुए लेने का आग्रह करते थे। कोई चीज नहीं ली तो कहते थे ये बहुत ही टेस्टफुल है। इसे अलग लो। किसी पदार्थ को मिक्स भी करने नहीं दे रहे थे। मैंने कहा हम गोचरी टेस्ट देखकर नहीं लेते हैं। आहार की ऐसी लेन-देन चल रही थी कि अचानक मेरा ध्यान गया कि घर की गृहिणी बैठी हुई रो रही थी। मैंने आश्चर्य से पूछा, क्या हुआ आपको? आप गोचरी बहेराने भी नहीं आयी और रो भी रही हो, क्या बात हैं? क्या हुआ पता है आपको? जानते हो आप क्या हो सकता है? किसी भी दु:खी महिला को बायचान्स पूछ लिया क्या हुआ? तो फिर तो गंगा-जमना चालु। जोर-जोर से रोने लगी और बोलने भी लगी। कहने लगी, देखो! आपको पता नहीं है आज क्यों ये इन पदार्थों की तारिफ करते है। भाईने कहा, मैं तो तुम्हारी रसोई की तारीफ करता हूँ और तुम रो क्यों रहीं हो? कहने लगी मुझे पता है। मैं जानती नहीं क्या आपको, आप कितने स्मार्ट हो। फिर मेरी तरफ मुड कर कहने लगी, मैं कोई भी आयटम बनाऊं ये कभी इतनी तारीफ नहीं करते। आज मेरी मौसी के यहाँ से टिफीन आया तो इनकी प्रशंसा चालु। किसी का कुछ भी हो तो इनको स्वाद आता है। ये प्रशंसा करते है। भाई साहब बोले मुझे कहा पता है कि तेरी मौसी के यहाँ से टिफीन आया है। मैं तो व्याख्यान सुनके उठा और महासती जी गोचरी के लिए निकले तो मैं भी साथ हो गया। इसी वींग में आए तो मैं अपने घर लाया। पदार्थ खुलते ही खुशबु आयी तो मैं ने तारीफ कर दी। तुम कुछ ना कहती तो मैं यही समझ रहा था कि आज तुमनें इतना टेस्टफुल बनाया है।

यह देवलाली की ही घटना है। अब आप घटना से पर होकर ॲनेलाइसीस करें। पदार्थ का अपना टेस्ट, बनानेवाले का टेस्ट, खानेवाले का टेस्ट आदि आदि अनेक टेस्टों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण टेस्ट उस पदार्थ के उपभोग से पूर्व ही उसपर किए जानेवाली चर्चा और रागद्वेष का है। वास्तव में पदार्थ कैसा है? यह कोई भी नहीं जान रहा था। पदार्थ की अपेक्षा परिस्थिति को महत्त्व दिया जा रहा था। विषय की दृष्टि से महत्त्व पदार्थ का होता है। रस और गंध विषय का स्वभाव है। पदार्थ की पहचान उसके स्वभाव से होनी चाहिए पर हम उसकी विवक्षा अपने स्वभाव से करते है। पदार्थ की पहचान उसके रस और गंध से होनी चाहिए। जैसे एक फल है अमरुद, उसकी अपनी एक खुशबू होती है। खुशबू में जो उसका खुशबूपना है वह उसकी गंध है। अमरुद के पक जानेपर उसकी गंध प्रसारित होती हैं और हमें खुशबू आती है। गंध या खुशबू केवल घ्राणेन्द्रिय अर्थात् नाक का विषय है। परंतु गंध में उसका रस भी निहित होता है इसलिए वह स्वयं रस, स्वाद या टेस्ट जो भी कहे बन जाती है।

हम यहाँपर आमगंध और निरामगंध के बारे में सोच रहे है। आमगंध के दो प्रकार है - सुरभिगंध और दुरभिगंध। निरामगंध के भी दो प्रकार है - वीर्यगंध और सहजगंध। सामान्य केवली में सहजगंध होती है। वे जहाँ

जहाँ वीचरण करते है वहाँ का वातावरण सहजगंध से सुरभित होता है। तीर्थंकर केवली में वीर्यगंध होती है। यह वीर्यगंध तीर्थंकर के तीर्थत्त्व के साथ जुडी हुई होती है। अष्टमहाप्रातीहार्य, चौंतीस अतिशय, समवसरण आदि समृद्धियां और वैभव परमात्मा के वीर्यगंध का ही विस्तार है।

गंधहस्ती के साथ परमात्मा को उपमित करना एक उपक्रम हैं बाकी वीर्यगंध तो परमात्मा के अतिरिक्त किसी के होती नहीं है। हाथीयों में गंधहस्ती हाथी का विशेष और महत्त्वपूर्ण प्रकार है। इसलिए भारतीय साहित्य हाथी की गौरवगाथा से भरा हुआ है। भले ही फिर वह रणकथा हो या पुराणकथा हो। राजसीय भक्ति हो या राजसीय विभुति हो। स्वप्नशास्त्र, धर्मशास्त्र या शकुनशास्त्र सर्वत्र हमारे हाथीभाई व्याप्त है।

इस चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान की माता प्रथम मोक्ष गामीनी मरुदेवी माता का भव्ययात्रा का अंतिम वाहन हाथी था। यही हाथी अजीतनाथ भगवान के चरणों का लांछन (चिन्ह) बनकर संपूर्ण भरतक्षेत्र की शोभा, विजय और पूजा का गौरव माना जाता है। भगवान महावीर के स्वागत के लिए भक्तियात्रा का आयोजन करनेवाले भद्धिलपुर नगरी के दशार्णभद्र राजा का गौरव हाथी था। अपने प्रिय हाथी के साथ विशाल शोभायात्रा के साथ भगवान के समवसरण में अपने गौरव का प्रतीक पहुंचाकर अपरंपार गरिमा का अनुभव कर रहे थे। उनके अहं को देखकर शक्रेन्द्र ने सामने से एक वैभव संपन्न विशालकाय हाथी को उतारा जिसके 1008 मुख थे। एक-एक मुख में 108 दंतशूल थे। आगे आप कथा जानते ही है। एक-एक दंतशूल पर वापिकाए, हर वापिकाओं में कमल, हर कमल में देवगण नृत्य कर रहे थे। ऐसे अद्भुत हाथी को देखकर दशार्णभद्र राजा शरमा गए, भरमा गए, क्षुभित हो गए। आप जानते हैं न वैभव की प्रतिस्पर्धा हो सकती है परंतु भक्ति और विरती अप्रतिबाधित है। बस राजा के भीतर जो अंहकार का हाथी था। वह पहचाना गया। राजसी हाथीपर से उतरकर भगवान के चरणों में नमस्कार किया तो प्रभु ने कहा, शक्रेन्द्र का हाथी देखकर क्षोभ का अनुभव न करो। राजसी हाथीपर से उतर गए हो पर तुम्हारे भीतर जो अहंकार का हाथी है, वह खतरनाक हैं। उसपर से नीचे उतरो राजन् ! सारा नजारा बदल जाएगा। तुम बदल जाओगे। परमात्मा की देशना सुनकर राजा का भीतर खुल गया। अहंकार टूट गया। भावों से खुलकर प्रभु चरणों में नतमस्तक हो गए। विरति धर्म का स्वीकार किया। स्वर्ग के स्वामी स्वयं सर्वविरतिधारी दर्शाणभद्र मुनि के चरणों में नतमस्तक हो गए।

ऐसा ही एक अन्य उदाहरण महान विभुति मुनि बाहुबली की ध्यान साधना का है। ध्यान साधना मे अहंकार बाधक है। इसे मानकषाय का प्रतीक माना गया है। जैन कथा साहित्य में यह एक प्रसिद्ध कथा है। बाहुबली भगवान ऋषभ देव के पुत्र थे। उनकी दो पुत्रियां ब्राम्ही और सुंदरी थी। साधना काल में बाहुबली जी घाताकर्म के क्षय की चरम सीमा तक पहुंचते पहुंचते अहंकार के कारण अटक गए थे। केवलज्ञान प्राप्त होने में कदमभर बाकी था। भगवान ऋषभदेव ने अपने ज्ञान में इस घटना को देखा बाहुबलीजी को बोधान्वित करने उन्होंने ब्राम्ही सुंदरी के साथ मेसेज भेजे थे। मेसेज लेकर गयी दोनों बहनों ने अपने ध्यानस्थ भाई को - **वीरा! म्हारा गजथकी उतरो रे...**इस तरह यह हाथी बिना वाहन का वाहन बनकर बाहुबली जी को उपर भी चढाया, नीचे भी उतारा और इतिहास में अंहकार रुप कलंक का साक्षी बन गया।

हाथियों में गंधहस्ती को हाथीराज गिना जाता है। यहाँ परमपुरुष को गंधहस्ती की उपमा दी गई है। अन्य हाथी को दो दंतशूल होते है, गंधहस्ती को चार दंतशूल होते है। हाथी दांत को सफेद सोना कहा जाता है। कहा जाता है कि हाथी दांत हाथी के मृत्यु के बाद ही निकाले जा सकते हैं। लोकव्यवहार में कहा जाता है-

जिंदा हाथी हजार का, मरे तो किंमत लाख।
मानव जिंदा लाख का, मरे तो किंमत राख।।

वाह! वाह! किंमत के पास मुझे अटकाकर आपने ही वाक्य पूरा किया। हजार के हाथी की किंमत मरने के बाद यदि लाख रुपयां है तो लाख रुपए की किंमतवाला (लाखना - लाखेणा)मानव को आप सव्वा लाख देड लाख दो लाख, पाँच लाख का गिनोगे परंतु आप में से कईयों ने राख शब्द बोला। ऐसा क्यों? इसके बारे पूछने से पूर्व हम स्वयं को अनमोल बनाने के लिए पुरिसवर गंधहत्थीणं की आराधना करते हैं। गंधहस्ती के भालपर आज्ञाचक्र के स्थानपर बाहर एक गोलाईवाला चक्र दिखाई देता है। इसे कुंभस्थल कहते है। यह कुंभस्थल श्रीयंत्र के जैसे आकार में उभराहुआ होता है। प्रत्येक गंध हस्ती को योग्य समय में इस स्थल से रस स्रावित होता हैं। इस रस को मदरस कहते है। उसमें से एक विशेष प्रकार की गंध झरती है। जिस हाथी को कुंभस्थल होता है, उसी हाथी को गंधहस्ती कहते है।

शास्त्र में आपने सुना होगा कि महाराजा चंडप्रद्योत हार और हाथी के लिए किसी युद्ध के आयोजन में लगे थे। युद्ध था कुणाल के साथ। अपने सैन्य को कमजोर समझकर कुणाल ने सेचनक नाम के गंधहस्ती को युद्ध मैदान में छोड दिया था। गंधहस्ती की गंधमात्र से सारा सैन्य अस्तव्यस्त हो गया था। परिस्थिति को जानकर महाराज चंडप्रद्योतने सामने अपना अनिलवेग नाम का गंधहस्ती छोडा था। जैसे ही युद्ध मैदान में सूँड उछालता हुआ, मद प्रसराता हुआ आता है और चंडप्रद्योत विजय प्राप्त कर लेता है।

संसार के थके हुए, हारे हुए हम अपने विजय की शोध में निकले हुए है। जितने के लिए हमें किसी सैन्य की जरुरत नहीं है। हमें तो आवश्यकता है मात्र एक गंधहस्ती की। एक गंधहस्ती आ जाते हैं तो हमारे सारे दुश्मन भग जाऐंगे। शत्रुता को ही समाप्त कर देते हैं। शत्रुता ही जिनका शत्रु है वे गंधहस्ती है। गणधर भगवंत कहते हैं एक गंधहस्ती को साथ लो। जिसके कुंभस्थल में सवीर्य निरामगंध निकल रही हो। इस गंध से वे स्वयं भी मस्त रहते हैं और उनके पास जो आता है वे भी मदमस्त हो जाते हैं। यह एक ऐसा रस है जो झरता भी है और खुशबु भी देता है।

एक दिन जब मैं आईगराणं और पुरिसवरगंधहत्थीणं का संपुट कर रही थी तब एक ऐसी अनुभूति हुयी थी जो आनंददायी थी। भावस्थिति की वे क्षणें थी। परमात्मा के साथ संवाद चल रहा था। लग रहा था वास्तव में परमात्मा कुछ आदि करनेवाले हैं। हमें भी अपनी कुछ तैयारी करनी चाहिए। अंदर बाहर प्रभु कहाँ कौनसी आदि करेंगे यह सोचते सोचते मन में यही बात आई थी कि हे परमात्मा तु आदि तो कर देगा लेकिन आदि करने की जगह कौन सी होगी? जहाँ पर तु हमारे भीतर अनंत समाधि सुख की आदि करेगा। परमात्मा! तू हममें अनंत समाधि सुख की आदि करेगा पर हम फिर भी दु:खी के दु:खी रहेंगे। हमें ऐसा ही करने की आदत हो गई है। हम उन बच्चों की तरह है जो कितना भी नहलाया कितने भी नए कपडे पहनाए फिर भी वे वैसे के वैसे हो जाते हैं ।

हे प्रभु! जब तू गंधहस्ती बनकर आता है तो हमें भी हाथी का बच्चा बनकर तेरे सामने पेश होना पडेगा। हमारी स्थिति तो गजस्नान वाली है। गजस्नान एक कहावत है। हाथी उँचाई वाले होते हैं। उनको नदी, तालाब में नहलाये जाते है। महावत उसका तेल लगाकर घिसघिस कर मालिश करता है। तेल पानी की मालिश होते ही हाथी की बॉडी चमकती हैं। वह हाथी शोभायात्रा को सुशोभीत करता है। महावत उसे नहला धुला कर, तेल मालिश कर किनारे पर बैठाकर फिर स्वयं स्नान करता है। नहाते ही हाथी सारी रेती को अंग पर डाल देता है। जितना देह चिकना होता है उतनी रेत ज्यादा चिपकती है। महावत जब वापस लौटकर देखता है तो तट पर खड्डा हाथी रेत से सना हुआ होता है। महावत हाथी की स्थिति को देखकर माथेपर हाथ रखता है। इसलिए गजस्नान की कहावत हमारी धर्मचर्चाओ में अधिक चलती है। धार्मिक प्रक्रियाओं से हम चमकदार होते हैं। माला कायोत्सर्ग सामायिक ये सब हमारी स्नान की प्रक्रियाँए हैं। स्नान के बाद सद्गुरु सत्संग का मालिश कर हमपर चमक लाते हैं। साधना की चिकनाइ से हम निखरते तो हैं पर संसार के तटपर आकर विषय कषाय की रेत से सन जाने की हमें आदत है। आजकल महावत लोग हाथी को नहलाने के लिए ऐसे तट पर ले जाते हैं जहाँ पर रेत नहीं रहती है। क्योंकि रेत देखकर ही हाथी मस्ती में आ जाते हैं। तुरन्त रेत में जाना। सुंड से उछाल उछाल करके पूरि बॉडी पर रेत डालना। जब तक रेत से पूरे सनते नहीं तब तक उनको शांति नहीं होती हैं। इसलिए महावत गज को स्नान कराकर तटपर छोडते ही नहीं है। जब तक खुद का स्नान होता है वह हाथी को पकड करके पानी में बिठाए रखता है। चुपचाप इधर ही पानी में बैठा रह, पानी के साथ खेल। फटाफट महावत नहा करके हाथी को पकडकर नदी के तट से बाहर निकलता है और तुरंत ही तट छोड देता है।

हमारी भी ऐसी स्थिति है। सद्गुरु सत्संग से नहलाकर शुद्ध करते हैं पर हम सत्संग से बाहर आते ही पुनः सांसारिकता की रेत से सन जाते हैं। परमात्मा का तीर्थ एक ऐसी जगह है कि जहाँ पर रेत नहीं है। सद्गुरु रुप महावत हमें भगवान के समवसरण में ले चलते हैं, जहाँ रेत नहीं होती हैं परंतु परमात्मा रुप गंधहस्ती होते हैं। समवसरण में हमें शुद्ध रहकर शांति से बैठना हैं। गंधहस्ती के आदेश का पालन करना है। परमात्मा आदेश करते हैं - **अभितुरपारंगमितए।** वत्स ! शीघ्र ही तट से पार होजा। अनेक प्रयासों के बाद तुम तटपर पहुंच पाए हो। अब तटपर खेलते रहना तुम्हें शोभा नहीं देता। शिघ्र ही पार हो जाओ। तटपर अधिक समय बीताते हुए समुंदर की एकाद लहर भी तुम्हें वापस समुंदर में धकेल सकती है। समय को व्यर्थ बरबाद न करो। धर्म को जानो और स्वयं की अनुप्रेक्षा करो।

एक दिन भरतचक्रवर्ती भगवान ऋषभ देव के समवसरण में घबराते हुए आए और कहने लगे, प्रभु आपका स्मरण करके शरण लेकर रात को सोया फिर भी मुझे सोलह विचित्र स्वप्न आए उनमें एक ऐसा स्वप्न था कि, हाथी की पीठ पर मनुष्य के स्थानपर एक बंदर बैठा हुआ था। हाथी के कुंभस्थल से जो मद झरता था उसे बंदर ने चाटने का प्रयास करता था। उसके इस प्रकार चेष्टा करते ही हाथी का मद झरना बंद हो गया। भगवान ने भरत के मस्तक पर हाथ रखकर कहा, राजन! तुम्हारा स्वप्न भविष्य का कथन है। भगवान महावीर के निर्वाण के बाद भारत

की जो स्थिति होगी वह तुमने स्वप्न में देखी है। वत्स ! हाथी सत्ता का प्रतीक है। चाहे वो राज्यसत्ता हो, धर्मसत्ता हो या समाजसत्ता लेकिन वह सुरक्षित नहीं रह पाएगी। राज्यसत्ता क्षत्रियों के हाथ में नहीं रहेगी। धर्म सत्ता मानवता की भावनाओं से शून्य होगी। हीन भावनाएं बढ जाएगी। सत्ता के लिए छीना-झपटी होगी। इस सत्ता की बंदर बाँट भी होगी। सत्ताधिकारियों में चारित्र्यवान, ईमानदार आदमी नहीं मिल पाऐंगे। यह सबकुछ भगवान महावीर के निर्वाण के बाद होगा।

जिसतरह हाथी समृद्धि और पूजा में प्रमुख रुप में रहा है उसीतरह वास्तु में भी उसका महत्त्व रहा है। वास्तुदोष निवारण में भी क्रिस्टल हाथियों का अग्रिम स्थान रहा है। हाथी और कमल इनका निकट का संबंध रहा है। कईबार हाथी अपनी सूँड में कमल उठाकर भगवान को चढाता है। जिस हाथी के उपर अंबाडी होती है उस हाथी को ऐरावत हाथी कहते है। पूर्व दिशा के पालक इन्द्र का वाहन ऐरावत है। वास्तु समृद्धि में ऐरावत का बहुत मूल्य रहा है। ग्रहशांति, संतति दोष निवारण और आरोग्य प्राप्ति हेतु घर के पूर्व विभाग में आठ हाथियों को खडा रखने का विधान है। पति-पत्नी में अनबन हो तब हरे रंग के हाथी शय्या के दोनों तरफ इस तरह से रखने चाहिए कि उनकी सूँडें शय्या की तरफ हो। व्यवसाय में व्यापारी को अपने टेबलपर ग्राहक की तरफ मुख किया हुआ हाथी रखना चाहिए। यदि पिता-पुत्र, या भाई-भाई में वार्तालाप बंद हो तो स्फटिक का हाथी घर की तरफ सुन रहा हो इस तरह से रखना चाहिए।

पुरुषोत्तमाणं आदि चार पद की स्तोतव्य संपदा कहते है। तीर्थंकर प्रभु अनादि भवों से अर्थात् अनादि काल से उत्तम हैं इस जन्म के च्यवनकल्याणक और जन्म कल्याणक उत्तम है इसलिए प्रथम पद पुरुसोत्तमाणं है। दीक्षा काल में उत्तम शौर्यता के साथ सामायिक चारित्र्य से पुरिससीहाणं पद की सार्थकता मानी जाती है। वीतराग (यथाख्यात) चारित्र्यकाल में शासनको शोभायमान करते हुए निर्लेपभाव और अभेद संबंध की अनायास सहज धर्मप्रभावना पुरिसवर पुंडरियाणं पद को सुशोभित करता है। शासन में उपद्रव निवारक धर्म प्रभावना और सवीर्य निर्दोष चारित्र्य प्रभावना से पुरिसवर गंधहत्थीणं पद स्तोतव्य संपदा की सार्थकता प्रदान करता है।

अब गहरी गहरी लंबी साँस लीजिए। सीधे बैठिए। आँखें बंद कीजिए। सामने से एक विशालकाय हाथी मस्ती में झूमता हुआ आ रहा हैं। उसकी सूंड में कमल है। उसके कुंभस्थल से मद श्रावित हो रहा है। आश्चर्य से आप उसे देख रहे है। देखते देखते वह परमात्मा का रुप धारण कर लेता है और पास में खडे परमवत्सल सवरुप संतपुरुष आपके मस्तक पर हाथ रखकर कहते हैं, वत्स! इन्हें पहचाने नहीं? ये हैं **पुरिसवर गंधहत्थीणं।** इनके मद में है वीर्य संपन्न चारित्र्य। महाव्रत या अणुव्रत, सागारधर्म या अणगारधर्म का मद के द्वारा दान दे रहे हैं। सुव्रतों को धारण करो। आत्मशुद्धि करो। मन को निर्मल और पवित्र करो। परमात्मा के साथ उनका परिचय देते हुए गणधर भगवंत परम करुणा से आत्मा को भावित कर रहे है। परम करुणा का पान करते हुए परमात्मा की लोकोत्तमता को गणधर भगवंत के मुख से सुनकर परम मंगल स्वरुप लोगुत्तमाणं का आव्हान करते हुए एक साथ बोलेंगे -

॥॥ नमोत्थुणं पुरिसवर गंधहत्थीणं ॥॥ ॥॥ नमोत्थुणं पुरिसवर गंधहत्थीणं ॥॥ ॥॥ नमोत्थुणं पुरिसवर गंधहत्थीणं ॥॥

नमोत्थुणं लोगुत्तमाणं

नमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स लोगुत्तमाणं

लोगुत्तमाणं अर्थात् स्वयं स्वीकृत अनुशासन।
लोगुत्तमाणं अर्थात् विश्वकृत शासन।
लोगुत्तमाणं अर्थात् सृष्टि की सुरक्षा का सर्वेक्षण।
लोगुत्तमाणं अर्थात् विश्वचेतना का संरक्षण।
लोगुत्तमाणं अर्थात् संपूर्ण ब्रह्मांड की मैत्री का मंगलाचरण।

यदि हमें कोई पूछे कि लोक में उत्तम क्या है? तो हमारा क्या उत्तर हो सकता है? उत्तर यदि एक हो और शास्वत हो तो वह उत्तम है। यदि उत्तर अलग अलग होते है तो वे उत्तर नहीं अभिप्राय कहलायेंगे। हम जानते हैं हम उत्तर नहीं अभिप्राय दे सकते हैं। भगवान महावीर ने आचारांग सूत्र में कहा हैं - **अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे।** एक मनुष्य के अनेक चित्त होते हैं। प्रत्येक चित्त में अनेक अभिप्राय होते हैं। इसलिए हम अभिप्राय की झंझट से हटकर महापुरुष कथित लोगुत्तम का स्वरुप जानने का प्रयास करेंगे। ऐसा सोचनेपर उत्तर स्पष्ट हैं कि लोक में उत्तम चार है - अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवलि प्ररुपित धर्म। नमोत्थुणं लोगुत्तमाणं अर्थात् इन चारों के चरणों में नमस्कार, स्वीकार, साकार और साक्षात्कार।

उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ। जगत् में उससे अधिक श्रेष्ठ कुछ न हो उसे लोकोत्तम कहते है। सामान्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन स्तर होते हैं। जैसे श्रेष्ठ सामान्य डिग्री है। जब दो-तीन चीज में यही एकमात्र श्रेष्ठ है ऐसा कहते हैं उसे श्रेष्ठतर कहते है, इसे मध्यम स्तर कहते हैं। जिसकी किसी के साथ तुलना नहीं हो सकती उसे श्रेष्ठतम कहते है। लोगुत्तमाणं पद द्वारा लोकोत्तमता प्रगट करने से पहले गणधर भगवंत हमें कहते हैं कि, बोलो लोक में उत्तम क्या है? उत्तर में हमें कहना हैं, प्रभु आप हमें ऐसा प्रश्न मत पुछो। क्योंकि हम तो लोक में कितने ही पदार्थों को उत्तम मानने की शक्यतावाले हैं। हरपल बदलते अभिप्रायों के साथ हमारी उत्तमता जुडी हुई होती है। हम कैसे आपको उत्तर दे सकते हैं कि उत्तम क्या है?

हमारे इस उत्तर को सुनकर गणधर भगवंत ने कहा लोक में उत्तम तत्त्व मात्र एक ही है। उसे समझने की दृष्टि चार होती है। इस कारण यह तत्त्व चार महादृष्टि स्वरुप में मांगलिक के रुप में अवतरित हुआ। सत्त्व संपन्न परमपुरुष, महापुरुष या तत्त्वपुरुष के स्वरुप में प्रभु के दर्शन करके लोक में प्रभु को लोकपुरुष के रुप में जानने की इच्छा से गणधर भगवंत ने परमात्मा की लोकोत्तम स्वरुप में उपासना की। परमात्मा के लोकोत्तम स्वरुप का स्वीकार करने पर परामात्मा के लोक अर्थात् हमारे साथ के संबंध की चर्चा का प्रारंभ होता है। उन उत्तम स्वरुप का लौकिक स्वरुप के रुप में हमारे साथ किस तरह से संबंध है यह हमारे लिए महत्त्वपूर्ण मननीय विषय है। परमात्मा कोई उत्तम पदार्थ नहीं है कि उसका मूल्य किया जाय, बेचा जाय या खरीदा जाय। जब तक परमात्मा की उत्तमता

का स्वरुप उपभोग न किया जाय तब तक उसका मूल्य समझना मुश्किल है। उन परमपुरुष के अतिश्रेष्ठत्त्व को लौकिक बनाकर ही उसका उपभोग हो सकेगा। जो पुरुष लोकोत्तर या अलौकिक हो उसे लौकिक कैसे बनाया जा सकता है? ऐसा प्रश्न सहज और स्वाभाविक हो सकता है।

हमारे इस प्रश्न का समाधान करते हैं हमारे गणधर भगवंत। उनका कहना हैं, परमात्मा लोकोत्तर है अलौकिक है। जो अलौकिक होता है वह कभी लौकिक नहीं हो सकता। हम जो लौकिक है उन सब में अलौकिकता निहीत होती है। वह अलौकिकता अंशात्मक रुप में प्रगट हो जाती है तब हमें लोकोत्तर पुरुष, लोकोत्तम स्वरुप में प्राप्त होते है। लोकोत्तर पुरुष के साथ का हमारा संबंध हममें अलौकिकता प्रगट कर सकता है। हमारे भीतर जो हमारी स्वायत्त सत्ता है वह लौकिक बन गई होती है। उसमें लोगुत्तमाणं स्वायत्त सत्ता में रही हुयी अलौकिता की अनुभूति कराते हैं। इस शक्यता का के कारण ही महापुरुष लोगुत्तमाणं पद से पूजे जाते हैं। पुरुष व्यक्तिचेतना देता है। पुरुषोत्तम उसे उत्तम चेतना में बदलते हैं और लोकोत्तम उसे विश्व चेतना से भर देते हैं।

जीव और अजीव दोनों की अपनी एक स्वायत्त सत्ता होती है, फिर भी पदार्थ कभी भी जीव में परिवर्तित नहीं हो सकता। जिस तरह यह पाट जिसपर बैठकर प्रवचन दिया जाता है। यदि इसपर कई दिनों या महिनों तक कोई नहीं बैठा तो पाट कभी नहीं सोचेगा, शिकायत भी नहीं करेगा और न कभी किसीको बुलाएगा। आप आओ, बैठो और मुझपर प्रवचन करो। पाट की ऐसी भी ताकत नहीं हैं कि मैं जहाँ हूँ वहाँ आकर मेरे नीचे बैठ जाए। पाट जहाँ होता है वही रहता है। मैं चैतन्य सत्ता हूँ। मेरे भीतर मेरी स्वायत्त सत्ता होती है। यह सत्ता अन्य पदार्थों के साथ अपना प्रास बनाती है। तब यह पाट हमारे बैठने का साधन बन जाता है। इसीतरह यह उपाश्रय जड है। इसमें बैठकर अनेक आत्माएं स्वयं की चैतन्य सत्ता का अनुभव कर सकते हैं। अनेक आत्माओं के सहज स्वभाव का आश्रय बना हुआ यह उपाश्रय आखीर बना तो इंट, मिट्टी, चूने से ही है। आप अभी जिस मकान से आ रहे हो वह ब्लॉक भी इंट, मिट्टी, चूने से ही बना हुआ होता है। फिर उसे घर और इसे उपाश्रय क्यों कहा जाता है? हमारे भीतर के स्वायत्त चेतना ने ये भेद किया है। जिसमें रहते हैं, खाते हैं, पीते हैं, सोते है, आराम करते हैं उसे घर कहते और जिसमें बैठकर धर्म चर्चा होती है। जहाँ बैठकर हम आत्मा के नजदीक हो सकते हैं उसे उपाश्रय कहते है। है तो सब मकान परंतु हमारे व्यवस्था के अनुसार उसका नामकरण होता है।

पदार्थ में ऐसी कोई ताकत नहीं है कि हमें आराधना का आंमत्रण दे कि आओ व्याख्यान शुरु हो रहा है। कोई भी जड पदार्थ स्वयं की ओर से सक्रिय नहीं होता है। हमारी स्वायतसत्ता पदार्थ के साथ संयोग करती है, संबंध करती है और उसका स्वीकार करती है। अब हम पदार्थों के साथ के हमारे संबंध की दूसरी पर्याय देखते हैं। जब हम इस निर्णयपर आते हैं कि हमारी क्रिया से पदार्थोंपर कोई असर नहीं होता जैसे कि कितने ही प्रवचन हो जाए पाट पर उसका कोई प्रभाव नहीं पडता। कितनी भी सामायिक करों आसन को कोई फरक नहीं पडता। कितनी भी मालाएं फेरो माला में कुछ परिवर्तन नहीं होता। फिर भी हमारी मान्यता में उसका महत्त्व क्यों है? पदार्थ को वापर ने से पदार्थपर भले ही कोई प्रभाव न हो परंतु उसका उपयोग करने से हमपर प्रभाव अवश्य होता है। जैसे कि आप

भोजन को बैठे है, दाल में थोडासा नमक कम है तो भोजन के स्वाद में फरक पडेगा या नहीं..? स्वयं दाल या नमक में कोई फरक नहीं है परंतु हममें फरक है। भोजन करते करते एक छोटीसी तीखी मिरची आजाय तो आप पर कितना प्रभाव छोडेगी। संज्ञी पंचेन्द्रिय आप एकेन्द्रिय मिरची से घबरा गए ? सोचिए मिरची आपको कभी नहीं कहेगी कि आप मेरा उपभोग करो। हम स्वयं ही यह सबकुछ करने की चेष्टा करते है और चंचल होते हैं।

गणधर भगवंत कहते हैं कि संपूर्ण लोक ऐसी चंचलता से भरा हुआ है। अनादि काल से जीव पदार्थों के साथ संयोग करता हुआ चंचल होता रहा है। इसीलोक में उत्तम पुरुष पदार्थ के साथ के संयोग को जानते हैं, देखते हैं और अनुप्रेक्षा करते हैं। देह और आत्मा के भेद विज्ञान से साधना का प्रारंभ होता है और मोक्ष इसका अंत है। यही मोक्ष का मार्ग है और स्वयं मोक्ष स्वरुप है उसका अनुभव करता है। यह है परमपुरुष की उत्तमता। इसी कारण परमात्मा पुरुषोत्तमाणं कहलाए। अब यहाँपर लोगुत्तमाणं शब्द का प्रयोग हुआ है। ये दोनों पद बराबर लगते हुए भी इन दोनों में अंतर है, तभी तो गणधर भगवंत ने दो पदों की संरचना की हैं। पुरुषोत्तमाणं पद में पुरुषों में अर्थात् हममें परमात्मा उत्तम हैं फिर लोगों में उत्तम कहने की क्या आवश्यकता है? लोग अर्थात् संसार, जो शिशा है, आईना है, दर्पण हैं जिसमें हमें स्वयं को देखना है। पुरुषोत्तमाणं में हमारी व्यक्ति चेतना झलकती है और लोगुत्तमाणं में विश्व चेतना झलकती है। परुषोत्तमाणं वह हैं जो हमारे साथ रहता है। लोगुत्तमाणं वे है जो विश्व के साथ रहते हैं। हैं तो हम भी विश्व में परंतु प्रत्येक स्वायत्त सत्ता का अपना एक विश्व होता है। स्वचेतना स्वयं ब्रह्मांड में व्याप्त होती है संबंध करती है आकर्षण, अपकर्षण करती है। इसतरह अनादि काल से उसका संसार जन्म मरण के साथ चलता रहता है।

जो लोक में उत्तम हैं वे लोगुत्तमाणं है।
जो लोगों में उत्तम हैं वे लोगुत्तमाणं है।
लोक में जो कुछ भी उत्तम हैं उसे प्राप्त करवाते हैं वे भगवान हैं।
लोक में जो कुछ भी उत्तम हैं उसका रक्षण करते हैं वे भगवान हैं।
लोक में जो कुछ भी उत्तम और सुरक्षित हैं उसे संवर्धित करते हैं वे भगवान हैं।
लोक में जो उत्तम हैं उसे इकट्ठा करते हैं वे इन्सान हैं।

हम पर्युषण में लोगस्स की चर्चा कर रहे थे। लो अर्थात् लोक, ग अर्थात् गति करना उसके बाद दो स आते हैं एक आधा स् और दूसरा पूर्ण स। आधा स् अर्थात् वे जिनका अर्ध सत्त्व प्रगट है और अर्ध सत्त्व अप्रगट है। पूर्ण स अर्थात् पूर्ण सत्त्व संपन्न, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी। अब आधे स में हमें स्वयं को संस्थापित करना है अर्थात् लो ग फिर आप और उसके बाद पूर्ण स आपके लेफ्ट साईड में लोग हैं अर्थात् लोक और गति है। आपकी राईट साईड में सत्पुरुष है। जब जब हमें सत्पुरुष मिलते है, परमपुरुष मिलते हैं तब-तब हमें उनकी उत्तमता का सहवास मिलता है। पर जब पदार्थ और परमाणु की ओर आकर्षीत होते है तब लोक में गति, परिभ्रमण करते रहते है। जब समझ में आता है तब समय की दुषितता बताते है। यह तो पंचम काल है। मोक्ष तो है नहीं। यहाँ तो ऐसा ही चलने वाला हैं। 150, 200, 500 रुपए की टिकट लेकर ट्रेन में बैठते हैं। किसी कारण से अपनी सीटपर से उठनेपर कोई बैठ जाए

तो क्या करते हो? कितने रुआब से कहते हो यह सीट मेरी है जैसे पूरी ट्रेन ही आपकी हो। दो पांच घंटे की सफर में पैसे देकर ली हुई सीट का इतना महत्त्व है तो **नमोत्थुणं लोगुत्तमाणं** कहकर परमात्मा के चरणों में स्थान पाने का कितना महत्त्व हो सकता है। जो हमें अपने आत्म स्वरुप के सहजिकता का आनंद दे, स्वयं का अनुभव कराए वह कितना महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

गणधर भगवंत कहते है पंचमकाल आदि को भूलकर इस पद की उपासना कर। यह पद चौथे आरे में भी था तीसरे आरे में भी था और आज पंचमआरे में भी है। जब जब तू इसकी उपासना करता है तब तब तू द्रव्य, क्षेत्र और काल की मर्यादा से पर हो जाता है। भले ही हम लोग में गति करनेवाले अधूरे स् है परंतु पूर्ण स हमारे साथ होने से उनके चरणों में नमस्कार करते हुए लोगुत्तमाणं पद की समृद्धि हमारे मोक्ष का कारण बन जाती है। भरतक्षेत्र के अरिहंत लोक में ही थे। वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र के अरिहंत भी लोक में हैं और परमसिद्ध परमात्मा भी लोक के अग्रभाग में हैं। परमात्मा की उत्तमता का स्वीकार करो, साक्षात्कार करो और अधमता या अधूरेपन में पूर्णता को प्रगट करो। पूर्वकाल में नहीं मिलने का अफसोस करने की अपेक्षा वर्तमान में प्राप्त का स्वीकार करो। स्वागत करो। सन्मान करो। लोगुत्तमाणं की उपासना कर मोक्ष मार्ग की ओर कदम बढाओ। आप के प्रत्येक कदम केवलज्ञान की प्राप्ति की पूर्वभूमिका बन जाएगा।

परम गणधर भगवंत हमें कहते हैं, परम तीर्थंकर पुरुष इस लोक में ही रहते हैं जिस लोक में तुम रहते हो। वे प्रगट हो गए तुम अप्रगट हो। मात्र लोक में उत्तमोत्तम क्या है यह हमें जानना चाहिए। हमारा जन्म होते ही माता पुत्र के रुप में पहचानती है। पिता हाथ में लेकर पुत्र के रुप में पहचानते है। इसतरह प्रत्येक व्यक्तियों के साथ हमारे भिन्न भिन्न संबंधो की पहचान होती रहती है, परंतु परमात्मा के साथ तो हमारे कोई दैहिक संबंध नहीं होते है। पहचान नहीं है। जैसे कुछ लेन देन ही नहीं है। फिर भी जिन्होंने हमें पहचान लिया है और हमें उनकी उत्तरधारा में बहने दिया है। जैसे बहती हुई प्रसन्न नदी जब बहती है तो उसके पानी के प्रवाह में पानी के साथ कूडा भी बहकर तटपर आता है। उसीतरह महाचेतना, परमचेतना जब हममें बहने लगती हैं तब विषय और कषाय, विकार और विभाव भी बहकर तटपर आकर अटक जाते हैं, रुक जाते हैं। परमात्मा के परमप्रेम के, उत्तम वात्सल्य के विशाल समुद्र में हम समा जाते हैं।

लोगुत्तमाणं पद का भाव समझाते हुए महायोगी आनंदघनजी महाराज अजितनाथ भगवान के स्तवन में कहते हैं -

तरतम जोगे रे तरतम वासना
वासित बोध आधार रे।

प्रथम लाईन में वासना का अर्थ पूर्वजनित संस्कार है। जो वसता हैं वह वासना है। मन, वचन, काया के तरतम योगोंद्वारा उत्पन्न होते हुए आंदोलन भीतर तरतम स्वरुप में वास करते है। पहले तरतम भाव आते हैं बाद में तरतम जोग बनते हैं और उसके बाद तरतम वासना बनती हैं। यह एक सैद्धांतिक बात हो गई। इसी आधारपर सिद्धांत को जब प्रयोग में रखते हैं तब वह एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया बन जाती है। महायोगीने इसी भाव को नीचे की

पंक्ति में वासितबोध का आधार बताया है। बोध के दो प्रकार हैं - एक शब्द बोध और दूसरा वासितबोध। महापुरुषों के शब्दों को अनुभूति के बलपर हमें अपनें में वासित करना होता हैं। जो वासित नहीं होता वह अनुभूति में भी नहीं होता। उन शब्दों का कोई मूल्य नहीं होता। शब्द जब वासित होते हैं तब मंत्र बनते हैं। मंत्रदृष्टा ऐसे वासित मंत्रों के आधारपर योग्यता के अनुसार निजचेतना द्वारा मंत्रदान करते हैं। ऐसे ही मंत्र परिणाम प्रगट करते हैं। शायद आप जानते होंगे कि हमारी संस्कृति में सूत्र का श्रुतदान होता था। पूर्वकाल में शास्त्रलेखन की कोई व्यवस्था नहीं थी। कथन और श्रवण के माध्यम से वाचना दी जाती थी। युगान्तर में लेखन पद्धति का प्रारंभ करने के लिए अनेक वाचनओं की व्यवस्था की गई थी। अनेक गीतार्थोंने मिलकर मथुरा में जो वाचना दी थी उसे माथुरी वाचना कहते है। पाटलीपुत्र में भी वाचना हुई थी। बारह साल के दुष्काल के बाद सूत्रों को बचाने के लिए नेपाल में महाप्राणध्यान साधना में बिराजमान भद्रबाहुस्वामी को उठाकर वासितबोध का संकलन किया गया था। इसतरह शास्त्रों की लेखन पद्धति का प्रारंभ हुआ।

गुरु शिष्य में शब्दों के द्वारा वासित बोध प्रगट करते हैं। एक दो बार गाथाए सुनाकर गुरु शिष्य को वाचना देते थे। मुझे आज भी याद है दीक्षा से पूर्व जब मैं छोटी थी तब कांदावाडी उपाश्रय में एकदम उपर लकडी का कातरीया हैं। कातरीया अर्थात् हेडरुम। बहुत बडा है। जैसे कारखाना हो। तब बिलजी की कोई व्यवस्था नहीं थी। अंधरे में मुझे उत्तराध्यन शिखाया जाता था। दो बार गाथा सुनाकर बीस बार मुझसे दोहराते थे और वह गाथा मुझे याद हो जाती थी। उस समय जो आंदोलन उत्पन्न हुए मुझे आज भी याद है। आज भी जब उन गाथा का भाव सामने आता है तब आंदोलन के साथ वह गाथा प्रगट होती है। यह हुआ शब्दबोध में से वासितबोध। वासित हुआ बोध विविध रुपेण भाव और भाषा में प्रगट होता है। परिणामत: जब जब विशेष स्वाध्याय का अवसर होता है तब उनमें से अनेक अर्थ स्फुरित होते है। तरतम जोग अथोत् योग्य अवसर। जैसा योग वैसा अवसर। जैसा काल वैसी वासना। ऐसा अनुभूति में बोध प्रगट होता है। इसीलिए आगे काललब्धि का सहारा लेकर योगीजी कहते हैं -

काळलब्धि लही पंथ निहाळसु रे,
ए आशा अवलंब;

यहाँ नीचे की पंक्ति के द्वारा आशा के माध्यम से काललब्धि को पकडने की बात कही हैं। तप जप आदि काललब्धि को पकडने की प्रक्रिया है। इसीकारण यशोविजयजी महाराज संभवनाथ भगवान के स्तवन में कहते हैं

काललब्धि मुझ मत गणो,
भावलब्धि तुम हाथे रे !

हे परमात्मा! इस पंचमकाल में काललब्धि नहीं पकेगी ऐसा जानकर हम निराश होकर बैठे नहीं रहेंगे परंतु आपको आपकी भावलब्धि प्रगट करने पडेगी। आपकी भावधारा जब लब्धि स्वरुप में प्रगट होती है तब -

काल स्वभाव अने नियति अे सघळा तुझ दासोरे,
..... अे मुझ सबळ विश्वासो रे।

कलिकाल की दुहाई देकर इसका काल जाल काल में हम घबराकर बैठे नहीं रहेंगे। स्वभाव को बदल नहीं सकते ऐसे बहाने से दबे नहीं रहेंगे। नियति आदि को आधार बनाकर मन को समझाऐंगे भी नहीं। हे लोकोत्तम पुरुष हम मात्र शुद्ध उपादान बनकर तेरे चरणों में नमोत्थुणं मंत्र के साथ मस्तक झुका देंगे। तेरी लोकत्तमता हममें भावलब्धि प्रगट कर हमारे मोक्ष का कारण बन जाऐगी ऐसा मुझे सबल विश्वास है।

परम गणधर भगवंत सुधर्मा स्वामी की प्रबल भाव धारा में भीगे हुए जम्बु स्वामी के जीवन में एकसाथ काललब्धि और भावलब्धि के आंदोलन एकसाथ स्पष्ट हुए थे। काल के तरतम योग में वैरागी जम्बु कुमार एकसाथ आठ कन्याओं के साथ विवाह के बंधन में बंधे अवश्य थे, परंतु लोकोत्तम की प्रबल भावलब्धि से उत्पन्न आंदोलन से एक ही रात में 528 जीव वासितबोध के कारण बन गए। यहाँ यदि शाब्दिकबोध ही होता तो एक भी पात्र एक ही रात में परिवर्तित नहीं हो सकता। कोई त्रैकालिक लब्धिपुरुष हो, ज्ञानीपुरुष हो तो ज्ञान के बल से एकसाथ अनेकों को बोधान्वित कर सकते है, परंतु कोई नवविवाहीत पुरुष विवाह की प्रथम रात में नववधु सहित 500 जीवों को बोधान्वित कर सके ऐसा इतिहास इस महापुरुष ने बनाया। इन सबके पीछे लोगुत्तमाणं का अनुग्रह, तरतमयोग और तरतम वासना स्वरुप वासितबोध कारण रुप थे।

लोगुत्तमाणं पद की एक महासाधना है, जो निरंतर ६ महिने में सिद्ध होती है। इस साधना में पूर्व दिशा की ओर मुँह रखकर **चत्तारि लोगुत्तमा** पद का तीन बार पारायण करना है। उसकेबाद दक्षिणावर्त प्रदक्षिणाकर वापस पूर्व दिशा में आकर चौथीबार **चत्तारि लोगुत्तमा** बोलना हैं। अब दक्षिणावर्त मुडकर दक्षिण दिशा की ओर **अरिहंता लोगुत्तमा** कहकर पश्चिम में **सिद्धा लोगुत्तमा** बोलना। इसीतरह उत्तर दिशा में **साहू लोगुत्तमा** बोलकर पुन: पूर्व दिशा में आकर **केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो** बोलना। लोकोत्तम के चार पद में प्रथम तीन पद तत्त्व स्वरुप हैं और चौथा पद सत्त्व स्वरुप है। तीन पद में अरिहंत, सिद्ध और साधु की लोकोत्तमता है और चौथे पद में यह लोकत्तमता धर्म स्वरुप में परिणमीत होकर स्वात्मबोध का परिणमन बन जाती है। ब्रह्मांड में से पवित्रता का अवतरण होता है और साधक के सहस्त्रार में दिव्य वर्षा स्वरुप उत्तरण होता है। निर्विकल्प समाधिबोध की यह महादशा अत्यंत अद्भुत होती है। अनुभूतिगम्य होने से उसका शाब्दिक विवरण अकथनीय है। इस दशा में से बाहर आते ही साधक की चेतना में सफल सिद्धि स्वरुप परम आनंद प्रगट होता है। मुखपर तेज और वाणी में ओज प्रगट होता है।

आज इस पद का उपसंहार हमें यहीं कहता हैं कि संपूर्ण वैश्विक चेतना का कोस्मिक पॉवरपर स्वामित्त्व करने का सामर्थ्य और अधिकार जिन्हें प्राप्त हैं वे लोगुत्तमाणं हैं।

लोगुत्तमाणं कोस्मिक पॉवर की व्यवस्था देते हैं।

लोगुत्तमाणं फिजिकल पॉवर में स्वास्थ्य की सहायता देते है।

लोगुत्तमाणं मेंटल पॉवर में प्रसन्नता से भर देते हैं।

लोगुत्तमाणं स्पिरीच्युअल पॉवर में से अध्यात्मिकता का पथ प्रशस्त कर देते है।

अंत में गणधर भगवंत हमें मंगलमय संदेश देते हैं वत्स! लोकोत्तम पुरुष वे कहलाते हैं जो हमारी उपेक्षा

भी नहीं करते और हमारी अपेक्षा भी नहीं करते हैं। किसीको दयाजनक स्थिति में नहीं रहने देते। प्रत्येक हृदय में दीपक जलाते है। पूरे ब्रह्मांड को उत्तमता से भर देते है। सर्व की अधमता को उत्तमता में बदल देते है। लोकोत्तम के अतिरिक्त यह काम कौन कर सकता है? आज लोगुत्तमाणं पद की उपासना करता हुआ तू संकल्प कर की आनदि काल से परिभ्रमण करते हुए अनेक तरह से उत्तम की अभ्यर्थना की पार्थना की परंतु अब पता चला कि संपूर्ण विश्व में आप से उत्तमोत्तम अन्य कुछ भी नहीं है। आप उत्तम भी इसीलिए हो कि मेरी अधमता को टालने में समर्थ हो। मेरे में रही हुई उत्तमता को प्रगट करने में सक्षम हो। मेरे में ऐसा सामर्थ्य प्रगट करो प्रभु कि पदार्थों की अधमता का मैं स्वीकार करु और आत्मा की उत्तमता का अनुभव प्राप्त करु। हमारी यह प्रार्थना सुनकर लोकोत्तम प्रभु नाथ बनकर हमारे सामने कल प्रगट होंगे। इस अनुभूति के लिए हम लोकोत्तम पद की उपासना करते है।

॥। नमोत्थुणं लोगुत्तमाणं ॥।
॥। नमोत्थुणं लोगुत्तमाणं ॥।
॥। नमोत्थुणं लोगुत्तमाणं ॥।

नमोत्थुणं लोगनाहाणं

नाथ वे जो हमारी अनाथता को टाले।
नाथ वे जो हमें स्वयं के नाथ बनावे।
नाथ वे जो हमें जगत् के नाथ बनावे।

लोगको समझकर उसकी उत्तमता का स्वीकार करते हुए जब कोई कठिनाई महसूस होती है तब उसे सरल करने के लिए उसके स्वामी की सहायता लेनी होती है। पहले तो लोक को समझना आसान नहीं हैं। संसार एक अनबूझी पहेली सा है। महापुरुषों के अनुग्रह से समझ भी लेवे तो उत्तमता की पहचान दुर्लभ है। उत्तम किसे कहा जाता है इसका स्वाध्याय हम कल कर चुके है। फिर भी पदार्थों के साथ जीनेवाले हम स्थान, स्थिति और समय के अनुसार उसका मुल्यांकन करते है। मुंबई में सस्ता है, नाशिक में महंगा है, नाशिक में सस्ता हैं, पुणा में महंगा है इस तरह पदार्थों के मूल्यों को आँकनेवाले हम परम पुण्योदय से ही लोक की उत्तमता को समझ सकते हैं। लोग की उत्तमता का स्वीकार करने के लिए स्वयं को भी उत्तम होना होता है। जो लोग में उत्तम है वही लोक का नाथ है।

आचारांग सूत्र में लोकोत्तम और लोगनाहाणं के साधना में प्रवेश करने से पहले एक बडा इंटरव्यूव लिया गया है। प्रवेश के पूर्व पूछा जाता हैं कि जगत् के जीवों के साथ जीते हुए तू क्या करके आया है? उनके साथ तेरे कैसे संबंध रहे? दो ही तो उत्तर हो सकते हैं न इसके? प्रेम करके या झगडा करके। जगत् के जीवों के साथ हमारे संबंध दो तरह के हो सकते है। प्रेममय और संघर्षमय। हम परमात्मा को पहले तो प्रेम के संबंध की ही बात करेंगे ना तो सोचिए हमने ऐसा ही किया। कहा, प्रभु! सर्वप्रथम तो मैंने प्रेम किया। माता-पिता, पति-पत्नी, बच्चे सबसे प्रेम किया। सबसे तो प्रेम किया तूने परंतु स्वयं से प्रेम किया या नहीं? बेचारे हम क्या उत्तर देवे प्रभु को ? स्वयं से भी कभी कोई प्रेम किया जाता है? खाकर, खिलाकर, खेलकर, बोलकर अन्यों से प्रेम किया जाता है। स्वयं से कैसे प्रेम करे? क्या होता है स्वयं, जिससे प्रेम किया जाए ? लोक की बात करते करते हम स्व को समझने का प्रयास करने लगे। अनुभव हुआ कि मेरा स्व ही इस लोक में खो गया है। कहाँ खोजु? कैसे खोजु? इतने में गणधर भगवंत ने कहा, खोज मत खोजा लोगनाहाणं के स्मरण में। लोक के नाथ स्वयं तूझे स्व की पहचान कराऐंगे। वत्स ! **अप्पा अप्पम्मि रओ।** आत्मा ने आत्मा में ही रमण करना है। यदि हम ही हमारे नहीं हो पाए तो ओर कोई हमारा कैसे हो सकता है? जो स्वयं के साथ प्रेम न कर सके वह किसी अन्य के साथ प्रेम कैसे कर सकता है? जो स्वयं के साथ सुखी नहीं हो पाया वह किसी अन्य से क्या सुखी हो सकता है?

लोगनाहाणं पूछते हैं, तूने अन्य को प्रेम अधिक दिया या अन्य से अधिक लिया? इस उत्तर को ढूंढने के लिए कौनसे केलक्युलेटर की सहायता लेगे? पाई पैसे का हिसाब रखते हो ना? आठ की जगह दस रुपए रिक्षावाला मांग तो ले सारा गाँव इकट्ठा कर लेते हो। परमात्मा कहते हैं, जगत् के पदार्थों के बीच जीकर दिन-रात

हिसाब करनेवाला तू एकबार स्वयं का हिसाब करके तो देख। तूने प्रेम अधिक किया या संघर्ष अधिक किया? उत्तर देने वाला पचास वर्ष के अंदर का हो तो कहेगा, प्रेम करनेवाले से प्रेम करता हूँ और झगडा करनेवाले से झगडा करता हूँ। उम्र के ६०वर्ष के बाद वाला कहता है, जिंदगीभर स्वयं का तो कुछ सोचा ही नहीं। सबका किया ही किया। पहले छोटे छोटे भाई-बहनों का किया फिर बच्चों का किया। मैं ने तो सबका किया परंतु सबने मेरे साथ धोखा किया। भगवान ने कहा, अब क्या हुआ ? प्रभु ! मुझसे झूठ सहन नहीं होता है। इसलिए मैं बोल पडता हूँ तो बूरा लगता है। गेहूँ के कंकर की तरह उठाकर बाहर फेंक देते हैं। जैसे कोई रिस्ता ही नहीं है। भगवान महावीर के कान में कीले ठोके,चंडकौशिक ने डंक मारा, संगम ने अनेक उपसर्ग किए क्या यह सब सही थे? हम सब इसे गलत ठहराते है। साधना में रत प्रभु के साथ इन नासमझ जीवों का नासमझ आचरण असहनीय लगता है। परमात्मा कहते हैं, मुझे यह सब गलत चलता है। स्वयं गलत नहीं होना चाहिए। प्रत्येक स्वयं ने स्वयं की गलती को सुधारना है।

जगत् के लोगों को मिथ्या ठहरा देने से हम सच्चे नहीं हो सकते। किसी के पूछने की देर है, बस हम तैयार बैठे हैं। जगत् को मिथ्या मानने की जगह हम लोगों को मिथ्या मानते है। जगत् के नाथ मिलनेपर सत्य की पहचान होती है। परमात्मा अब तीसरा प्रश्न पूछते हैं, तू यहाँ क्यों आया है, क्या करके आया है और क्या करना चाहता है? ऐसा सुनते हुए कईबार गलतफहमी होती है। परमात्मा के प्रश्न को लोग हमारा प्रश्न समझकर उत्तर देते है। कई लोग कहते है, अब और कर भी क्या सकते है? आप दीक्षा देदो तो ले लेंगे वैसे भी घरवालों को भारी पड रहे है। बैठा दो आप पाटपर। आता कुछ नहीं है मांगलिक दे देंगे। पाट की शोभा बढाएंगे। आप गोचरी लाकर देंगे तो खाकर पात्रे धो देंगे। क्या मजाक समझ रखा हैं आपने इस पथ का? बहुत महत्त्व है इस पाट का। ज्ञान आना नहीं आना, होंशियार होना नहीं होना महत्त्वपूर्ण नहीं है। पाट का अपना महत्त्व होता है। पाट की शोभा हम नहीं बढाते हैं, पाट हमारी शोभा बढाता हैं। जानते हो आप? यह पाट किसकी हैं? क्या देखते हो आप? किस डोनर का नाम लिखा हैं इसपर? कितने ही नाम लिखे जाएंगे, मिटाए जाएंगे परंतु इसपर इस काल में शास्वत नाम दिया गया हैं सुधर्मा स्वामी का। यह सुधर्मा स्वामी की पाट हैं। आपने कभी वीरविक्रम की बात सुनी होगी। जब ओटेपर बैठते थे तो ज्ञान की चर्चा करते थे और नीचे उतरते थे तो ज्ञान गायब। इसीतरह इस पाटपर बैठने से सुधर्मा स्वामी का प्रभाव प्रारंभ होता है। इस पाट के चमत्कार तो पाटपर बैठनेवाले ही जानते हैं।

परमात्मा पूछते हैं, यहाँ तू क्यों आया हैं, क्या चाहिए तुझे? प्रभु! पूरे जगत् को नाथ मानकर जीता था। अब समझ में आया मैं स्वयं अनाथ हूँ। केवलमात्र आप ही मेरे नाथ हो। आपसे उत्तम जगत् में कुछ भी नहीं है। अब सोचो कि हम भगवान को अपना सबकुछ समर्पित कर दे। वास्तव में हम भगवान ऐसा कह देवे कि, आप ही एक मेरे नाथ हो, आप ही मेरे तरण तारणहार हो जगत् के उत्तमोत्तम पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ केवलमात्र आप हो। ऐसा सबकुछ कह देने पर परमात्मा कितने खुश हो जाते होंगे न। हम हमारे सारे संबंधो को छोड देते है केवलमात्र प्रभु आप ही मेरे सर्वस्व हो -

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव।

हम दो तरह से भगवान के सामने उपस्थित होते हैं एक तो स्वयं को समर्पित कर। परमात्मा को सर्वस्व मानकर जैसे हम परमात्मा को प्रसन्न कर रहे है। हममे से कई लोगों की ऐसी धारणा हैं कि हमारी समर्पण को देखकर भगवान खुश हो जाते है। दूसरा संबंध है लाचार और विवश होकर परमात्मा के पास जाना और जाकर उनकेपास अपलाप करना। मैं ने सबका बहुत किया जब मेरा समय आया तब किसी ने मेरी ओर नहीं देखा। इसतरब बेचारा बनकर भगवान के पास आता है। एकबार ऐसे ही एक भक्त के साथ भगवान ने कुछ संवाद किया। बोल माँ के साथ क्या हुआ? वह तो चालु हो गया। डॉ को दिखाया, दवाई लाकर दी, धर्मस्थान जाने के लिए पैसे दिए। तब भी माँ ने मेरे बच्चों को सम्हालने की मना कर दी। इसतरह भगवान आगे पूछते ही गए, पिता के साथ क्या हुआ, मित्र के साथ क्या, पत्नी के साथ क्या हुआ ? अब जब तू मुझे तेरा सर्वस्व मानता हैं तो जो सबके साथ हुआ वह मेरे साथ भी होगा। वहाँ तो कुछ तेरा चला नहीं इसलिए तू मेरे पास आया। आपको पता हैं धर्म स्थान में जो नेतागीरी करनेवाले होते हैं वे घर में झीरो बॅलेन्स होते है। घर में उनकी बिल्कुल नहीं चलती। बेटे, बहू, बच्चे उनकी मानते नहीं। पर धर्म स्थान में उनका वटहुकुम और दादागीरी देखनेवाली होती है। भगवान ने कहा, तेरी कही नहीं चली इसलिए तू मेरे पास आया कि यहाँ तेरा सब चल जाएगा। भक्त ने कहा, नहीं नहीं भगवान ऐसा नहीं हैं। भगवान ने कहा, फिर क्या हैं ? उसने कहा, मैं अनाथ हूँ। ऐसे देखो तो जगत् में मेरा बहुत कुछ हैं परंतु आपके सिवा मेरा कोई नहीं हैं और आपके सिवा मेरा कुछ नहीं है। परमात्मा ने कहा, वत्स! पहले तु तेरा नाथ बन जा फिर मेरे पास आना। भक्त ने कहा, हे नाथ! मैं अनाथ हूँ इसिलिए तो आपके पास आया हूँ।

मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई नाथ नहीं है - **अणाहो मि नाहो मज्झ न विज्जई।** इसतरह अनाथता का अनुभव हो जानेपर नाथ स्वयं कहते हैं - **कहं नाहो न विज्जई ?** तू स्वयं तेरा नाथ है। कैसे तू स्वयं को अनाथ समझ रहा है ? **तंसि नाहो अणाहाणं सव्वभूयाणं** - तू तो सर्व अनाथजीवों का नाथ है। जगत् के नाथ पाते ही हम स्वयं नाथ बन जाते है। तब हमार अंत:करण बोल उठता है - परमात्मा को नाथ स्वरुप में पाते ही -

ततो हं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य ।
सव्वेसिं चेव भूयाणं, तस्साणं थावराण य ।।

जगत् का नाथ जब हमारा स्वयं का नाथ बन जाता हैं तब हमें अनुभव होता हैं, हम स्वयं अपने और दूसरे के तथा त्रस और स्थावर सभी जीवों के नाथ हो जाते हैं।

भक्तामर स्तोत्र में नाथ शब्द की व्याख्या करती हुई एक महत्त्वपूर्ण गाथा है - **मत्त्वेति नाथ तव संस्त्वन मयेद !** परमात्मा आप मेरे हो ऐसा मान लेनेपर हे नाथ! मेरे द्वारा आपके स्तवन का प्रारंभ हो रहा है। पूर्व सात गाथाओं में कही भी नाथ शब्द का प्रयोग नहीं हैं। इस आठवी गाथा में नाथ शब्द का प्रयोग मिलता है। सातवी गाथा में कहा हैं, **तव संस्त्वेन पापं क्षणात्क्षयमुपैति।** तेरे स्तवन से क्षणवार में पाप क्षय हो जाते हैं ऐसा मानकर ऐसा मत्त्वा शब्द का अर्थ है। अब स्तवन का प्रारंभ होता है। इसिलिए पांचवी गाथा में खुल्ला कहा हैं कि मैं तेरी भक्ति से

विवश हूँ, बाकी तेरे स्तवन करने का मेरा कोई सामर्थ्य नहीं। इस गाथा में भक्ति, शक्ति और प्रीति का अद्भुत सामंजस्य बताया गया हैं। शायद ही अन्यत्र ऐसा विवरण उपलब्ध हो।

मत्त्वेति नाथ शब्द में नाथ और इति शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। **न अथ इति नाथ।** अथ अर्थात् प्रारंभ और इति अर्थात् अंत। आप कहते हो न, **"मैंने इस बुक को अथ से इति तक पढ ली है अर्थात् प्रारंभ से अंत तक पढ ली है।"** नाथ शब्द का अर्थ होता हैं जिसका प्रारंभ नहीं है। किसके प्रारंभ की यहाँ चर्चा की जा रही है? प्रभु का अनुग्रह करुणा, कृपा इसका कोई प्रारंभ नहीं है अर्थात् अनादि काल से है। भगवान ने हमारे उपर तब दया करी थी जब हम अव्यवहार राशि के अनादि निगोद में जन्म मरण कर रहे थे। सिद्ध भगवान अनुग्रह करके हमें व्यवहार राशि में लाए। व्यवहार राशि में आनेपर अरिहंत परमात्मा की अनंत करुणा हमपर बरसी। परमात्मा ने कहा, पहले तु तेरे स्वयं पर दया कर, करुणा कर, अनुग्रह कर फिर मेरे पास दया की याचना कर। जो स्वयं की जात पर दया नहीं कर सकता, जो स्वयं का नाथ नहीं बन सकता वह मुझे नाथ रुप में पहचान नहीं सकता।

भगवान महावीर के अनन्य भक्त महाराजा श्रेणीक परंपरा से शैवधर्मी थे। जैन धर्म के वे कट्टर विरोधी थे। पत्नी चेलणा के प्रति उन्हें अनन्य प्रेम था परंतु उनके साथ भगवान महावीर या उनके संतों के दर्शन, श्रवण या भक्ति नहीं करने का नियम था। एकबार चेलणा के जन्म दिवस पर उनके कहने से वे मंडिकुक्षी उद्यान में गए। मंडिकुक्षी उद्यान में गुलाब का छोटा सा एक उपवन था जो चेलणा को अत्यंत प्रिय था। चेलणा श्रेणीक को उस उपवन में जन्म दिवस मनाने ले गई। वहाँ पहुंचते पहुंचते श्रेणीक महाराज प्रसन्न हो गए। अचानक राजा की नजर उस उपवन के एक द्राक्ष मंडप के नीचे बैठे हुए एक खुबसूरत पुरुष की ओर गई। वह था तो सुंदर परंतु साधु के वेष में ध्यान करके बैठा था। संत नीति को उपेक्षा की दृष्टि से देखनेवाले राजन् स्तब्ध हो गए। सोचने लगे, क्या हुआ होगा साधु का वैराग्य का कारण क्या हो सकता है? ऐसा कोनसा दु:ख उसे आया होगा की उसे यह मार्ग अपनाना पडा। व्यक्ति पहले प्रेम में ही टूटता है। प्रेम में निष्फल व्यक्ति पूरे संसार को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। पैसे से टूटा आदमी पुन: पैसे प्राप्त कर सकता है। चाहे कारण प्रेम हो या पैसा मेरे पास हर कारण का निवारण है। प्रेम का धक्का होगा तो शादि कर दुंगा और पैसे का धक्का होगा तो उसे मैं सहाय कर सकता हूँ। मेरे पास अपार समृद्धि है।

ऐसा सोचते हुए राजाने मुनि के दाहिने पैर के अंगुठे का स्पर्श किया। साधना में बैठे मुनियों का यह महत्त्वपूर्ण अंग है सारी प्राण उर्जाए साधना के समय में दाहिने पैर के अंगुठे में समाई हुई होती है। चेतना का यह एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। झुककर मुनि के पैर का चरण स्पर्श करते हुए राजा को देखकर चेलणा को आश्चर्य हुआ, आनंद हुआ और अहोभाव भी हुआ। यद्यपि राजा झुके जरुर थे, चरणस्पर्श भी कर रहे थे परंतु पर वे प्रणाम नहीं थे। आदर भी नहीं था। थी केवल आतुरता। उन्हें मुनि मानकर नहीं मित्र मानकर यह चेष्टा की जा रही थी। मूकभाव से चेलणा देखती रही। चरण स्पर्श होते ही मुनि ने ध्यान खोला, आँखे खोली और राजा की ओर देखा। राजाने मुनि के पाँव छोडकर हाथ पकडा और कहा, चलो! उठो, क्या तकलीफ हैं? क्यों दीक्षा ली बताओ हमें। मुनि ने कहा, मैं अनाथ था इसलिए मैंने दीक्षा ली। राजा ने कहा, चल मैं तेरा नाथ बनूंगा। राजन् तुम स्वयं अनाथ

हो, तुम कैसे मेरे नाथ बन सकते हो? राजा ने मुनि से कहा, कैसी बाते करते हो? मैं तो पूरी नगरी का नाथ हूँ। मेरे पास पूरा राज्य है। राजमहल और अंत:पुर है। सभा, साम्राज्य और सैन्य है। मैं कैसे अनाथ हो सकता हूँ?

मुनि ने कहा, यह सब तो मेरे पास भी था राजन्। आप नाथ और अनाथ की व्याख्या से अनभिज्ञ हो। **न तुमं जाणे अणाहस्स अत्थं पोत्थं -** अनाथ शब्द की अर्थ और उत्पत्ति को जानो राजन्। अनाथ शब्द की अर्थ को उत्पत्ति को समझे बिना नाथ बनना, जानना और स्वीकारना कैसे संभव है? राजन्! नाथ शब्द के दो अर्थ होते हैं - स्वामी और योगक्षेमकर्ता। जिसका कोई स्वामी या योगक्षेम विधाता न हो वह अनाथ है। राजाने कहा, मुनि! आप मुझे व्याख्यान मत दो। लेक्चर मत सुनाओ। आप तो मुझे यह बताओ कि, मैं या आप अनाथ कैसे हो सकते हैं? मुनि ने कहा, राजन्! संसार में कहने योग्य सबकुछ मेरे पास था। राज्य था, साम्राज्य था, सैन्य था। मैं स्वयं एक राजकुमार था। आपके पास एक चेलणा है। मैं अनेक चेलणाओं का स्वामी था। एक दिन अचानक मुझे पीडा होने लगी। राज्य के सभी वैद्य, हकीम, चिकित्सक आदि सभी के प्रयास के बाद भी मेरी वेदना कम नहीं हो पायी। माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी सब मुझे लाचार और विवश देख रहे थे। मुझे ऐसा अनुभव हो रहा था मैं अनाथ हूँ, मेरा लाचार हूँ, मैं विवश हूँ, मेरा कोई नहीं है। कोई मेरा कुछ नहीं कर सकता है। इसी पीडा में मैंने भगवान को भीतर से याद किया। प्रभु! आप ही मुझे पीडा मुक्त कर सकते हो। हे नाथ! आप मुझे मेरी इस अनाथता से मुक्त करो। मुझे लाचारी से मुक्त करो। ऐसी प्रार्थना करते करते कई दिनों के बाद मुझे नींद आ गई। सुबह उठकर मैंने तथाकथित स्वजनों से कहा मैं मेरे नाथ के पास जाता हूँ और चल पडा। दैहीक पीडा से मुक्त करनेवाले भगवान महावीर ने मुझे उस दिन भव पीडा से मुक्त करनेवाला संयम दिया और कहा, आज से तू तेरा नाथ हैं। जगत् का नाथ है। सभी जीवों का नाथ है।

हम स्वयं के नाथ होते हैं तो ही अन्यों के नाथ हो सकते हैं। यदि हमारे पास पैसे होते है तो पांच लोग पूछते हैं। एक कहावत है, **जीम के निकलो तो सारा मोहल्ला पूछेगा।** अर्थात् जब कोई भोजन करके निकलता है उसे सब भोजन का न्योता देता है। यदि कोई कारण से किसी पार्टी को धक्का लग जाए अचानक सबकुछ खो जाए ऐसी स्थिति में जिगरजान दोस्त भी मुँह फिरा लेता है। सबको पता लगता हैं कि यह अभी तकलीफ में है, तो कोई सामने भी नहीं देखता। भगवान कहते हैं जगत् का नियम यहाँ भी प्रयुक्त होता है। तुम स्वयं के नाथ होंगे तो ही अन्य जीवों के नाथ बन पाओगे। भगवानने नाथत्त्व को हमें तीन सीस्टम में बताया - १. जगत् के प्रति अनाथ होना, २. स्वयं का नाथ होना, और ३. जगत् का नाथ होना।

मेरे जीवन का वह अविस्मरणीय समय था जब जगत् के नाथ ने मेरी इस तथाकथित अनाथ आँखों में आखें डालकर मुझे सनाथ बनाया था। प्रथम बार मेरा मस्तक उनके चरणों में झुक गया था। पूर्ण आनंदभाव, अहोभाव अनुभूति के साथ मेरा अत:करण, मेरे रोम रोम, मेरे समस्त आत्मप्रदेशों मंत्र स्फुरित हुआ था, **नमोत्थुणं लोगनाहाणं।** भगवान ने कहा -वत्स! अब तू सनाथ है। तू तेरा ही नाथ है। तू जगत् का नाथ है। सृष्टि के सभी जीवों का नाथ है। सभी जीवों की सुरक्षा की जिम्मेवारी तुम्हारी है। कमजोर न होना, विवश न होना। तुम

सिर्फ नाथ ही नहीं मैं तुम्हारी सिद्धपर्याय देख रहा हूँ जो तुम्हारे भव्यत्त्व की भावपर्याय है। तुम भी जगत् के जीवों के सिद्धत्त्व को जानना, समझना और प्रगट करना।

एकबार आँख बंद करके आप भी इस संबंध का स्वीकार करो। जगत् के जीवों के साथ आपने करुणामय संबंध का स्वीकार किया है। पानी की बूंद में भी असंख्यात जीव हैं ऐसी भगवानकी भाषा को जाना है, माना है, पहचाना है। आँगन की चींटी को देखकर आप हटकर निकल जाओगे। उसे बचा तो लोगे आप परंतु दया मेरा धर्म है, करुणा मुझे करनी है, अहिंसा का पालन मेरा कर्तव्य है। यह सब करुणामय संबंध है। जब आप यह सोचोगे मैं इस चींटी का नाथ हूँ, स्वामी हूँ आपका करुणामय, दयामय संबंध प्रेममय और वात्सल्यमय हो जाएंगा। स्वयं के बच्चे को जिस प्यार की दृष्टि से देखते है वही प्यार जगत् के सभी जीवों के प्रति होगा।

संसार के संबंधो में हम प्रेम को इज्जत के साथ तोलते है। किसी का सौ रुपए का कवर आएगा तो हम सामने भी सौ का ही कवर करते है। पिता यदि पुत्र को कुछ देता है तो वह दया नहीं प्रेम है। करोडपति का बच्चा जिसे पचास रुपए से कम की चॉकलेट नहीं खिलाई जाती हैं फिर भी वह कोई पांच छह रुपए की टॉफी देवे और बच्चा हाथ फैलाकर लेले तो माता पिता को इज्जत खो गई ऐसा लगता है। किसी ज्योतिषी के ये कहनेपर कि गुरुवार को बेसन का दान दोगे तो आपका पितृदोष टल जाएगा। मोहल्ले के बाहर कुछ बच्चों को गुड चने खिला देते हो और अपने को दानेश्वरी समझते हो। कल की बची दो रोटी गाय को खिलाकर अपने आपको पुण्यशाली कहलानेवाले आपको कभी लगता है कि गाय में यदि सिद्धत्त्व है तो मेरे नमस्कार हो। सब्जी मंडी में खडे रहकर सब्जी का नाप तोल करने में भावताल करने में माथापच्ची करनेवाले आपको कभी भींडी की एकनद सींग हाथ में लेकर ऐसा लगता यदि मेरा चले तो भगवान की तरह इस जीव को शासन रसीक बनाउ। सभी जीवों को तारने की, शासन रसीक बनाने की क्षमता स्वयं में न भी लगे तो एकाद जीव को बुझाने की इच्छा होती है क्या? लोगनाहाणं प्राप्त हो जानेपर सभी जीवों के जीवत्त्व में शिवत्त्व के दर्शन होते है। सभी भव्यत्त्व में सिद्धत्त्व के दर्शन होते है।

बहुत प्रेम से एकबार लोगनाहाणं के चरणों में नमस्कार कर के तो देखो। पूर्ण श्रद्धा के साथ, आस्था के साथ जगत् का विस्मरण कर जगन्नाथ का स्मरण करो। अनुभव करो लोगनाहाणं आपके मस्तकपर हाथ रखकर आपको नाथ होने का प्रमाणपत्र दे रहे है। जबतक मोक्ष प्राप्त न हो संपूर्ण ब्रह्मांड के विचरण में जो हमारे साथ है हमारे मस्तक पर जिनका हाथ है ऐसे नाथ प्रीत के साथ हमारे हित की पूर्ति कैसे करते है इसे हम कल देखेंगे। अब आप भी नाथ है ऐसा मानकर रुआब और गौरव के साथ लोगनाहाणं के स्मरण में नमोत्थुणं कर स्वयं के नाथत्त्व का अनुभव करो।

... नमोत्थुणं लोगनाहाणं ...
... नमोत्थुणं लोगनाहाणं ...
... नमोत्थुणं लोगनाहाणं ...

नमोत्थुणं लोगहिआणं

जिनके स्वयं के हित की साधना से विश्व हित की साधना हो जाती हैं उन्हें लोगहिआणं कहते हैं।
जो तीन तीन जन्म से सर्व जीवों के हित का और मुक्ति का चिंतन करते हैं उन्हें लोगहिआणं कहते हैं।

विश्वहित की साधना परमात्मा के सीवा कौन कर सकता है? विश्वहित अर्थात् सर्वजीवहितकर साधना। इस साधना में अचिंत्य शक्ति होती है। साधना में प्रवेश पाते ही साधकका इस शक्ति के साथ संयोग हो जाता है। सर्वजीवहितकर साधना को स्वहित की साधना में प्रयुक्त विधान अर्थात् **नमोत्थुणं लोगहिआणं।** हित, हेत और हूंफ (उष्मा) भारतीय संस्कृति के हृदयस्पर्शी शब्द है। समान लगते हुए भी तीनों शब्दों में काफी अंतर है। हित किया जाता है। हेत दिया जाता है और हूंफ में जिया जाता है। हेत और हूंफ सामाजिक प्रक्रिया है और हित सैद्धांतिक प्रक्रिया है। हेत और हूंफ भावनाप्रधान है और हित भावप्रधान है। हित का हेतु हित ही होता है।

आज हम सैद्धांतिक और भावप्रधान हित के वाहक के साथ अपना संबंध स्थापित कर रहे है। हित भावप्रधान होने से इसमें भावनाओं में बहा नहीं जाता है। जैसे माँ हेत में भावनाप्रधान होकर बच्चे की पसंद की चीज हित अहित देखे बिना दे देंगी परंतु दूसरे दिन परिणाम प्रगट होनेपर प्रवृत्ति में परिवर्तन करेगी। समय आनेपर बालक का हित देखते हुए उसे नाक दबाकर कटु औषध भी पिला देती है। माँ के अतिरिक्त घर के अन्य सदस्य संबंधी, स्नेही हेत और हूंफ दे सकते है परंतु हितमात्र माँ ही देखती है। भावनाप्रधान होते हुए भी माँ जब भावप्रधान बन जाती है तब माँ के प्रेम को वात्सल्य कहते है। जो बाधा, पीडा और अपाय का परिहार करे उसे हित कहते हैं। लोगहिआणं को समझाते हुए गणधर भगवंत ने हित के परिणाम त्रय बाताए है।

हित अर्थात् जिससे

१) हमारा भवरोग मिटे।
२) हमारी अबोधि छूटे और
३) हमारी असमाधि टूटे।

परमात्मा के प्रेम का नाम वात्सल्य है। तीर्थंकरत्त्व की प्राप्ति के कारणों में सात कारण वात्सल्य के बताए हैं। इसके लिए **वच्छलयाय तेसिं** शब्द द्वारा तीर्थंकर नामकर्म प्राप्त करने का उल्लेख शास्त्र में है। हित का हेतु मात्र हित ही है ओर कुछ नहीं। ऐसे परमपुरुष को जगत् में अकारणवत्सल कहते है । अर्थात् जिनके वात्सल्य के लिए और कोई कारण नहीं हो सकता। पर्याय की दृष्टि से हित के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। कल्याण, शुभ, सत्य, श्रेय, उद्धार, उपकार, लाभ, गुण। व्यवहार पक्ष में हित के साथ मित और प्रीत को महत्त्व दिया गया है। आहार विज्ञान में हित और मित के साथ पथ्य को उपयुक्त माना गया है।

लोगहिआणं पद में लोक+हिआणं दो शब्द का उपयोग हुआ है। जिसका अर्थ होता है। लोक का हित करनेवाले। लोक शब्द का अर्थ हम कई बार देख चुके है। लोग अर्थात् संसार, सृष्टि, विश्व आदि। जिन्होंने जन्म

के तीन भव पूर्व ही सर्वजीव करुशासन रसीक के भाव के साथ जगत् के सर्व जीवों का कल्याण चाहा था। वर्तमान में विरती धर्म द्वारा और प्रवचन प्रभावना द्वारा तथा भविष्य में सिद्धत्त्व प्रगट कर अव्यवहार राशि और अनादि निगोद के जीवों का हित करनवाले होने के कारण गणधरों ने लोगहिआणं पद से नमस्कार किए है। लोकहित के दो प्रकार है - आत्महित और परहित। जो स्वयं के कल्याण की भावना करते है वे सामान्य केवलि होते है। जो स्वयं के साथ अन्य स्वजन संबंधियों के मोक्ष-कल्याण की कामना करते है गणधर होते है। जो सर्व जीवों के मोक्ष की कामना करते है, व्यवस्था करते है वे तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करते है। कल्याण की इस भावना में आत्महित और परहित दोनों समाए हुए हैं।

परहित के दो प्रक्रार है - आग्रहहित और अनुग्रहहित। जहाँ हमारा अभिप्राय हित का मुखौटा पहनकर स्वयं की बात का आग्रह रखता है उसे आग्रहहित कहते हैं। आग्रहहित में दरअसल हित नहीं होता हैं। व्यक्ति स्वयं के अहं को हित में लपेटकर हित के रुप में प्रस्तुत करता है। आग्रहहित का एक रुप बिन मांगी सलाह भी है। ऐसे लोगों को फ्री ॲडवाईझर कहते है। हमारी सलाह सूचना की किसी को आवश्यकता या अपेक्षा हो न हो हम जो कहेंगे वो कोई मानेगा या नहीं मानेगा, मेरी बात हित से संबंध रखती है या नहीं रखती है ऐसा सबकुछ सोचे बिना सलाह देते ही जाए और वह भी उसने मानना ही चाहिए ऐसा आग्रह रखते है उसे आग्रहित कहते है। प्राय: संसार ऐसे ही बिना हित के आग्रहों से भरा हुआ है। अभी कुछ दिन पूर्व ही एक लडका और एक लडकी हमारे ही चबूतरे पर बैठकर हसते हुए, बोलते हुए नास्ता कर रहे थे, पानी पी रहे थे। कुछ दिन यह घटना दोहराती गई। परिणामत: हमारे माननीय महिला मंडल की महिलाएँ एक दिन इकट्ठी होकर मेरे पास शिकायत करने लगी- यह उपाश्रय है। इसके चबूतरेपर बैठकर लडके-लडकी का मस्ती करना शोभा नहीं देता। मैं ने कहा, कौन है पता करलो। तो कहने लगी ये सब लफडेवाले ही होते है। ऐसे ही एकांत जगह का ये लोग लाभ लेते है। बहुत बार शिकायत सुनकर एक दिन मैंने दोनों बच्चों को अंदर बुलाये । दोनों शरमाने लगे तो महिलाएँ आपस में घुस-पूस करने लगी, देखो कैसे शरमा रहे है। वे मुझे पहचानते थे, मैं उन्हें नहीं पहचान पायी थी। मुझे देखकर कहने लगे, हमें पता था कि आप एक दिन हमें अंदर बुलाऐंगे। मन करता है पर टाईम नहीं मिलता मम्मी भी कहा करती है कि स्थानक में जाया करो। मैंने पूछा आप हो कौन? परिचय पानेपर पता लगा कि ये नासिक रोड के बच्चे हैं। दोनों भाई-बहन है। सामने कॉलेज में पढते है। एक नास्ता लाता है और एक पानी उठा के लाता है। छूट्टि में दोनों यहाँ बैठकर खाना खाते है। इसतरह हमारी गैरसमझ हैं। कईबार गलत मान्यताओं के कारण हम हिताहित से रहित केवल मान्यताओं का आग्रह रखते हैं।

कईबार आपने अनुभव किया होगा कि घर में कोई महेमान आए हो तो उनके लिए स्वादिष्ट भोजन बनाया गया है। महेमान जब भोजन कर रहे हो तब भोजन बनानेवाली महिला का ध्यान और कान निरंतर उसतरफ होता हैं कि भोजन की प्रशंसा कैसा है। यहाँ प्रशंसा का आग्रह है। मानलो कभी महेमानों का ध्यान कही ओर हो और भोजन की तारिफ ना करे तो घर की गृहिणी बाहर आकर कहती है, जल्दी कैसे हो गया? गरम बनाने के चक्कर में

मैं बाहर भी न आ सकी। कैसा लगा खाना आपको? ऐसा करके स्वयं प्रशंसा करवा लेती है। कईबार महेमान भी अपनी बात का आग्रह रखते हुए कहते है, खाना तो बहुत अच्छा था, यहाँ **तो** शब्द सस्पेंड है। सामनेवालों में तो फिर क्या है, ऐसा प्रश्न हो ही जाता है और वह फिर आगे चलता है - कढी थोडी खट्टी कम थी बाकी सब अच्छा था। महिला से फिर नहीं रहा गया उसने कहा लेकिन यह बताओ ना हलवा कैसा था? वह तो बहुत बढिया था लेकिन मीठा ज्यादा था। इसतरह आग्रहहित में हित को जाने बिना केवल आग्रह होता है। इसमें दोनों पक्ष का आग्रह होता है और दोनों पक्ष में अहं होता है।

अब हम अनुग्रह हित की चर्चा करते है। हम जो कुछ भी कार्य प्रवृत्ति करते है उसके परिणाम से अनभिज्ञ होते है। इस परिणाम को प्रवृत्ति के समय जो जान लेते है वे ज्ञानी पुरुष है। जान लेने के बाद नुकसान होने से पहले रुकवा लेते है, बचा लेते है और वह काम नहीं करने देते है उसे अनुग्रहित कहते है। जैसे अबोध बच्चा अचानक भगकर उस रास्तेपर जाने लगता है जहाँपर अनेक गाडियाँ आ रही जा रही होती है। उस मार्गपर जाते हुए बच्चे को रोकते हुए वापस लाने में बालक के प्रति अनुग्रहहित है। सुख की प्राप्ति के लिए संसारी लोग सुख की व्यवस्था करते हैं, सुख के साधन इकट्ठे करते है, उपयोग करते है। उससे जो परिणाम आते है उसे सुख मानते है। ज्ञानी पुरुष केवल मात्र इस परिणाम को ही सुख नहीं मानते है। सुख प्राप्ति के लिए की जानेवाली व्यवस्था मात्र में सामने दिखाई देनेवाले परिणाम के अतिरिक्त भी कुछ अनजाने परिणाम होते है उसका फल वे जानते हैं, देखते हैं, समझते हैं। तभी तो कहते है - **सुख प्राप्त करता सुख टळे छे, लेश अे लक्षे लहो।** ऐसा कौन कह सकता है? क्योंकि सुख प्राप्त करलेनेपर सुख मिलता है ऐसा तो जगत् में सब कहते हैं। परंतु सुख प्राप्त करनेपर सुख नहीं मिलता है, ऐसा तो ज्ञानी पुरुष ही कह सकते है। शास्त्रों में इसके लिए बहुत सुंदर उदाहरण कहा गया है-

जहा किम्पाग फलाणं, परिणामो न सुंदरो।
एवं भुत्ताणं भोगाणं, परिणामो न सुंदरो ।।

किम्पाग नाम का एक फल होता है जो दिखने में बहुत सुंदर होता है, खाने में भी स्वादिष्ट होता है परंतु खाने के कुछ समय बाद विष का परिणाम प्रगट होता है। इसलिए कहा है कि फल भले ही सुंदर हो परंतु उसका परिणाम सुंदर नहीं है। इसीतरह संसार के उपभोग बाहर से अच्छे लगते है परंतु उनका परिणाम सुखमय नहीं होता है। परिणामों के आधारपर पदार्थ की हितमय व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण परमात्मा को **एगंतहियधम्माहु** कहे हैं। परमात्मा एकांत हित हेतु धर्म का कथन करते हैं।

हिआणं अर्थात् हितेच्छक - हितस्वी। अर्थात् नुकसान होने से पूर्व प्रवृत्ति में परिवर्तन कर देना। या ऐसा भी कह सकते है कि नुकसान को निष्फल कर देते है। जैसे किसी टाईमबॉम के विस्फोट होने से पहले बरामद होनेपर उसे डिस्म्युझ कर देना ताकि वह निष्फल हो जाय। अधिकांश संसार में हितेच्छक वे कहलाते है जो किसी अचानक घटना के बन जानेपर एकदम सलाह देना शुरु कर देते है। जैसे बेटे के द्वारा गाडी का ॲक्सीडंट हो जानेपर कितनी बार कहा है ध्यान रखकर गाडी चलाओ। मुझे पता ही था कि तू एक न एक दिन गाडी ठोककर ही आएगा आदि आदि। ऐसी बाते करते समय माता पिता स्वयं को हितेच्छक समझते हैं। हकीकत में यह हित की बात

नहीं है यह सूचना है जो पूर्व में जरुर देनी होती है परंतु ॲक्सीडंट हो जाने के बाद उसे परवरिश की जरुरत है। प्रेम से हाथ फेर कर उसे कहना चाहिए कि घबराओ मत कहाँ लगी है? गाडी तो ठीक हो जाएगी तुम पहले ठीक हो जाओ। यह हित की बात है। समझकर कहनेवाली बात हित की होती है। समझे बिना कही जाने वाली बात टिकटिक होती है।

जगत् के जीवों को प्रतिक्षण सुख की अभिप्सा होती है। तब वह प्रत्येक पदार्थ में से सुख को खोजता है। तब ज्ञानी पुरुष समझाते है कि सुख पदार्थ में नहीं है, इन्द्रिय में नहीं है, कोई भी सुख शास्वत भी नहीं है। कोई भी सुख या दु:ख क्यों आते है इसे समझना चाहिए। परम कृपालु राजचंद्रजी ने कहा है -

शुं करवाथी पोते सुखी, शुं करवाथी पोते दु:खी।
पोते शुं क्याथी छे आप, तेनो मागो शिघ्र जवाब ।।

अपने स्वयं के अस्तित्त्व से अनजान या अनभिज्ञ रहना स्वयं का अपमान है। ऐसा समझाने के बाद भी सुख के प्रति हमारा ममत्त्व कम नहीं हो पाता है। भौतिक सुख की गाडी भगाते ही रहते है। भागते है, भगाते है, भटकाते है, गिरते है, गिराते है। जब चोट लगती है तब क्षणिक वैराग्य आता है। उस समय परमात्मा हमें सलाह सूचना देने नहीं आते है, परंतु हमें झुककर उठाते है, गले लगाते है, पीडा का शमन करते है और वाणी से परिचर्या करते है, वत्स ! संसार ऐसा ही होता है। यहाँ के प्रत्येक मार्ग चिकने है। हमेशा सावधानी रखनी चाहिए। इसे अनुग्रहहित कहते है। अनुग्रह कभी आग्रह में परिणमित नहीं होता। इन विचारों को अंकित करते हुए एक कवि ने कहा है -

यूं तो हर दिल किसी दिल पे फिदा होता है,
प्यार करने का तौर मगर जुदा होता है ।
आदमी लाख सम्हलनेपर भी गिरता है,
जो झुककर उसे उठाले वही तो खुदा होता है ।।

तीर्थंकर परमात्मा कृतकृत्य हो गए है। फिर भी वाणी का प्रकाशन क्यों करते है? यदि आपको ऐसा पूछे तो आप क्या कहोगे? प्रश्न व्याकरण सूत्र में परमात्मा के प्रवचन का कारण बताते हुए कहा है, **सव्व जग जीव रक्खणट्ठयाए दयट्ठायाए भगवया पावयणं सुकहियं ।** सर्व जीवों की दया, रक्षा और हित हेतु भगवान प्रवचन, कथन करते है। ये तीनों हेतु एक साथ इस लोक और परलोक में शुद्धरुप, न्याययुक्त, तर्कसंगत, अकुटिल अर्थात् मायारहित और अनुत्तर हो ऐसा ओर कोई दे भी कौन सकता है? परमात्मा की वाणी इन सारी शर्तों को पूर्ण करती है। सर्व दुखों को शांत करती है। यह सब हमारे इस भव और परभव दोनों में फल देती है। इसीलिए परमात्मा की वाणी को **अत्तहियट्ठयाए** कहा है अर्थात् परमात्मा की वाणी आत्महित के लिए होती है। संसार में सबसे अधिक दुर्लभ आत्महित की बात करनेवाले होते है।

परमात्मा आत्महित के लिए प्रवचन करते है। गुरु इन प्रवचनों को यम, नियम और उपसंपदा के रुप में जब शिष्य में आरोपित करते है तब भी आत्महित का लक्ष्य रखा जाता है। इसीलिए गुरु शिष्य को पंचमहाव्रत की

उपसंपदा देते हुए कहते है - वत्स! प्रत्येक तीर्थंकरों ने भूत, भविष्य और वर्तमान में आत्महित हेतु पांच महाव्रत की उपसंपदा कही है। उन सभी अरिहंत प्रभु की साक्षी से प्रतिज्ञा करो कि - **अत्तहियट्ठयाए उवसंपजित्ता णं विहरामि।** आत्महित के लिए मैं उपसंपदा का स्वीकार करता हूँ। स्वयं की साक्षी से पांच महाव्रतो का पालन करना है। इसतरह गुरु परमात्मा के आज्ञा धर्म को शिष्य को प्रदान करते है। आज्ञा धर्म परमात्मा का आग्रह नहीं परंतु परित्तसंसारी बनने की अनुग्रह भरी व्यवस्था है।

खाना तो माँ भी सिखाती है परंतु उसे अनुग्रह में नहीं आग्रह में ही गिना। जैसे जैसे बच्चा खाना सिख लेता है वैसे वैसे माँ की प्रवृत्ति निवृत्ति ले लेती है। खाना, पीना, बैठना, चलना आदि सभी प्रवृत्तियाँ सिख लेनेपर माँ निवृत्त हो जाती है। चलना सिख लेनेपर बच्चा माँ को गोद में लेने का आग्रह करें तो माँ बच्चे को बाहर ले जाने की उपेक्षा करती है। माँ ऐसा क्यों करती है, क्योंकि वह बच्चे को उठा नहीं सकती है।

माँ का पार्ट पूरा हो जानेपर परमात्मा हमें खाना सिखाते है। आप सोचोगे अब क्या सिखना होता है? शास्त्रों के पेज खोलकर पढो। आपकी तरह मैं भी वैसा ही समझ रही थी। जब मैं चरणानुयोग का काम करती थी उसमें जब एषणासमिति का काम आया तब मुझे लगा था इसमें क्या होगा ये जल्दी हो जाएगा परंतु काम करनेपर पता चला कि पांचों समिति में एषणासमिति सबसे बडी है। एषणासमिति एक तरफ है और अन्य चार समिति एकतरफ है। इतना काम एषणा समिति में है। उसमें भी पात्रेषणा, वस्त्रेषणा, शयेषणा आदि अन्य एषणाओं से भी पिंडेषणा सबसे भारीभरखम है। पिंडेषणा अर्थात् खाने की एषणा अर्थात् गोचरी। पिंडेषणा के तीन प्रकार है - १. गवेषणा, २. ग्रहणेषणा और ३. ग्रासेषणा। गवेषणा अर्थात् गोचरी लेने जाना। ग्रहणेषणा अर्थात् गोचरी लेना बहेरना । ग्रासेषणा अर्थात् खाने की विधि। दीक्षा लेकर जब प्रथमबार गोचरी की चर्या करके वापस लौटे तब विधि अनुसार इर्यावहिया का कायोत्सर्ग किया। दूसरी प्रक्रिया होती है पूरा आहार सभी रत्नाधिकों के अर्थात् सभी बडों को दिखाने का और कहने का, **साहु हुज्जामि तारिओ**। उसके बाद गोचरी ले सकते है। हम भी उस विधि विधान से निवृत्त होकर गोचरी वापरना शुरु करने लगे। इतने में ही गुरु महाराज ने रोका गोचरी कैसे वापरनी उस आज्ञा को पहले समझो। सचमुच उस दिन बहुत अचरज हुआ। गोचरी जाना लाना आदि में तो भगवान की आज्ञा होती है परंतु खाने में भी क्या आज्ञा होगी? गुरु आज्ञा भी महत्त्वपूर्ण है ऐसा मानकर गोचरी एक तरफ ढक कर रख दी और आज्ञा सुनने बैठ गए। भूख को भूला दी। एकाग्रता से गुरु वचन श्रवण किए। आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि ऐसी भी आज्ञा होती है। मुख में एक साईड ग्रास रखकर उसे उसी ओर से चबाया जाए वह ग्रास दूसरी साईड में जाना नहीं चाहिए। कितनी विचित्र बात हैं न? गोचरी कब लेनी, कितनी लेनी, कैसे लेनी, कहाँ से लानी, किनसे लेनी आदि आदि तो सिद्धांत तो हो सकते है परंतु गोचरी के शुद्ध पदार्थों को मुख में रख देनेपर चबाना भी आज्ञानुसार। फिर भी इस आज्ञा पालन में अनहद आनंद था। अहो! आहार के इन पुद्गलों के कण कण पर प्रभु का आधिकार है। इसे अपने अधिकार का पदार्थ समझकर इच्छा से खाने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। यह प्रभु का

प्रसाद है। प्रभु की आज्ञा मेरे अनुग्रहहित का कारण है। ऐसा सोचकर निर्लेप वृत्ति से इसे ग्रहण किया। यद्यपि यह विधि कठिन अवश्य थी परंतु लोगहिआणं साथ थे। साथ थी उनकी लोकहितैषिणी आज्ञा।

तप के प्रकारों में उपवास का मात्र एक ही प्रकार है। बाकी के पांच प्रकार खाने के ही है। खाना फिर भी तप गिना है। यह कैसी अद्भुत प्रक्रिया है। प्रथम अनसन तप है। अन असन अर्थात् उपवास। अनसन का एक अर्थ संथारा भी होता है। अधिकांश लोग यही अर्थ समझते है परंतु इसका वास्तविक अर्थ उपवास है। अनसन के बाद दूसरा तप उणोदरी है। इस तप में खाना होता है परंतु कम। उदर अर्थात् पेट। उण अर्थात् थोडा कम, पूर्ण न भरना। तीसरा है वृत्तिसंक्षय अर्थात् पदार्थ में से खाने की वृत्ति का संकोच करना। वृत्ति को संक्षेप कर खानाँ लेना। उसके बाद रस परित्याग है। इसमें पदार्थ जैसा हो वैसा ही रस का आस्वादन किए बिना आहार का उपभोग करना। इस प्रकार खाने के छूट होते हुए भी वृत्ति के खेल बंद करना यह ऐषणा समिति में समझाया है। कैसे चलना यह इर्यासमिति में बताया है। कैसे बोलना यह भाषा समिति में समझाया है। इसतरह संपूर्ण जीवन शैलि में परमात्मा पधार जाते है। नए जीवन का प्रारंभ होता है। खाना, पीना, चलना, बोलना सब प्रभुआज्ञा के अनुसार। इसकी संख्या आठ होने से इसका नाम अष्टप्रवचन माता है। जैसे माँ बच्चे को खाना पीना सिखाती है इसीतरह अष्टप्रवचन माता संयमी आत्मा को खाना पीना सिखाती है। फिर भी दोनों में अंतर है। बच्चे के सिख लेनेपर माँ का सिखाने का पाठ पूर्ण हो जाता है परंतु अष्टप्रवचन माता का संयंमी के साथ का संबंध आजीवन अंतिम साँस पर्यन्त रहता है।

परमात्मा ये सब सिद्धांत सिर्फ हमपर थोपते नहीं है परंतु सभी प्रक्रियाओं का प्रयोग पहले स्वयंपर करते है। परमात्मा का जीवन एक चलती फिरती प्रयोगशाला है। भगवान महावीर के देवगमन के पश्चात भाई नंदिवर्धन के दीक्षा की आज्ञा न देनेपर परमात्मा ने दो वर्ष तक घर में रहकर छह छह महिना चारों दिशाओं में ध्यान कर गृहस्थों के लिए आगार धर्म के अनुभूति पूर्वक प्रयोग किए थे। समस्त जीवों के हित की कल्पना उनकी सुरक्षा का संपूर्ण पद प्रस्तुत किया था। उनकी आज्ञा नुसार कदम उठाने वाले सफल जीवन जीकर मोक्षगामी बन सकते है। केवलज्ञान के पूर्व तीर्थंकर पर्याय में भी जगत् के जीवों के हित को प्रभु ने खुलकर बहाया था।

शूलपाणियक्ष, चंडकौशिक, चंदनबाला आदि अनेक आत्मओं का कल्याण प्रभु ने केवलज्ञान के पूर्व ही किया था। जिनका स्वयं का आग्रह टूट जाए। अन्यों के प्रति का आग्रह टूट जाए। सारे हठाग्रह टूट जाए उसे अनुग्रहहित कहते है। इस हित में अन्य जीवों को अधिक से अधिक सुख सोभाग्य कल्याण प्राप्त हो और वे आत्मविकास कर सके ऐसी भव्य भावना के साथ संयुक्त परहित में अनुग्रहहित समाया हुआ है।

एकबार भरुच के पैठणपुर नगर में अश्वमेघ यज्ञ का आयोजन था। इस यज्ञ में अश्व का बहुत महत्त्व होता है। हृष्ट पुष्ट अश्व के द्वारा आहुति दी जाती है। ऐसे ही एक अश्व को अश्वशाला में से बाहर निकाला गया। नहला धुलाकर नवीन वस्त्राभूषण पहनाकर यज्ञशाला की ओर पंडित लोग ले जा रहे थे। पंडितो ने देखा अश्व की आँख में आंसू है। पंडितों के मन में हुआ क्या यह आहुति शब्द समझ गया होगा? क्या उसे खयाल आ गया होगा

कि उसे बलिदान देने के लिए ले जा रहे है। मंत्रोच्चार के पूर्व पंडितों ने उसकी सिरपर हाथ रखकर उसे समझाना शुरु किया तू कितना भाग्यशाली है। धर्म के नामपर तेरी मृत्यु हो रही है। भगवान के नाम का स्मरण कर। धर्म हितार्थ तेरी कुरबानी तूझे स्वर्ग में पहुंचाएगी। पंडितो के शब्द कानपर पडते ही अश्व सावधान हो गया। धर्महित और भगवान एकसाथ उसके रोम रोम में राचने लगे। निरंतर इन शब्दों की गुंज से उसके भीतर उहापोंह हो गया। धर्महित और भगवान इन दो शब्दों के स्मरण में वह गहरा उतर गया। भगवान का स्मरण तो मरण के समय होना स्वाभाविक है परंतु इसके तो स्मरण के साथ पुकार और पुकार के साथ साक्षात्कार होना प्रारंभ हो गया। अश्व की वृत्ति की प्रवृत्ति बन गई। अस्तित्त्व का एहसास हो गया। परमात्मा के आगमन का विश्वास हुआ। उसके मुखपर मुस्कान उभर गई। अचानक वह नाचने लगा। पंडित समझे भोग सामग्री स्वरुप फल-फूल-नैवद्य को देखकर बिचारा खुश हो रहा है लेकिन यह खुशि कितने समय रहेगी? अभी इसकी आहुति हो जानी है। अश्व मन ही मन में कह रहा था तुम यज्ञ में मेरी क्या आहुति दोगे? मैं स्वयं प्रभु के चरणों समर्पित हो जाउंगा।

यह घटना भगवान मुनिसुव्रतस्वामी के समय की भरुच के पेठाणपुर नगर की है। उस समय परमात्मा भरुच से ६० योजन दूर थे। ६० योजन अर्थात् २४० माईल अर्थात् ३८४ कि.मी. होता है। इतने दूर रहे हुए परमात्मा ने स्वयं के ज्ञान और ध्यान में जाना और देखा कि भरुच में एक अश्व प्रतिबोधित होने के लिए उत्सुक हो रहा है। शिघ्र ही परमात्मा भरुच में पधारे। समवसरण की रचना हुई। यज्ञ में आमंत्रित देवता परमात्मा के समवसरण में पधारे। विशाल मानव समुदाय वहाँ पहुंचा, पंडित भी पहुंचे, तिर्यंच भी पहुंचे। हमारा अश्व भी समवसरण में पहुंच गया। मुनिसुव्रतस्वामी ने देशना फरमाई। देशना संपन्न होते ही गणधर भगवंत ने पूछा, प्रभु ! आपकी आजकी देशना में कौन प्रतिबोधित हुआ। परमात्मा ने अश्व की ओर दृष्टिकर संकेत किया कि यह अश्व प्रतिबोधित हुआ। जिसके हित के लिए यहाँ आना हुआ वह कार्य संपन्न हुआ। गणधर भगवंत समेत सबका ध्यान प्रतिबोधित अश्व की ओर गया। अश्व की आँख में आनंद के आँसु थे। मुख पर उल्हास था। हृदय गदगदीत था। रोम रोम में प्रभु के अनुग्रह का आनंद उछल रहा था। अश्व को जातिस्मरण ज्ञान हुआ। पूर्वजन्म की स्मृति हुई। नमोत्थुणं की साधना जाग्रत हो गई। नमोत्थुणं लोगहिआणं के पाठ में वह मग्न था। परमात्मा ने उसकी अबोधि हटाई। उसमें बोधि प्रगट की। प्रभु का ध्यान अश्वपर और अश्व का ध्यान प्रभु पर है। वाह! भक्त भगवान की जोडी। अश्व के भीतर परावाणी प्रगट हो गई- **समाहिवरमुत्तमम दिंतु।** परमात्मामाने एक हाथ अश्व की ओर किया वह बैठ गया। फिर दूसरा हाथ उठाकर अश्व के मस्तक पर रखा। सब के देखते देखते अश्व समवसरण से बाहर निकल गया। समवसरण के बाहर भी परमात्मा लोगहिआणं उसके साथ थे। परम साधना प्रारंभ हो गई। मोक्ष मार्ग प्रशस्त हो गया।

एक के हित में अनेकों का हित हो जाता है वहाँ परमात्मा अवश्य पहुंच जाते है और एक के हित से अनेकों का या शासन का अहित होता हो तो देवता भी भावों को संकुचित हो जाते है

इतिहास में एक मल्लमुनि हो गए। जो शास्त्रों में पारंगत थे। एकबार किसी सूत्र का अर्थ न लगनेपर उसने देवताओं की सहाय मागी तुरंत ही शासन देवों ने गुप्तावास में रखी हुयी प्रते प्रगट करी। प्रतों का स्वाध्याय करते हुए अचानक कुछ प्रते मुनिश्री से जमीनपर रखी गई । तुरंत ही शासन देवों ने प्रत उठा ली। सत्य का बोध होते ही मुनिश्री ने माफी मांगी। प्रत परत करने की बिनती की तब शासन देव ने कहा, शास्त्र की अशातना शासन की अशातना है। एक के हित के हेतु पूरे शासन का अहित नहीं हो सकता। ऐसा है हमारा शासन। ऐसा है हमारे प्रभु के हित का पथ जहाँ हित का हेतु हित ही है। ऐसे जनजन के हित का, विश्व के हित का, समस्त ब्रह्मांड के हित का, तीनों लोकों का हित चिंतवन करनेवाले परमात्मा के चरणों में अंजलि करके बिनती करेंगे, लोगहिआणं पधारो हमारे हित का हेतु सार्थक करो। अनादि काल से अंधकार में मार्ग भूले हुए हमें पथ प्रदर्शन करों अत: दीपक बनकर जन्म जन्म के अंधकार से हमें मुक्त करो।

नमोत्थुणं लोगहिआणं . . . .

नमोत्थुणं लोगहिआणं . . . .

नमोत्थुणं लोगहिआणं . . . .

नमोत्थुणं लोगपइवाणं

लोकप्रदीप को नमस्कार

हे लोक प्रदीप, पूर्णज्ञानी, परमपुरुष ! मेरे भीतर के नैपथ्य में तुम्हारी परम ज्योति का स्पर्श हो। बाह्यलोक में बाह्यप्रकाश के लिए अनेक साधनों की खोजें हुई परंतु भीतर के प्रकाश को प्रज्ज्वलित करनेवाले में एकमात्र आप ही ज्योतिपुंज हो। भीतर का अंधकार आप के सिवा कौन दूर कर सकता है? दीपक को सजाने की तो मुझे भवांतरों से आदत है। आज भी मैंने बडी उमंग से मेरा दीप सजाया है। विविध प्रकार के तप, जप और अनुष्ठान से इस दिए का सुशोभन किया है परंतु प्रभु तेरी ज्योति का स्पर्श पाए बिना दीपक कैसे प्रज्ज्वलित हो सकता है?

वत्स! **अप्प दीवो भव।-** अपने दीपक खुद बनो। तुम स्वयं प्रकाश हो। किसी अन्य प्रकाश की प्रतीक्षा मत करो। प्रकाश प्रतीक्षा का नहीं स्पर्श दीक्षा का विषय है। मेरे और तुम्हारे बीच का भेद तोड दो। परदा खोल दो। तुम्हारी सहज और शाश्वत स्वरुप की अवस्था में प्रवेश करो। स्वयं में स्वयं के प्रकाश को प्रगट करो, अन्य को प्रकाशमय करने का सामर्थ्य तुममें है। वत्स! तुम्हारा भीतर भेद लो। भीतर के भीतर में प्रवेश करो। उस भीतर में हम दोनों एक ही है। ज्योत का स्पर्श कर ज्योतिर्मान हो जाओ।

हे दिव्यलोक प्रदीप ! आप ही समस्तलोक के उजास, प्रकाश और विकास हो। आपको और आपके प्रकाश को नमोत्थुणं लोगपइवाणं मंत्र से नमस्कार हो। हे अनबूझ लोकदीप ! हमारे हृदय में एकबार प्रगट तो हो जाओ। आपके प्रगट हो जानेपर मेरा आत्म दीपक जगत् के किसी भी संकल्प विकल्प के बवंडर में बूझ नहीं जाएगा। आपके दिव्य दीप का स्पर्श होते ही अनेक भव्य दीप एक साथ प्रगट हो जाऐंगे।

नमोत्थुणं लोगपइवाणं

जो प्रज्ञा और प्रकाश का दीप प्रज्ज्वलित करते है वे भगवान हैं।
जो प्रज्ञा और प्रकाश को प्राप्त कर प्रज्ज्वलित हो जाते हैं वे भक्त है।
प्रगट करते हैं वे परमात्मा हैं और प्रगट हो जाते हैं वे देहात्मा हैं।
जो स्वयं प्रगट होते हैं और अन्यों को भी प्रगट करते हैं वे लोक प्रदीप हैं।
जो स्पर्श को प्राप्त कर ज्योतिर्मान हो जाते हैं वे आत्मदीप हैं।

अनंत गणधरों ने जगत् के जीवों को परमतत्त्व के साथ जोडने के लिए लोगपइवाणं मंत्र का दान दिया। जहाँ लोक है वहाँ अंधकार है। लोक में भले ही अंधकार है परंतु लोक मे लोगपइवाणं भी है। लोगपइवाणं के प्रगट होते ही अनेक जन्मों के अंधकार का नाश होता है। कभी न बुझे ऐसे अनबूझ दीप जैसे अरिहंत परमात्मा लोक में जन्म लेते हैं, लोक में उजाला करते हैं और ज्योत पाने वालों को लोक के अग्रभाग तक ले जाते हैं। वहाँ ज्योत से ज्योत का स्पर्श होता है और ज्योत अनंत ज्योत में समा जाती है। ऐसे परमतत्त्व लोकप्रदीप के चरणों में हम नमोत्थुणं अर्पित करते हैं।

भक्तामर स्त्रोत्र में कहा है,

निर्धूमवर्तिरपवर्जित तैलपूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोडपरस्त्वमसिनाथ! जगत्प्रकाशः।।

परमतत्त्व रुप दीए को प्रगट करने के लिए तीन दीये हमारे सामने हैं। १. मिट्टी का दीपक, २. आत्म दीपक और ३. परमात्म दीपक। परमात्म दीपक को समझने के लिए मिट्टी के दीपक को समझना पडता है क्योंकि मिट्टी का दीपक उपमान है और उपमान के पांच उपकरण है - १. पात्रदीपक, २. बत्तीका अस्तित्त्व, ३. तेल का अस्तित्त्व, ४. वायु का प्रभाव-अभाव और ५. धूम्र का अस्तित्त्व। दूसरे हम है आत्म दीपक। प्रगट होने के लिए हमें चाहिए - १. स्वयं अस्तित्त्व, २. प्रगट होने की जिज्ञासारुप बत्ती, ३. श्रद्धा का तेल, ४. संकल्प का प्रभाव और ५. विश्वास का अस्तित्त्व। इसीतरह परमात्मारुप अस्तित्त्व दीये के उपमान से उपमीत है परंतु तुलना करनेपर संतुलन नहीं बनता है। जैसे परम अस्तित्त्व सदा प्रगट रहता है। शुभनाम कर्म के उदय से प्राप्त तीनों शुभ योगों की बत्ती है। तीसरे तैलपुरण की आवश्यकता नहीं होते हुए भी वीर्यंतराय कर्म के क्षय से उत्पन्न शक्तिरुप शाश्वत है। सामान्य दीपक वायु के प्रचंड वेग को बुझा देता है। परंतु परमात्मा तो अबूझ है मेरुपर्वत को उखाडकर फेंक देनेवाला प्रचंड वायु भी परमात्मा रुप दीपक को बुझा नहीं सकता है ऐसे अचल परमात्मा हैं। धुएं में कालापन होता है। परमात्मा समस्त उदयमान कषायों के परमाणुओं से रहित होने के कारण सदानिर्धूम होते है।

जन्म जन्म से अंधकार में भटकनेपर भी हम लोकपइवाणं का स्पर्श न पा सके। कभी कभार स्पर्श पाने का अवसर आया भी हमारे पात्र में बत्ती बराबर नहीं थी। किसी गुरुमाता ने हममें भावना की बत्ती भर दी तो श्रद्धा का तेल खतम हो गया। पुण्योदय से सद्गुरु ने श्रद्धा का तेल भी पुरा फिर भी ज्योति के स्पर्श के अभाव में हम ज्योतिर्मान नहीं हो पाए। आज परम पुण्योदय से अनंत गुरु गणधर भगवंत नमोत्थुणं के माध्यम से परमपरमात्मा रुप दीपक की ज्योति के साथ हमारा स्पर्श करा रहे है। सूरज भी उजाला तो देता है परंतु अंत में तो वह भी अस्त हो जाता है। पावर हाउस के साथ संबंध जोडकर लाईट का कनेक्शन ले लेते हैं तो अंधेरे में उजाला तो हो जाता है परंतु नियमितता के खंडीत हो जानेपर लाईन डिस्कनेक्ट हो जाती है। ऐसा अनुभव हम सबको हैं। छोटे से झिलमिलाते दीपक को किसी कनेक्सन की आवश्यकता नहीं है। बस उसके संबंधित थोडे से नियमों का पालन हो जाए वह पूरे घर को रोशन कर देता है। हमारा शरीर भी मिट्टी का दीपक है। उसे परिपूरित करके आत्मा के चिराग से परम ज्योति का स्पर्श हो जाए तो संपूर्ण जीवन रोशन हो जाता है। चित्त के इस चिराग में तेल, बत्ती आदि के समाप्त होकर दीया बुझे उससे पहले हमें सावचेत और सावधान हो जाना जरुरी है। गणधर भगवंत द्वारा प्रदत्त इस शास्वत ज्योत के साथ ज्योत का स्पर्श हो जाए तो भवांतर में भी यह दीया अनबुझ रहता है। आज लोगपइवाणं मंत्र के द्वारा परम ज्योत को हमारी भावना व्यक्त करेंगे। परम ज्योति स्वरुप हे परमात्मा ! मेरे चित्त के चिराग में सदा ज्योत जलती रहे ऐसी करुणा करना। आप के ज्योति के इस उजाले में आपके चरणों को देखते देखते हम मार्ग काटते रहेंगे। आपके ही उजाले में हम अपने उबड खाबड पथपर भी आराम से आगे बढेंगे और मंजिल को पा सकेंगे। बिना उजाले के अनादी काल से हमनें अंधकार में अनेक यात्राएं की। चलते भी रहे, गिरते भी रहे, मार्ग हमेशा अखूट रहा। इस संसार में चलनेवालों को गिरानेवाले मिलते हैं पर गिरते हुए को बचानेवाले या गिरे हुए को उठानेवाले नहीं मिलते है। प्रभु ! तुम्हारी आज्ञा, तुम्हारे शास्त्रों का स्वाध्याय, तप, जप आदि हमें अवश्य सहयोग देते हैं। परंतु उसमें हमारे भाव और भक्ति का सांमजस्य नहीं हो पाता। उस कारण हम उसका परिपूर्ण पालन कर प्रकाश प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

दीपपर से अंधदीपन्याय, देहलीदीपन्याय और दिलदीपन्याय की कहावतें प्रचलित है। पथ में, घर में, दिल में या जीवन में जहाँ भी दीया प्रज्ज्वलित होता है वहाँ स्वयं को और अन्य को उजाला प्राप्त होता है। पर हमारे साथ रहनेवाले या हमारे सामने आनेवाले या हमारे आसपास रहे हुए सबको प्रकाश प्राप्त होता है। परमपुरुष हमें कब कितना और कैसे उजाले की आवश्यकता है, कितना प्रकाश पाने का हममें सामर्थ्य हैं और कितना प्रकाश हम अन्यों को देने की क्षमता रखते है, यह सबकुछ जानकर हमारे जीवन में दीया प्रगट करते है।

एकबार रात्रि के समय में एक अंधव्यक्ति गुरु के साथ सत्संग संपन्न कर लौट रहा था। गुरु ने अंधव्यक्ति के हाथ में एक लालटेन पकडा दी। आँखोंवाले व्यक्ति में तो दिन-रात का, अंधेरे-उजाले का परिणाम और प्रभाव होता है परंतु किसी अंधव्यक्ति के लिए सब समान है। दिन हो या रात हो, अंधेरा हो या उजाला हो उसे कभी भी दिखाई नहीं देता है। हम सब की इस धारणाओं से विरुद्ध सद्गुरु ने उस अंधव्यक्ति के हाथ में लालटेन थमा

दिया। हमारी तरह ही अंधेव्यक्ति की भी सोच थी, जब मुझे दिखता ही नहीं तो मैं इस लालटेन को क्या करुंगा? सद्गुरु ने कहा, तुम्हें भले ही नही दिखाई दे पर पथ से गुजरते हुए अंधेरे में देखनेवाला कोई व्यक्ति तुमसे टकरा न जाए इसीलिए तुम्हारे हाथ में यह रखना जरुरी है। अंध व्यक्ति ने बिना किसी तर्क के लालटेन लेकर चलना शुरु किया। रास्ते से गुजरते हुए अचानक एक आदमी उससे टकरा गया। अंधव्यक्ति को समझ में नहीं आया कि कही सामनेवाला व्यक्ति अंधा तो नहीं है। उसने कहा, भाई तुझे लगा तो नहीं है? सामनेवाले व्यक्ति ने जोर से कहा, टकराओगे तो लगेगा तो सही। इतनी फिकर हैं तो देखकर क्यों नहीं चलते ? और यदि देखना ही नहीं था तो लालटेन लेकर क्यों घूम रहा है ? अंधव्यक्ति ने कहा मित्र! मैं तो जन्म से ही अंध हूँ। मैं यह भी नहीं जान सकता हूँ कि आप कैसे हो? पर हा, देखता हुआ कोई भी व्यक्ति मुझसे टकराए नहीं इसके लिए यह लालटेन लेकर चल रहा हूँ। मुझे भले ही ना दिखाई दे लेकिन देखनेवाले व्यक्ति से मैं टकाराउ नहीं और उसके पथ दर्शन का सहयोगी बनूं ऐसा सोचकर सद्गुरु ने मुझे जगत् प्रकाश के लिए लालटेन दिया है। मैं भी आपको दिखाई दू और पथ भी आपको दिखाई दे। अब बारी थी देखनेवाले व्यक्ति की। वह झिझक गया, सम्हल गया और शरमा गया। उसने कहा धन्य हैं तुम्हारे सद्गुरु जिन्होंने जगत् के अंधकार में रोशनी प्रगट की। धन्य हैं तुम्हें भी जगतको प्रकाश देने के लिए लालटेन लेकर हम जैसों का पथ प्रदर्शन करते हो। अनंत गुरु गणधर भगवंत इस जगत् के अंधकार में हमें लोकपइवाणं का दीया पकडाते है। जाओ ! जगत् में जहाँ कही भी अंधेरा है वहाँ उजाला करो। पथ प्रदर्शन करो।

कईबार हमारे साथ ऐसा होता है। गुरुप्रदत्त भेंट या शिक्षा कब, कहाँ, कैसे और किन संजोगों में काम आएगी यह हम नहीं जानते हैं। लेते समय हम कई तर्क करते है। तर्कों में लपेटकर हम स्वयं को बुद्धिमान समझते है। सूर्य के साथ आँखें मिलाकर गर्भवती हो जानेवाली कुंती की कथा को महाभारत की सिरीयल में देखकर किसी जैनीने तर्क नहीं किया कि ऐसा कैसे हो सकता है? सूरज के साथ दृष्टि मिलाकर, सूर्य की किरण पकडकर अष्टापद पर्वतपर चढने का सामर्थ्य रखनेवाले अनंतज्ञान के स्वामी के वात्सल्यपात्र अनुग्रहपात्र गौतमस्वामी की घटना हमारे कौतुहल का कारण बन जाती है। परम निष्कारण में अपने कारणों को जोडकर महापुरुषों की बुद्धि को तोलने का काम जैनों के सिवा अन्य कर भी कौन सकता है? कथा साहित्य हो या पौराणिक साहित्य हो हम परमात्मा के प्रज्ञादीप को पहचान भी नहीं सकते है। यही बातें जब विज्ञान प्रुफ कर देती है तब हम शर्मींदा होते है। परम पुरुष की प्रज्ञा प्रेरणा का परमबल होती है। प्रज्ञा जब प्रेरणा बन जाती है तब आज्ञा का रुप लेकर शिष्य में समा जाती है।

इस अहंकार में लोक के प्रदीप परम तत्त्व हमारे जैसे पामर जीवों के साथ लोगपइवाणं बनकर गिरते हुए को बचाते हैं। भटकनेवालों को सन्मार्ग दिखाते हैं। अटकते हुए को गति देते हैं। यदि परमतत्त्व उनकी ऐसी प्रज्ञा पदीप की प्रेरणा का दिया नहीं प्रगट करे तो इस अनंत संसार में से हमें कौन बचाएगा ? हमारे तो दोनों लोक में अंधेरा है। बाहर संसार में भी और हमारे भीतर भी। भीतर भगवान पधारे तो भीतर भी उजाला होता है और बाहर भी उजाला होता है। हम स्वयं भी इस अनंत संसार से बच सकते है और हमारे साथ आस पास के भी बच सकते है। इसे कहते हैं अंधदीपन्याय।

अब देखिए दहलीजदीपन्याय। घर में प्रवेश के पूर्व एक चौखट होती है जिसे दहलीज कहते है। सामाजिक वातावरण में विशेष त्योहारों में और विशेष अवसरों में दहलीजपर दीया प्रगट करते है। इसके दो अभिप्राय होते है। कोई भी नया आगंतुक आता है तो आंगन में उजाला मिलता है और दीये का उजाला भीतर घर को भी प्रकाशित करता है अर्थात् घर और आंगन दोनों को जो दीया प्रकाशित करें उसे दहलीजदीप कहते है। दूसरा अभिप्राय है - हमनें किसी देव का आव्हान किया हो तो उसके स्वागत में दीया प्रज्ज्वलीत करते है तो देव घर में प्रवेश करते है। इसी को न्याय का रुप देते हुए पारिवारिक संस्कार का कारण माना गया है। बेटा या बेटी जब स्वयं के घर को भी खुश और संस्कारीत रखते हैं और बाहर समाज में भी दान, धर्म, सेवा आदि द्वारा वातावरण को संस्कारीत बनाने में सफल रहते है; उसे देहलीदीपन्याय कहते है।

हमें हमारे दिल को जीवन की दहलीज बनाना है। जो हमारे दिल में भी उजाला करे और हमारे जीवन में आनेवालों को भी उजाला दे। जो हमारा भीतर और बाहर दोनों को प्रकाशित करते हैं वे हैं लोगपइवाणं। दिल से नमोत्थुणं के द्वारा लोकपइवाणं को दिल में आंमत्रित करो। वे हमारे जीवन में और आसपास के वातावरण में दीये जलाऐंगे। दहलीजदीपन्याय की तरह हम और हमारा जगत् प्रकाशित हो जाएगा।

दीपक का नियम हैं कि दीया दीये को जलाता है। दीये से दीया प्रगट होता है। प्रगट करनेवाला दीया जिन हजारों दियों को प्रज्ज्वलित करता है उन्हे स्वयं की तरह ही ज्योतिर्मान करता है। समान ज्योत, समान तेज और समान प्रकाश सर्वत्र व्याप्त होता है। दीक्षाशास्त्र में इसे स्पर्श दीक्षा कहते हैं। दीये में सबकुछ हो बत्ती हो, तेल हो, उसे बहुत अच्छा सजाया गया हो लेकिन जबतक ज्योति का स्पर्श नहीं हो पाता वह ज्योतिर्मान नहीं हो पाता है। स्पर्शदीक्षा के लिए शास्त्र में कहा है -

जह दीवा दिवसयं, पइप्पए य सो दीवो ।
दीवसमा आयरिया दिवंति परं च दिवंति ।।

जबतक परमात्मा प्रगट नहीं रहते है तब आचार्य को दीपक की मान्यता दी जाती है। जो प्रज्ज्वलित दीपक की तरह होते है। स्वयं भी प्रकाशित होते है और अन्यों को भी प्रकाशित करते है। स्पर्श के दो प्रकार है - द्रव्यस्पर्श और भावस्पर्श। पदार्थ का पदार्थ के साथ का स्पर्श द्रव्यस्पर्श कहलाता है। यही स्पर्श हमारे अंत:करण को छूकर भाव-उत्पन्न करते है उसे भावस्पर्श कहते है। जिसतरह गरम पदार्थ के साथ हाथ का स्पर्श हो जानेपर जो गर्मी का अनुभव होता है उसे द्रव्यस्पर्श कहते है। इस अनुभव का हमारे उपर जो अच्छा-बूरा प्रभाव होता है उसे भावस्पर्श कहते हैं। जैसे आँख से रुप देखना, कान से शब्द सुनना यह द्रव्यस्पर्श है। परंतु यह सुनने के बाद हममें अच्छे बुरे परिणाम प्रगट होते है और उनका हमारे उपर प्रभाव पडता है इसे भावस्पर्श कहते हैं। ओर खुलासा चाहिए? अच्छा सुनिए, आप भोजन करने बैठते हैं। पदार्थ आपकी प्लेट में आता है। आपके मुँह में जाता हैं द्रव्यस्पर्श है। अब दाल स्वादिष्ट है, सब्जी में नमक कम है आदि चेष्टाएं भावस्पर्श हैं। द्रव्यस्पर्श के बाद अच्छे बूरे परिणाम प्रगट होना और उसका प्रभाव भीतर प्रगट होना भावस्पर्श है। भावस्पर्श से ही हममें राग द्वेष उत्पन्न होते हैं।

द्रव्यस्पर्श के शास्त्र ने आठ प्रकार बताए हैं - कठोर-कोमल, शीत-गरम, रुक्ष-मृदु और हलका-भारी । अब जरा सा हमें अपने भीतर झाँकना है। हम सामायिक या अन्य कोई भी प्रत्याख्यान पारते हैं तब बोलते है - **समकाएणं न फासियं न पालियं.....तस्स मिच्छामिदुक्कडं ।** जिसका अर्थ होता हैं, मैंने सामायिक या प्रत्याख्यान का स्पर्श न किया हो तो मिच्छामिदुक्कडं। अब सोचिए यहाँ कौनसे स्पर्श के बारे में कहा गया है। आठ में से कौनसा स्पर्श हो सकता है? बहुत स्वाभाविक है कि आठ स्पर्श द्रव्यस्पर्श है। सामायिक आदि का भावस्पर्श आवश्यक है। अर्थात् सामायिक की प्रत्येक क्षणें साक्षीभाव के साथ जागृति के साथ होनी चाहिए। यदि ऐसा न हो पाया, मन विचलित हो गया, आत्मा साक्षीभाव से हट गया, जागृति न रह पायी ऐसा कुछ भी हुआ हो उसे दोष माना गया है। उसका मिच्छामि दुक्कडं कहा गया है।

भावानुसंधान होता है तब मिट्टि का दीया आत्मदीपक बनकर परमात्मदीपक में परिणमित हो जाता है। कथानुयोग में चंद्रावतंस नाम के राजा की एक कथा आती है। संध्या का समय था, सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था, उजाला अंधेरे में परिवर्तित हो रहा था तभी चंद्रावतंस राजा के अंत:करण में प्रभु भक्ति की प्रीत जगी। राज महल के भीतर के कक्ष में पहुंचते पहुंचते आत्ममहल के भीतर के कक्ष खुलते गए। यह कक्ष सूना था। एकांत में था। अंधेरे में था। यहाँ थोडा उजाला चाहिए ऐसा सोचकर उन्होंने एक छोटासा श्रद्धा का दीप जलाया। उनका अंत:करण निर्मल और पवित्र था। द्रव्य दीप के साथ साथ भाव दीपक भी प्रज्ज्वलित हो गया। द्रव्य दीप को दियासली की ज्योत का स्पर्श हुआ और भीतर भगवान की ज्योत का स्पर्श हुआ। परमात्मा का प्रकाश प्रगट होते ही अनायास राजन से एक अभिग्रह की धारणा हो गयी। एक लक्ष्य का संधान हो गया। एक प्रतिज्ञा संकल्पमयी हो गयी। एक संकल्पना में राजा के संसार का उपसंहार हो गया। यम और नियम योगमय हो गये। योग प्रयोगमय हो गया और अंत में प्रयोग अयोग की यात्रा में निकल पडा। अनायास राजा से प्रतिज्ञा हो गयी कि दीया न बुझने तक मैं ध्यान चालु रखूंगा। जब तक दीया झिलमिलाएगा मैं किसी भी प्रकार का सावद्ययोग का व्यापार नहीं करुंगा।

कई बार ध्यान चलता हो तब प्रतिज्ञा भी परीक्षा बन जाती है। परीक्षा प्रतीक्षा में परिणमित होती है। राजा का ध्यान केवल प्रज्ज्वलित दीये के साथ जुड चुका था। अचानक ही कथा का दूसरा परिच्छेद प्रारंभ हो जाता है। राजमहल में राजा की एक विश्वासु दासी थी जिसने राजा को गर्भगृह के ध्यान कक्ष में प्रवेश करते हुए देख लिया था। राजा को अधिक समय तक ध्यानस्थ देखकर दासी ने दीपक में तेल खतम हाने से पूर्व ही उसे तेल से परिपूरित कर दिया। बाद में तो यह घटना परम घटना का कारण बनती गई। राजा और दासी के बीच में धारणा का गॅप समाप्त हो गया। दोनों अपने अपने पहलूपर आगे बढते रहे। दासी को अपने राजा के प्रति श्रद्धा थी तो राजा का अपने परमात्मा के प्रति समर्पण था। राजा प्रतिज्ञा में दृढ थे तो राजा की प्रतिज्ञा से अनजान दासी सेवा के प्रति दृढ थी। वह तेल से दीए के परिपूरित करती ही रही। संध्या रात में और रात प्रभात में परिवर्तीत होती रही। इस परिवर्तन ने राजा के भीतर भी परिवर्तन कर दिया। वातावरण की प्रभात राजा के अंत:करण की प्रभात हो गई। दिन का मंगलाचरण दिल का मंगलाचरण हो गया। बाहर चल रहा था कालचक्र उसमें चला कर्मचक्र वह कर्मचक्र धर्मचक्र

चलाता रहा। धर्मचक्र ध्यानचक्र में प्रगट हो गया। ध्यानचक्र में जिनचक्र प्रगट हो गया। जिनचक्र में जिनवर प्रगट हो गए। ज्योत से ज्योत प्रगट हो गई। कर्म टुटते गए। उपसमरस क्षायिकभाव में परिणमित हो गया। श्रेणी का प्रारंभ हो गया। धर्मध्यान शुक्लध्यान में परिणमित हो गया। शुक्लध्यान आत्मसात होकर पूर्णज्ञान में रुपांतरीत हो गया। निजचेतना जग गई। सत्स्वरुप खिल गया और केवलज्ञान प्रगट हो गया।कुछ ही क्षणों में देवदुंदुभि बजने लगे। महाकेवलि परमज्ञानी चंद्रावतंस भगवान के नाम के जयजयकार होने लगा। नमोत्थुणं लोगपईवाणं।

एक राजा को तीन बेटे थे। राजा सन्यास लेना चाहते थे। राज्य का कारभार किस बेटे के हाथ में देना इसपर वे सोच रहे थे। एक दिन राजा ने सद्गुरु से पूछा, आप ज्ञानी हो बताओ मैं किस बेटे को अपनी राज्य का अधिकारी बनाउ? गुरु ने कहा, परीक्षा करनी होगी। क्या कोई कडी परीक्षा होंगी उनकी? कडी परीक्षा क्या होती है? बेटे ही तो हैं बस करनी है परीक्षा। राजमहल में समान स्तर के तीन कक्ष है। हर एक को एक एक कमरा भरने को कह दो। कक्ष पूरा भरना चाहिए। बिल्कुल खाली न रहे। निश्चित समय पर प्रतियोगिता प्रारंभ हो गई। एक पुत्र ने भंडार रुम में से जेवर और सोना-मोहर से कक्ष भरना शुरु किया। सबकुछ लगा चुका परंतु कक्ष न भर पाया। दूसरे पुत्र ने देखा प्रयास करने के बाद भी इसका कक्षा नहीं भर पाया मुझे कुछ ऐसा पदार्थ सोचना चाहिए जो आसानी से कक्ष को भर सके। उसने कूडा-कचरा उठाकर कक्ष को भर दिया। उसने देखा पहले का कक्ष अधूरा है। तीसरे बेटे ने सोचा अभी तो पूरा दिन हैं पहले प्रभु भक्ति कर बादमें कमरा कैसे भरना यह सोचुंगा।

संध्या होते ही राजा गुरु के साथ तीनों कक्ष देखने निकले। पहला अधूरा था, दूसरा भरा तो पूरा था परंतु कूडे-कचरे के भरने से बदबू आ रही थी। उन्होंने तीसरा कक्ष खोला। कमरा पूरा खाली था परंतु कक्ष के एक कोने में दीया टीमटीमा रहा था। सर्वत्र अंधकार था पर यह कक्ष पूर्ण प्रकाशित था। राजा को देखकर आश्चर्य हुआ। वह कुछ समझे सोचे उससे पहले ही गुरु ने कहा, राजन् ! इस राजकुमार ने बहुत सोचसमझकर प्रयास किया है। कक्ष को पदार्थ से नहीं प्रकाश से भरा है। जो राजमहल में प्रकाश कर सकता है वह राज्य की प्रजा के दिल में प्रकाश कर सकता है। राज्यसत्ता का अधिकारी यह राजकुमार है। राजन ! दीया जले तो अंधेरा चला जाता है, यह सच है। लेकिन अंधेरा चला जाए तो दीया जले यह सच नहीं है। दीया तो जलाना ही पडता है।

लोगपइवाणं को नमस्कार करते है तब गणधर भगवंत कहते हैं - **प्रकाश की प्रतिक्षा मत करो, तुम स्वयं प्रकाश हो। अंधेरा हटाओ और स्वयं को देखो। अप्प दीवो भव..... अपने दीपक खुद बनो।** हमें इसी बात का चिंतन करना हैं कि हम स्वयं के दीपक कैसे बने। उजाला बनकर अंधेरे को कैसे देखे। इस साधना में हमारे दो रुप प्रगट होते हैं। एक वह जो करता है, एक वह जो देखता है। जो देखता है वह जाग्रत है, वह स्वभाव है, वह प्रकृति है। स्वभाव में रही हुयी आत्माने विभाव को देखना हैं। स्वभाव में रहे अंश ने विभाव में रहे अंश को देखना है। आत्माने आत्मा को देखना है। पर सोचो नहीं, घबराओ नहीं लोकप्रदीप का स्पर्श करो। उन्हें नमस्कार करो। आत्मदीपक प्रज्ज्वलित हो जाएगा।

ऐसा ही कोई छोटासा दीपक हम सब के भीतर चिरकाल के शाश्वत स्वरुप को प्रगट करने में, सत्स्वरुप प्रगट करने में सहयोग प्रदान करे ऐसी शुभकामना के साथ लोगपइवाणं मंत्र से अनंत जिनेश्वर भगवंत के चरणों में

नमस्कार करते हैं। गणधर भगवंतो द्वारा प्रदत्त नमोत्थुणं सूत्र से हमारे योगबल को अनुग्रहमय बनाए। आँखे बंद कर, सीधे बैठकर, देह को शिथिल कर चिंतन करो कि मेरा यह देह मिट्टि का दीपक है। उसमें श्रद्धा का तेल और विश्वास की बाती भरकर नमोत्थुणं द्वारा परमात्मा को नमस्कार करते हुए गणधर भगवंत से प्रार्थना करते है - हे परम गणधर भगवंत! परमात्मा के परमज्योत के साथ मेरी आत्मज्योत का स्पर्श करा दो। मुझे स्पर्श दीक्षा दो। हे लोकप्रदीपनाथ! पधारो मेरे आत्मदीप में स्पर्श करो मेरी चेतना का मेरे सुने शाश्वत स्वरुप में प्रगट हो जाओ। ज्योत जला दो। प्रदीप में प्रद्योत प्रगट करो और मेरे **लोगपज्जोयगराणं** बनकर मुझे उद्योतमय करो।

नमोत्थुणं लोगपहवाणं . . . . .
नमोत्थुणं लोगपहवाणं . . . . .
नमोत्थुणं लोगपहवाणं . . . . .

नमोत्थुणं लोगपज्जोयगराणं

जो स्वयं दिखाई ना दे परंतु समस्त लोक को दिखाई दे उसे प्रद्योत कहते हैं।
प्रद्योत अर्थात् उद्योत।
उद्योत अर्थात् उजाला।
लोक में प्रद्योत तब होता हैं जब रात पूर्ण हो जाती है।
लोक में प्रद्योत तब होता हैं जब प्रभात हो जाती है।
जीवन में प्रद्योत तब होता हैं जब प्रभु का साथ होता है।
जीवन में प्रद्योत तब होता हैं जब प्रभु से बात होती है।
आइए आज हम सब उजाला प्राप्त करें।

लोक के हित स्वरुप, आत्मप्रदीप स्वरुप, परमार्थदीपक स्वयं लोक में रहे हुए जीवों के अंत:करण में पधारकर अंधकार का हरण करते हैं और प्रकाश पहुंचाते हैं। ऐसे प्रद्योत की बात करते हुए गणधर भगवंत जगत् के जीवों की दो कक्षा बताते हैं -

१. जिन्हें अधंकार की आदत हो गई हैं, जिन्हें अंधकार ही अच्छा लगता हैं। बिचारे कुछ जीवों को उजाले का पता नहीं वे अधेंरे में ही रहते हैं। जिन्होंने कभी प्रकाश देखा ही नहीं और न तो प्रकाश का अनुभव किया है। जिन्हें हम व्यवहार भाषा में अंधेराप्रुफ़ कहते हैं।

२. दूसरी कक्षा के वे जीव हैं जिन्हें कभी कभी उजाला देखने का अवसर प्राप्त होता है अत: वे अंधकार में से उजाले में आने का प्रयास करते है।

आज हम उनकी बातें करेंगे जिनको उजाले की आवश्यकता हैं। जिन्हें उजाले की आवश्यकता समझ में आयी हैं, जिन्हें उजाले को पाने की अभिप्सा हैं, जिन्हें उजाला पाने के लगन लगी हैं। जो प्रभु चरणों में स्वयं को अर्पित कर परमात्मा से कह रहा है, हमें उजाला चाहिए ही। हमें उजाला ही चाहिए ओर कुछ नहीं। हमारी ऐसी प्रार्थना सुनकर गणधर भगवंत कहते हैं - कल तो तुम्हें दीपक स्वरुप में प्रभु मिल गए न ? अब तुम्हें और क्या चाहिए ? दीपक को जब चाहो तब प्रगट कर सकते हो। जहाँ चाहो वहाँ ले जा सकते हो। फिर अब तुम्हें क्या चाहिए? आज हमें गणधर भगवंत के इन प्रश्नों का उत्तर देना है। उन्हें कहना हैं प्रभु! परमात्मारुपी दीपक प्रगट कर। अंधेरे में भी उजाले का विस्तार करने का महासामर्थ्य प्रगट कर आपने हमपर अनंत उपकार किया है। यह सब प्राप्त करके भी प्रभु हमें ओर कुछ कहना है, हमें कुछ चाहिए। हमारी इस इच्छा को केवल आप ही मात्र पूर्ण कर सकते हैं।

पहली बात तो यह हैं कि दीये के लिए हमें सदा प्रॅक्टीकल रहना पडता है। दीया चाहिए, बत्ती चाहिए, तेल चाहिए फिर ज्योत जलानेवाला चाहिए, फिर ज्योत का स्पर्श हो, उजाला हो इसतरह लंबा इंतजार करना पडता है। यह प्रतीक्षा हमें मंजुर नहीं है।

दूसरी बात यह हैं कि दीया तो रात के अंधकार में ही प्रज्ज्वलित होता हैं। पहले रात, फिर अंधेरा, फिर प्रकाश का इंतजार, फिर आगमन, फिर ज्योत का स्पर्श.....फिर.....फिर...फिर प्रभु ! हमें तो दिन में भी अंधेरा लगता हैं। तन में अंधेरा, मन में अंधेरा, प्रेम में, पैसे में, प्रतिष्ठा में..... क्या कहुं आपको कि मेरे जीवन में सर्वत्र अंधकार प्रतीत होता हैं। मैं अधेरे में हूँ फिर भी आपके स्वरुप प्रकाश की एक लकीर एक किरण मेरी ओर आती देखकर मुझे उद्योत में आने का मन होता हैं। ऐसा उद्योत मुझे दिन-रात चाहिए।

गणधर भगवंत ने कहा, ठीक हैं। मैं तुम्हें ऐसा मंत्र देता हूँ कि जो तुम्हें उजाला दे, प्रकाश शिघ्र ही प्राप्त कर सको। परंतु उससे पहले मैं तुम्हे एक प्रश्न करता हूँ कि तुम्हें उजाला चाहिए क्यों? बोलो अब हम उन्हें क्या उत्तर देंगे..?

मेरे आपके जैसे लोगों ने इकट्ठे होकर एक तात्कालिक मिटिंग बुलाई। विषय था गणधर भगवंत को हमनें क्या उत्तर देना? प्रभु! जगत् बहुत देखा, अब केवल मात्र परमात्मा ही देखने हैं। अत: हमपर अनुग्रह करो। गणधर भगवंत ने कहा, यह लो मंत्र करो पाठ - **लोगपज्जोयगराणं** यह मंत्र लो बोलते रहो, जपते रहो, उजाला पाते रहो। प्रकाश पाना और विश्व में ज्योत जलाना। परमतत्त्व उद्योत प्रद्योत कर तुझे देख तो लेंगे पर प्रभु को देखने के लिए तुझे स्वयं का प्रकाश फैलाना होगा और इसके लिए तुझे स्वयं को ही देखना होगा। तु स्वयं को ही देखेगा तो ही स्वयं को पाएगा और इसके लिए मंत्र हैं - **नमोत्थुणं लोगपज्जोयगराणं।**

लोगपइवाणं और लोगपज्जोयगराणं समान लगने पर भी दोनों में बहुत अंतर हैं। दिया चाहिए, बाती चाहिए, तेल चाहिए, ज्योत भी जलाले तो हवा नहीं आनी चाहिए, रुम बंद होना चाहिए, ऐसा होना चाहिए, वैसा होना चाहिए आदि आदि अनेक शर्त पूर्ण होती हैं तब दीया प्रगटता हैं। पर प्रद्योत बेशर्त प्रगट हो जाता है। हमारी भी स्थिति देखो लोगपइवाणं प्राप्त कर लेने मात्र से हम कोई बडे अध्यात्मिक साधक नहीं बन गए। परंतु हमें किसी भी नयी चीज होनी या आने की खबर होते ही पाने की अभिप्सा जग जाती है। आज भी हमारी वही स्थिति हैं। हम लोक में रहते हैं, लोगों के साथ रहते हैं, लोग में रमते हैं, लोगों को प्रिय लगे या न लगे पर चारों ओर परिभ्रमण करते हैं। हम अकेले ही लोक में नहीं रहते हैं, भगवान भी इसी लोक में रहते हैं।

लोक शब्द के प्रयोग में हम सिर्फ जगत् ऐसा ही अर्थ कर लोक में रहनेवाले ये लोग, वे लोग, हम लोग, तुम लोग ऐसा कहते है। ज्ञानी पुरुष इस व्यवहार जगत् में ही रहकर और जगत् में ही रहे हुए लोगों की बातें कर लोक के अग्रभाग पर ले जाने की प्रक्रिया समझाते हैं। इस लोक में और अन्य लोक में रहे हुए जीवों में चार उत्तम कोटी के तत्त्वों के स्वीकार को मांगलिक कहते हैं। अरिहंत, सिद्ध, साधु और धर्म ये चार तत्त्व लोक में हैं फिर भी लोकोत्तम हैं। उत्तमोत्तम हैं। लोगस्स सूत्र के प्रारंभ में लोक को उद्योत करनेवाले अरिहंत परमात्मा हैं इस रुप में लोक शब्द का प्रयोग किया हैं। आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में लोक में परिभ्रमण करनेवाले जीवों को लोकवादी कहा है। लोक को लोक और लोक में रहे हुए जीवों को ***लोए*** शब्द कहकर दूसरे अध्ययन का नाम लोकविजय दिया हैं। लोक शब्द को द्रव्यलोक का कारण बताकर, लोक परिभ्रमण की रीत समझाकर द्रव्यलोक

के विजय को प्राप्त करने के उपाय प्रस्तुत कर इस अध्ययन का नाम लोकविजय कहा हैं। उसके बाद लोक का सार धर्म और धर्म का सार निर्वाण बताकर पाँचवे अध्ययन का नाम लोकसार दिया हैं। ठाणांग सूत्र में परमात्मा के कल्याणको में तीनों लोकों में उद्योत होता है। ऐसा कथन प्राप्त होता हैं। विशेष कर नारक के जीव जिन्हें कभी एक भी किरण प्राप्त नहीं होती हैं वहाँ भी परमात्मा के कल्याणक के समय उद्योत होता हैं। इसके अतिरिक्त भगवती सूत्र आदि में भी लोक की विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है। परंतु आज हमारा उद्देश्य लोक को प्रद्योतित करनेवाले, उद्योतित करनेवाले, परमतत्त्व को कैसे प्राप्त करना यह होने से हम इसीपर आगे चर्चा करते हैं।

जैसे लोकविजय को समझाने के लिए कहा हैं कि सारे लोक के साथ लडकर विजय नहीं पायी जाती हैं परंतु एक केवलमात्र तेरे अपने ही स्वरुप को देखले। तेरे स्वरुप के बीच में आनेवाले दुर्गुणों के साथ लडले। बस तेरे स्वयं की विजय में संपूर्ण लोक की, संपूर्ण विश्व की विजय समा जाती हैं। एक अपने आत्मतत्त्वपर परमतत्त्व का उजाला फैल जाए तो संपूर्ण लोक में उद्योत हो जाता हैं। परमतत्त्व हमें उद्योतित करे और हम उस उद्योत में स्वयं को देख ले तो विश्व दर्शन हो जाते हैं। यह सबकुछ होने के लिए, हमें स्वयं को देखने ने के लिए अभी कुछ समझना जरुरी है। हम जब हमें देखने लगते हैं तो हमारी कई दृष्टिया अलग अलग तरह से हमारे साथ प्रयुक्त होती हैं। जब हम स्वयं को देखते हैं तो दृष्टि और आँखें तो हमारी ओर होती हैं परंतु हमारी नजर जगत् की ओर होती है। जैसे दर्पण की ओर जब हम देखते है तब हमारा चहेरा, दाढी, साडी आदि देखते हैं। हम ही देखते हैं, हमारा ही देखते हैं पर हमारा मानस लोकदृष्टि से ही देखता हैं। लोग मुझे देखेंगे तब मैं उन्हे कैसा लगूंगा, वे मेरे बारे में क्या सोचेंगे? मुझे देखकर लोगों के मानस में मेरे बारे में क्या हो सकता हैं? ऐसी कल्पना कर हम स्वयं को ही लोकदृष्टि से झाँकते हैं, देखते हैं और कॉमेंट पास करते हैं। हमें स्वयं को देखने में रस नहीं हैं लोग हमें कैसे देखते हैं उसमें हमें रस हैं। ओ हो! यह बात भी पूरी होती तो भी हमारा काम हो जाता क्योंकि दूसरे देखते हैं ऐसा सोचनेवाला सर्वज्ञ प्रभु मुझे निरंतर देख रहे हैं इतना मान लेते तो भी बहुत कुछ हो जाता है। आप में से कई लोग कहते हैं कि मानते तो हैं हम। यदि आप मानते हैं और इसे हमेंशा याद रखते हैं आप कुछ भी करेंगे तो महसुस होगा कि परमात्मा देख रहे हैं। आप स्वयं ही जानते हैं कि इस बात में आपको कितना रस हैं। परमात्मा हमें जाने या देखे इस बात में रस कम हो लेकिन स्वयं से स्वयं को जानने, देखने और समझने में कितना रस हैं। हमारी सबसे बडी कमजोरी यही हैं कि हम स्वयं से ही अनजान हैं। इसीलिए कहते हैं-

मेरा जनाजा निकला, जनाजे के पीछे सब निकले।
किंतु वह ना निकला, जिसके लिए मेरा जनाजा निकला।।

कोई मरता हैं, तो कोई रोता हैं। उसे हम आश्वासन देते हैं। पर हम मरे और हमारे पीछे कोई रोए तो हम आश्वासन देने वापस आयेंगे क्या? नहीं नहीं दूसरों को तो हम हाय हाय, बाय बाय कह देते हैं परंतु हम हमारा कुछ नहीं कर सकते हैं।

जो हम स्वयं को स्वयं से न देखने दे उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। यह कर्म स्वयं को नहीं देखने देता परंतु मिथ्यात्त्व में पूरा दिखाई देता हैं। दिखाई तो देता हैं परंतु उलटा दिखाई देता हैं। इसीकर्म के प्रभाव में उलटा ही

सही दिखाई तो देता हैं ऐसा समझकर हम खुश होते हैं। ज्ञानी पुरुष कहते हैं इतना यदि देखने का शौख हैं तो देखले सबकुछ स्वयं के सिवा। यदि एक जगह संतोष नहीं तो दूसरी जगह जा, यदि दूसरी जगह संतोष नहीं होता तो तीसरी जगह जा। यदि मुंबई से संतोष नहीं तो देवलाली जाओ। वहाँ भी संतोष ना हो दिल्ली कलकत्ता जाओ, टुर-टिकिट कराओ भारत भ्रमण करो। विश्वास और संतोष न हो तो विदेश जाओ, विश्वभ्रमण करो। जितना तुम्हारा पॉकेट जोर करे उतना भ्रमण करो। ज्ञानी पुरुष कहते हैं, अनादि काल से संसार परिभ्रमण कर थके नहीं तब तक सबकुछ देखले। जब तू स्वयं को देखेगा तब तेरी दृष्टि बदल जाएगी। तुझे अपने भीतर परमतत्त्व के प्रकाश का एहसास होगा। बाहर अंधेरा दिखेगा। लोगपज्जोयगराणं परमतत्त्व को नमस्कार करना। वे कहेंगे तू जो देखता हैं वह तेरा ही रुप हैं। तू जिसे नमस्कार करता हैं वह तू ही हैं।

भगवंताणं पद हमें कहता हैं तुझे कही जाने की आवश्यकता नहीं हैं। आँखे बंद कर भगवान स्वयं तेरे सामने प्रगट हो जाऐंगे। अब हमें चाहिए उन्हें देखने के लिए दृष्टि, उजास, उल्हास, आनंद आदि। वे तो सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। गाढ अंधकार में भी वे हमें देख सकते हैं परंतु हम उन्हें नहीं देख सकते। उन्हें देखने के लिए ही कल हमने लोगपइवाणं का आयोजन किया था। दीया प्रज्ज्वलित करने की योजना बनाई थी परंतु इस योजना से काफी काम तो हुआ पर हम काफी थक गए। दीया चाहिए, बाती चाहिए, तेल या शुद्ध घी चाहिए। ऐसे कइ शर्तों से मिलनेवाले उजाले की अपेक्षा इन्संस्ट और बेशर्त उजाला चाहिए। ऐसे उजाले की हम बात करते हैं तो मुनि मानतुंगाचार्य ने मुस्कुराते हुए कहा कि ऐसे उजाले के लिए तो लोक में एक परम विश्वस्त व्यवस्था हैं -

सूर्यातिशायि महिमासि मुनीन्द्र लोके।

हे मुनीन्द्र ! प्रकाश की महिमा की जब बात करते हैं तब तेरे प्रकाश के अस्तित्त्व का महिमा सूर्य से भी अधिक महिमावान होता है। तू सूर्य है, महासूर्य है, परमसूर्य है पर न तू कभी अस्त होता है न तेरी कोई शाम होती है। तू राहु से भी ग्रसित नहीं होता। न कभी बादलों से अवरुद्ध होता है। ऐसा तेरा अपूर्व महिमा है। उत्तराध्ययन में कहा हैं **सो करिस्सइ उज्जोयं।** वहीं करेगा उद्योत अर्थात् **लोगस्स उज्जोयगरे।**

सूर्योदय दो विभागों में विभक्त है - अरुणोदय और सूर्योदय। अरुणोदय अर्थात् सूर्योदय के पूर्व का समय। सूरज उगा हैं ऐसा नहीं लगता फिर भी उजाला हो जाता है उसका नाम है अरुणोदय। दूसरी भाषा में इसे प्हो फटना या प्रभात होना कहते है। सूर्योदय पूर्व की ये क्षणें बहुत मूल्यवान होती हैं। इस समय को अमरतबेला कहते हैं। हमारी चेता नाडी इसी समय खुलती है। परमयोगी पुरुष इस समय में साधना कर अपनी विशिष्ट शुभकामनाओं का तरंगों के रुप में प्रसारण करते हैं।

विज्ञान भी इस बात की पृष्टि करता है ऐसा हम लोगस्स सूत्र के स्वाध्याय में विस्तृत रुप से देख चुके हैं।

अरुणोदय में प्रगट प्रकाश को उद्योत या प्रद्योत कहते हैं। सूर्य दिखाई नहीं देता परंतु उसके उझास में जगत् दृश्यमान हो जाता हैं। स्वयं दिखाई नहीं देता परंतु जगत दृश्यमान हो जाए उसे उद्योत कहते हैं। सूर्य उदित होकर धीरे धीरे गगन में गमन करता हुआ मध्याकाश में पहुंच जाता है। धूप के रुप में धरतीपर प्रस्तावित हो जाता है उसे प्रकाश कहते है। लोगस्स के प्रारंभ में उज्जोयगरे शब्द का प्रयोग हुआ है। आज का सूत्र लोगपज्जोयगराणं भी

परमात्मा के अरुणोदय के उद्योत की साक्षी है। परमतत्त्व को भले ही हम इन चर्मचक्षुओं से न देख सके, उनके समीत्त्व का अनुभव न हो पाए चाहे हमें वह कल्पना स्वरुप लगे परंतु परमतत्त्व का अनुग्रह उनकी विशिष्ट शुभकामनाओं का उद्योत बनकर प्रसारीत हो जाता है। परमात्मा भले ही दिखाई नहीं देते परंतु उनकी ज्ञान और करुणा का उद्योत हमपर फैलता है। उस उद्योत में जब हम स्वयं को देखना शुरु करते हैं तब वह सहसा प्रगट होकर प्रकाश बनकर हमारी ओर समस्त को स्पष्ट करता हैं। लोगस्स सूत्र में प्रारंभ में उज्जोयगरे शब्द हैं तो अंत में आइच्चेसु अहियं पयासयरा है। लोगपज्जोयगराणं सूत्र हमारे जीवन की प्रभात का सूत्र है। नींद मेंसे हम कब-कब उठते हैं यह भी महत्त्वपूर्ण है। जैसे जैसे प्रभात होती जाती है अधिकांश लोगोंको अधिक से अधिक नींद आती हैं। सबसे अधिक आलस प्रभात में ही आती हैं। नींद की गोली लेकर सोनेवालों को भी प्रभात में नींद आ जाती है। रात्रि शयन के समय प्रथम प्रहर के बाद नींद से संबंधीत जो हारमोंस श्रावित होते हैं वही प्रभात के समय में कुछ मात्रा में श्रावित होते हैं। कलियुग भी अजीब है। छोटे-छोटे बच्चे रात को बारह-एक बजे के बाद सोते हैं। रात नव बजे के बाद श्रावित हार्मोंस निष्क्रिय हो जाते है। हमें तो बचपन में नव-दस बजे सोने की आदत थी। आज भी हमें ऐसी आदत हैं। जब आप लोग सोने की तैयारी करते हो हम उठ जाते हैं। नरसिंह मेहता ने कहा है -

"रात रही जाए ने पाछली खटघडी,
साधु पुरुष ने सूई न रहेवुं।

खटघडी के दो अर्थ होते हैं। छहघडी अर्थात् और अंतिम घडी। एक घडी चौबीस मिनिट की होती हैं। छह घडी अर्थात् दो घंटे और चौबीस मिनिट। सूर्योदय से पूर्व दो घंटे और चोबीस मिनिट पहले उठना चाहिए। उदाहरण के तौरपर, मानलो अभी ६:३४ बजे का सूर्योदय है तो ४:१० को उठना चाहिए। यदि इस समय उठ न सको तो अंतिम घडी अर्थात् सूर्योदय से पूर्व ३४ मिनिट अर्थात् ०६:०६(६ बजकर ६ मिनिट) अथवा ६:१० पर तो उठना ही चाहिए।

भगवान पार्श्वनाथ के शासन में अंगातिगाथापति नाम के श्रमण और सुप्रतिष्ठित अणगार आयुष्य पूर्ण करके इसी भरतक्षेत्र में सूर्य और चंद्र हुए हैं। एकबार दोनों एक साथ अचानक भगवान महावीर के समवसरण में अपने अपने विमान के साथ पहुंच गए। दोनों ने आज प्रभु की देशना सुनने का मानस बनाया था। उनके आगमन से भगवान के सान्निध्य में तो कोई फरक नहीं पडा परंतु मूलविमान के साथ आने से प्रकृति में बहुत बडा परिवर्तन आ गया। समवसरण के बाहर रात में भी दिन जैसा प्रकाश फैला रहा। रात में भी दिन किसी अनुभूति हो रही थी। जगत् का यह एक सबसे बडा आश्चर्य था। इस आश्चर्य ने एक ओर आश्चर्य का सर्जन कर दिया। जो परमात्मा की देशना में, दर्शन में, प्रवचन श्रवण में और प्रभु के स्मरण में संलीन थे उन्हें कौन आया कौन गया ऐसा जानने में कोई रस नहीं था। सूर्य-चंद्र की उपस्थिति ने दिन और रात की अनुभूति से जगत् को वंचित कर दिया। परमात्मा का समवसरण, परमात्मा का सान्निध्य और परमात्मा की देशना में तल्लीन साध्वी मृगावतीजी परमात्मा में एकरुप हो चुकी थी। सर्वथा देशनामय होकर प्रभु की वाणी में खो चुकी थी। स्वरुप में समा गयी थी। प्रभुदर्शन स्वदर्शन का कारण बन गया था। देशनाकाल पूर्ण होते ही सूर्य-चंद्र मूलविमान के साथ स्वस्थान वापस लौट गए। अचानक

वातावरण में परिवर्तन आ गया। सृष्टि में अचानक अंधेरा छा गया। एक और परमात्मा की दिव्यदेशना का आनंद ओर दूसरी ओर कालांतर हो जाने का पश्चाताप करते करते साध्वी श्री स्वस्थान पधारने लगे।

चले हम भी सब साध्वी मृगावतीजी के स्वस्थान पहुंचने से पहले पहुंच जाए। साध्वी जी के स्वस्थान पहुंचने पर दोनों के बीच में क्या होता हैं ये भी तो देखे। ऐसी बातों में हमें रस भी तो है। देखे तो सही, इनके गुरुणी जी जगकर प्रतीक्षा कर रहे हैं, स्वयं की साधना कर रहे हैं या अच्छी नींद में सो रहे हैं? हम सब अपनी कल्पना से उन प्रश्नों का उत्तर ढूंढते हुए साध्वी मृगावती जी के स्थान में प्रवेश कर रहे हैं। रात के करीब १२ बज रहे हैं। देखिए साध्वी चंदना जी के अतिरिक्त समस्त साध्वी समुदाय अपने संथारा (आसन) पर आराम से सोये हैं। गुरुणी श्री चंदना जी बैचेन हैं। शिष्य बाहर हो तो गुरु को चैन कहाँ? न सो सकते थे न जग सकते थे। वैसे गुरु भी उनको ही तो कहते हैं, जो स्वयं जगते हैं और शिष्य को भी जगाते हैं। यहीं पर माँ और गुरु में अंतर होता हैं। माँ गुरु बन सकती हैं तो गुरु भी माँ की तरह शिष्य का पूरा ध्यान रखते हैं पर कुछ ऐसी बाते हैं जहाँ इन दोनों में बहुत अंतर है। माँ स्वयं सोती हैं, बच्चे को सुलाने का प्रयत्न करती हैं, पीठ थपथपाती हैं, झुला झुलाती हैं, गीत गाती हैं, सिरपर हाथ फेरती हैं, किसको आवाज नहीं करने देती हैं। यदि नींद पूरी किए बिना कदाचित बच्चा उठ गया तो कहती हैं आज मेरा बच्चा कच्ची नींद में से उठ गया हैं। यह तो हैं गुरु का दरबार। यहाँ तो उठना ही नहीं, आवश्यक हो तो शरीर को थोडा विश्राम देना होता हैं। उसमें नींद का कच्चा पक्का क्या होता है? यहाँ तो जगो और जगाओ।

महाआर्या चंदनाजी भी आज के जमाने के गुरु तो नहीं थे कि मजे से सो जाए..... क्या पता कहाँ गई हैं? क्या कर रही हैं? कब आएगी..? सुबह उठते ही गुरु के पास जाकर कहूंगी कि मृगा रात को कहाँ जाती हैं? मुझे कहती नहीं हैं। आपको जो दंड देना हैं वह दंड अपनी शिष्या को दीजिए। नहीं ऐसा नहीं था। साध्वी जी जाग्रत थे। जानते थे कि आर्या मृगावती प्रज्ञावती हैं। समवसरण के सिवा कहीं नहीं जा सकती परंतु.... परंतु अब इतनी रात तक वहाँ कैसे रह सकती हैं?

अब मृगावतीजी पहुंचे हैं उपाश्रय में। धीमे धीमे कदम भरते हुए गुरणीतक पहुंचे किसी भी साध्वी जी के विश्राम या स्वाध्याय में बाधा न पहुंचे उसतरह गुरु के आसन के पास आए। उपाश्रय में पहुंचकर गुरु को सुनाई दे ऐसा बोलने का सूत्र बोलती हैं **निसिहि निसिहि णमो खमासमणीणं मत्थेणं वंदामि।** ऐसा बोलकर गुरुणी **के चरणों** में मस्तक रखकर कहती हैं, **खमणिज्जो भे किलामो अप्पकिलंताणं** कहकर पश्चाताप करती हैं। **अब** हम चुपचाप सुनते हैं इनका संवाद।

इतनी रात तक आप कहाँ थी?
प्रभु के समवसरण में!
क्यों?
देशना चल रही थी उसमें रस था इसलिए!
देशना से भी अधिक महत्त्वपूर्ण क्या होता हैं?

गुरु की आज्ञा !

गुरु की आज्ञा क्या होती हैं ?

प्रभु के दिए हुए नियमों का पालन करने की !

जाओ ! तुम्हारे संथारे (साधु के शयन का आसन) में बिराजकर चिंतन करो कि आज्ञा और देशना में अधिक महत्तवपूर्ण क्या होता हैं ?

ऐसा होमवर्क देकर गुरणी स्वयं के आसनपर पधारती हैं। साध्वी मृगावतीजी भी स्वयं के आसनपर बैठकर सोचती हैं - मैंने आज ऐसा क्यों किया ? प्रभु की देशना सुनने के लिए प्रभु के ही नियमों का उल्लंघन किया?

नियम के नियंता भगवान हैं तो नियम के दाता गुरु हैं।

नियम बनाते हैं वे भगवान हैं।

नियम देते हैं वे गुरु हैं।

नियम का स्वीकार करते हैं वे शिष्य हैं।

कलयुग की साध्वी होती तो सोचती, विलंब हो गया तो क्या हुआ ? मैं थी तो भगवान के समवसरण में ही फिर इतना उपालंभ देने की क्या आवश्यकता थी। परंतु ये तो थे सत् पुरुष। सत्पुरुषों के मन के अंदर जब कभी भी सत्वचन या सत्बात प्रगट हो जाती हैं तब वह सत् प्रगट किए बिना रहती नहीं। साध्वी मृगावती के अंत:करण में यह सत् ब्रह्मवचन प्रगट हो गया।

लगाया आसन। याद आ गया शासन। फरियाद हो गयी अनुशासन की। याद आ गई देशना की। फरियाद थी आज्ञा भंग की। याद और फरियाद के बीच में भीतर कई दृश्य दिखने लगे - शासना-देशना-अनुशासना-वाचना-आज्ञा-उल्लंघना..... भीतर में प्रगट हुआ परमात्मा का समवसरण - समवसरण में सिंहासन-सिंहासन से जुडा चरणासन-चरणासनपर प्रभु के चरण- चरणों के दर्शन करते हुए मृगावती जी कहते हैं - हे लोगपज्जोयगराणं ! ये सूर्य-चंद्र आदि के प्रकाश हमारे जैसे छदमस्थ जीवों को भ्रम में डाल सकते हैं। प्रभु ! तेरा स्वरुप तेरा उद्योत हमें सर्वथा भ्रम से मुक्त करता हैं। भव भवांतरों की भ्रम का भंग करनेवाले हे लोगपज्जोयगराणं ! पधारो मेरे भीतर। परम उद्योत करो। पुन: कभी भी आज्ञा उल्लंघन की गलती नहीं होगी। नमोत्थुणं लोगपज्जोयगराणं के जाप चालु हो गए। पाप-पश्चाताप-जाप- तीनों एक साथ होने लगे। जगत् में पाप तो अनेक लोग करते हैं परंतु पाप का पाप के रुप में स्वीकार नहीं करते हैं। जब पाप का बोध होता है तब भी ठीक है हो गया अब ध्यान रखेंगे। परंतु पश्चाताप नहीं होता। जब प्रभु के जाप और पाप का पश्चाताप एक साथ होते हैं तब कर्मक्षय होते हैं। अकेला पश्चाताप इसतरह होता हैं कि यदि ऐसा पता होता तो मैं ऐसा नहीं करता। सूर्य चंद्र के आने की खबर होती तो मैं समवसरण में जाती ही नहीं। तो लेट होने की गलती होती ही नहीं आदि आदि।

लौकिक नुकसान के पश्चाताप होते रहते हैं परंतु आत्म बोध के अनुरुप पश्चाताप होता है तब परमात्मा पधारते हैं। परमात्मा और पश्चाताप एक साथ पधारते हैं। पश्चाताप रहित पाप और जागृति रहित जाप दोनों अधूरे हैं। इसलिए पाप और पश्चाताप समझने अत्यंत आवश्यक हैं। मृगावती पाप का पश्चाताप करके

लोगपज्जोयगराणं का जाप करके प्रभु को आमंत्रित करती हैं। परमात्मा ! मैं ने आपके नियमों का उल्लंघन किया हैं। सद्गुरु की आज्ञा का उल्लंघन किया हैं। संयम का स्वीकार करते समय आपने कहा था, गुर आज्ञा में रहना। संयमभाव में विचरना। प्रभु ! मैंने आपकी बात मानी नहीं।

साध्वी मृगावती को गुरु आज्ञा का कितना महत्त्व है। सद्गुरु की आज्ञा के बिना देशना फलती नहीं हैं। इतना ही नहीं परंतु कहा हैं - **गुरु रह्या छदमस्थ पण विनय करे भगवान।** केवलज्ञान होने के बाद भी शिष्य गरु की सेवा करता हैं। गुरु को नमस्कार करता है। पता लग जाने के बाद गुरु केवलि भगवान को नमस्कार नहीं करने देते हैं। बाकी एक बार तो शिष्य अपना मस्तक झुका ही देता है।

लोगपज्जोयगराणं प्रगट होते हैं तो क्या देते हैं ? नमोत्थुणं की एक ही शर्त हैं - **जो परमतत्त्व में हैं वह साधक में प्रगट कर देना।** परमतत्त्व भी यही कहते हैं **जो पूर्णत्त्व मुझमें हैं ही पूर्णत्त्व तुझ में हैं।** यह पूर्णत्त्व जो प्रगट करता है वह नमोत्थुणं हैं। परमात्मा भी हमें देने के लिए उत्सुक है। उनका तो जन्म ही जगत् के जीवों को मोक्ष ले जाने के लिए होता हैं। स्वयं के मोक्ष के पूर्व ही एक दो को नहीं अनेकों को मोक्ष में पहुंचा देते हैं। लोड का लोड मोक्ष में जाता हैं। तीर्थंकर बनने के तीन जन्मपूर्व हाथ में पानी का ग्लास लेते ही असंख्य जीव दिखाई देते है। तब इनको होता है कि मेरा चले तो इन सब को उठाकर मोक्ष में रख दू। ऐसी परम अहेतुकी करुणावाले प्रभु सवि जीवकरुशासनरसिक भावना के कारण यह जन्म धारण करते है।

यहाँ मृगावतीजी के लोगपज्जोयगराणं के जाप चालु हैं। समवसरण में बिराजमान भगवान महावीर भक्ति में आसीन साध्वी मृगावती जी के पास पहुंचते हैं। उसके अत:करण में पधारते हैं। प्रभु के आगमन की अनुभूति जानकर मृगावती अत्यंत कोमलभाव से कहती है,

प्रभु ! मुझे क्षमा करो। आप मुझे क्षमा करोगे ? तो ही गुरु मुझे क्षमा करेंगे। गुरु की क्षमा पाने के लिए प्रभु की कृपा आवश्यक है। पश्चाताप और क्षमा, आज्ञा और देशना इसतरह सबका तालमेल बराबर जम गया।

प्रभु ने कहा, वत्सा! स्व में प्रवेश करो। परमतत्त्व के वचनामृत सुनकर मृगावती सोचती हैं मैं कहाँ हूँ। समवसरण में या उपाश्रय में?

परमात्मा ने कहा, मृगा! तुम न समवसरण में हो न उपाश्रय में, तुम हो केवल तुम्हारे आत्मा में, तुम्हारे अंत:करण में। अभीतक तुम मेरे समवसरण में आती थी। आज तो तुम्हारा पावन अंत:करण ही समवसरण बन गया है।

मृगावती के हृदय सिंहासन में प्रभु बिराजमान हो गए। प्रभु ने कहा, वत्सा! जहाँ पाप का पश्चाताप और जागृतीपूर्वक जाप होता है वहाँ हमें पहुंचना पडता है।

अनेक सूर्यो से भी अधिक प्रकाशमान और अनेक चंद्रो से भी निर्मल परमात्मा को अपने अंत:करण में प्रत्यक्ष देखकर साध्वी मृगावती आनंदित हो गई। अपलक नेत्रों से प्रभु को देखने लगी। देखती रही, देखती रही, देखती ही रही। प्रभु ने कहा, आर्या ! आपको क्या चाहिए ? उस दिन आप समवसरण में आए रात होने की आपको खबर न हो पायी अत: गडबड हो गयी परंतु अब आपको समवसरण में नहीं आना पडेगा। अब स्वयं समवसरण आपके पास हैं। जहाँ जहाँ आप वहाँ वहाँ समवसरण और जहाँ जहाँ समवसरण वहाँ वहाँ हम। बोलो आपको क्या

चाहिए ? हे शुद्धस्वरुपा ! जैसे हम हैं वैसे ही आप हो। हमारे और आपके भीतर कोई अंतर नहीं है।

भगवान पूछ रहे हैं बोलो आपको क्या चाहिए ? क्योंकि भगवान पधारे तो कुछ दिए बिना जाते नहीं हैं और ऐसा देते हैं जो जगत् में और कोई दे भी नहीं सकता। दिए बिना जावे तो भगवान नहीं और लिए बिना जावे तो भक्त नहीं। भगवान कहते हैं, मृगावती! तुम्हारी विशुद्ध पर्याय में आ जाओ। भीतर झांखो न तुम स्त्री हो न पुरुष। न गुरु हो न शिष्य। तुम किसी भगवान की भक्त नहीं तुम स्वयं भगवान हो। सहज शुद्ध निजानंद स्वरुप हो। अनुभूति करो अपनी विशुद्ध पर्याय की। आओ तुम्हारे सहज शुद्ध स्वभाव में जहाँ हम और आप एक ही स्वरुप के है उसका अनुभव करो।

मृगावती ने प्रभु चरणों मे मस्तक रखकर कहा, नमोत्थुणं लोगपज्जोयगराण। ओर कुछ कहने की आवश्यकता न समझी। बस एकही धून, एक ही चिंतन जबतक स्वयं में अंधकार महसूस हुआ तबतक यह धून चलती रही। धीरे धीरे धून में लय, लय में देवालय, देवालय में जिनालय, जिनालय में सिद्धालय, सिद्धालय में स्वविलय होते ही स्वयं में उद्योत हुआ। जगत् में उद्योत हुआ। तीनों लोक के तीनों काल की समस्त पर्याय प्रगट हो गई। केवलज्ञान प्रगट हो गया। गुरुकृपा मानकर साध्वी चंदना जी को प्रणाम करने के लिए उठने लगी तो देखा गुरुणी के पास से एक काला सर्प गुजर रहा था। अत: गुरुणी जी का हाथ उठाकर स्थानांतर किया। गुरुणी देह पर्याय में सोयी थी पर चेतना में जाग्रत थी। कृष्णपक्ष की चौदस की रात चारो ओर अंधकार है। मेरी काया का स्पर्श किसने किया और क्यों किया? ऐसा सोचकर सहज स्पर्श से बोधान्वित साध्वी चंदनाजी ने पूछा -

कौन हो ?

साध्वी मृगा ।

हाथ का स्पर्श क्यों किया ?

यहाँ से एक काला फणीधर गुजर रहा था।

आपने अंधेरे में कैसे देखा ?

आपकी कृपा से ।

क्या आपको ज्ञान हो गया है?

आपकी कृपा।

प्रतिपाति या अप्रतिपाति ?

आपकी कृपा से अप्रतिपाति।

हा ? तो क्या मैं ने केवलिभगवान की अशातना की?

छदमस्थ गुरु खडे हो गए। शिष्या फिर भी केवलिभगवान के चरणों में मस्तक रखा। दोनों आमने सामने हो गए। शिष्या गुरुणी का हाथ पकडकर उन्हें उठा लेती हैं। शिष्या ने गुरु का हाथ पकडा हैं। गुरु पश्चाताप कर रहे हैं। मैं ने केवलि की अशातना की ? केवलज्ञान कब हुआ होगा? कहीं समवसरण में प्रभु की देशना सुनते हुए तो ? यदि मैं जानती तो उपालंभ ना देती ? पश्चाताप करते हुए साध्वी चंदनाजी को भी केवलज्ञान हो गया।

अहो धन्य प्रभु ! धन्य आपकी देशना।

धन्य प्रभु का शासन ! धन्य प्रभु का शरण ! धन्य प्रभु का समवसरण !

धन्य प्रभु की आज्ञा ! धन्य प्रभु की करुणा !

धन्य केवलिभगवान !

धन्य गणधर भगवान !

धन्य नमोत्थुणं सूत्र !

सृष्टि में अभी कही भी सूरज उदित नहीं हुआ परंतु उपाश्रय में सूरज उग गया। प्रभात हो गयी। रात बीत गयी हमेशा हमेशा के लिए। सृष्टि में सूरज उगा नहीं परंतु उजाला हो गया।

जो दिखता नहीं पर दिखाता हैं वह **उजाला** हैं ।

जो दिखता नहीं पर दिखाता हैं वह **उद्योत** हैं ।

जो दिखता नहीं पर दिखाता हैं वह **प्रद्योत** हैं ।

जो दिखता नहीं पर दिखाता हैं वह **पूर्णज्ञान** हैं ।

जो दिखता नहीं पर दिखाता हैं वह **केवलज्ञान** हैं ।

हम भी आज लोगपज्जोयगराणं के चरण में मस्तक रखकर कहेंगे नमोत्थुणं लोगपज्जोयगराणं। इस मंत्र की मालकोष राग में धून लागाऐंगे, आमंत्रित करेंगे, उजाला पाऐंगे और अभय का वरदान मांगेंगे।

नमोत्थुणं लोगपज्जोयगराणं

नमोत्थुणं लोगपज्जोयगराणं

नमोत्थुणं लोगपज्जोयगराणं

नमोत्थुणं - अभयदयाणं

जो स्वयं भयमुक्त होकर अन्य को भयमुक्त करते हैं वे भगवान हैं।
जो अभयदयाणं के साथ होते हुए भी भयभीत होते हैं वे इन्सान हैं।
जो स्वयं भयमुक्त नहीं हैं फिर भी अन्य को भयभीत करते हैं वे शैतान हैं।

कर्म सत्ता में भयमोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में उद्वेगरुप परिणाम विशेष से जीव भयभीत होते हैं।

अभय हमारा स्वभाव है। स्वभाव में नहीं रहने से हम भयभीत होते हैं। अभयदयाणं हमें अभय का दान देते हैं अत: हमें हमारे स्वरुप का दान करते हैं। भय तो संसार में सब देते हैं लेकिन भय से मुक्त तो अभयदयाणं ही करते हैं। परिस्थिति से अनभिज्ञ बच्चा परिणाम विशेष से भयभीत होकर भगता हुआ माँ की गोदी में छीप जाता हैं। माता भी बच्चे के सिर पर हाथ फेरती हैं पीठपर प्रेम से हाथ फेरती हैं और उसे भयमुक्त करती है। आलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्मातभय, आजीविकाभय, अपयशभय और मृत्यु भय आदि भयों से भयभीत हम भी आज अभयदात्री, भयहर्त्री, मोक्षविधात्री अरिहंत माता की गोद में स्वयं को समर्पित कर सदा सर्वदा के लिए भयमुक्त हो जाते हैं। हमारे भयरहित स्वरुप को प्रगट कर शास्वत अभय को प्राप्त कर लेते हैं।

अरे ! हरीणी जैसी भयभीत प्राणी भी स्वयं के बालक की सुरक्षा के लिए सिंह का मुकाबला करने का सामर्थ्य रखती हैं। सोऽहं तथापि वाली भक्तामर की गाथा इस बात की पृष्टि करती हैं। अरिहंत तो जगत् जननी हैं वे क्यों नहीं हमारी सुरक्षा करेंगे। केवल हमें उन राखणहार के चरणों में अपना मस्तक रखना चाहिए। सर्वस्व अर्पण का यह अंतिम दाव हैं। कर्म के सामने लड लेने का यह अपूर्व अवसर हैं। नमोत्थुणं प्रभु की गोद हैं। छलांग लगाकर प्रभु की गोद में खो जाओ। अभयदयाणं प्रभु का पल्ला हैं। पल्ले में छुप जाओ। चुप-चुप हो जाओ। ना कोई भय ना कोई भीती। बस मात्र प्रीती, स्मृति, मुक्ति।

जीव को भयमुक्त करने का दान अभयदान हैं। इस अभय का दान जो करते हैं वे अभयदाता। लोक व्यवहार में पाय: अभयदान को जीवदान समझा जाता हैं परंतु वास्तव में अभयदान अर्थात् जीव को भयमुक्त होने का दान। जीव अनादिकाल से भयभीत होता रहा हैं फिर भी जीवत्त्व का कभी नाश नहीं होता हैं। जीव की सोची हुई पर्याय को पहुंची हुई पीडा से यह जीव भयभीत होता रहा हैं। मोहनीय कर्म के कषाय और नोकषाय दो प्रकार हैं। क्रोधमान माया आदि कषाय हैं। हास्य, भय आदि नोकषाय हैं। कषाय को उत्तेजित करने में जो कारणभूत हैं वह नोकषाय हैं। करेमि भंते कहते ही पहले यह भय दूर होता हैं और हमारे द्वारा अन्य जीवों को होनेवाले भय भी समाप्त हो जाते हैं।

इसके पूर्व लोगपज्जोयगराणं का पद हैं। लोक में प्रद्योत होता हैं तो सर्व प्रथम अंधकार मिटता हैं। भय और अंधकार दोनों साथ रहते हैं। सातों प्रकार के भय चार प्रकार के व्यवहार से समझाए जाते हैं -

१. जंतुओं का उपद्रव :- जो दिन की अपेक्षा रात में अधिक होते हैं।

२. चोरों का उपद्रव :- यह भी रात को अधिक होते हैं।

३. अनाचाारी तत्त्वों का अनाचरण :- दिन की अपेक्षा रात में अधिक होता हैं।

४. पतन का भय :- रात को अधिक होता हैं।

परमात्मा को पाने के लिए सर्व प्रथम भयमुक्त होना जरुरी हैं। भयमुक्त होनेपर ही हम प्रभु को पा सकते हैं। परमात्मा पाने की बात करते हुए आनंदघन जी कहते हैं - **सेवनकारण पहली भूमिका रे अभय अद्वेष अखेद**.....परमात्मा के प्रति की जानेवाली श्रद्धा, भक्ति, सेवा, पूजा की प्रथम भूमिका में ही भय, द्वेष और खेद का परिरहार किया हैं। भय अर्थात् परिणाम की चंचलता कहकर - **भयचंचलता हो जे परिणामनी रे. .** भय अर्थात् मन के प्रकंपनों को छोडते रहना। अभय अर्थात् मनस्थेर्य। भय के चार प्रकार हैं -

१. कल्पना से डरना, २. आशंका से डरना,
३. वास्तविकता से डरना, ४. अवास्तविक को वास्तविक मानकर डरना।

जैसे रात के समय में डोरबेल बजनेपर अचानक दरवाजा खोलना पडता हैं या किसी कारण से रात को बाहर जाते हुए चोर, डाकू लूटेरों की कल्पना से भयभीत होना। किसी सूने बंगले में गेट खोलकर अंदर प्रवेश करने से पूर्व कुत्ते की आशंका से डरना। जैसे आंगन में बच्चा खेल रहा हो तब अचानक कोई अनजान आदमी आकर बच्चे को उठाता हैं तो वह जोर जोर से रोता है उसकी रोने की आवाज सुनकर माता भगकर बाहर आती है और बच्चे को हसती हुई कहती है, ये तो मामा हैं, मामा से नहीं डरना चाहिए। बच्चा आनेवाले को मामा के रुप में नहीं पहचानने से उसे अवास्तविक मानकर भयभीत होता है रोता हैं। कईबार तो हम अवास्तविक को वास्तविक बनाने की चेष्टा करते हैं। जैसे बच्चे को सुलाती हुई माता उसके नहीं सोनेपर उसे धमकी देती है, तू नहीं सोएगा तो भूत आएगा और तुझे पकडकर ले जाएगा। इसतरह कितनी ही बार अवास्तविक को वास्तविक बनाने का प्रयास कर निरर्थक कल्पना का निर्माण करते हैं। बच्चों को निर्भिक भी हम करते हैं तो भयभीत भी हम करते हैं। खैर जो भी हो परंतु एक बात निश्चिंत हैं कि बालक जब डर जाता है तब यदि वहाँ माँ उपस्थित हो तो बच्चा उसे लिपट जाता हैं। यदि माँ कही ओर बैठी हो तो भगकर गोद में बैठ जाता है। हम सब अनादिकाल से चारों प्रकार के भय से सातों भयों द्वारा भयभीत होते रहे हैं। परमउपकारी गणधर भगवंत हमें अभयदयाणं का मंत्र दान कर अनंत जिनेश्वर माता की गोदी में अर्पित कर हमें भय से मुक्त कर रहे हैं। केवल मात्र ४८ मिनिट की सामायिक में संपूर्ण संसार के समस्त जीवों को हमारे द्वारा अभयदान कराते हैं और नमोत्थुणं द्वारा अभयदयाणं का मंत्र देकर संपूर्ण जगत् के समस्त जीवों को हमसे भयमुक्त करते हैं।

लोक के अंदर उजाला तो प्रभात होते ही होता है परंतु जीवन में उजाला किसतरह हो इस बारे में सोचा हैं कभी? हमारे अंत:करण में प्रभु पधारते हैं तो जीवन की प्रभात होती हैं। जीवन में उजाला होता हैं। उजाला होते ही अंधाकर टूटता है भय भगता हैं। लोकपज्जोयगराणं पद द्वारा गणधर भगवंत् हमें विश्वास देते हैं के उजाले उजाले में कदम बढाओ तुम्हारी मोक्ष यात्रा का प्रारंभ हो गया है मार्ग में डर लगता हैं तो अभयदयाणं को याद करो आपको

अभय मिल जाएगा। कभी ऐसा मत कहना की प्रभु कुछ देते नहीं हैं। प्रभु हमें जो देते हैं ओर कोई दे भी नहीं सकता। आज प्रभु की दानशाला खुल गई है। दान मिलने का आज शुभारंभ हैं। आजसे शुरु हो रहे सातों पद सहज देने की ही बात करते हैं। अनादिकाल से हमारा यह आदान-प्रदान के ऋणानुबंध से संबंधित संसार चलता ही आ रहा है। प्रभु के साथ के आदान-प्रदान के संबंध की शरुआत हो जाए तो अनादि काल के संसार का पूर्णविराम हो जाता हैं। ४८ मिनिट का सामायिक भी हमारे अल्पविराम कहो या अर्धविराम परंतु हमारी इस यात्रा का एक महत्त्वपूर्ण विभाग बन जाता हैं। भंते शब्द के संबोधन से ही संबंध की शुरुआत हो जाती हैं। जो भव का अंत करे, जो भय का अंत करे और जो भ्रमणा का अंत करे उसे भंते कहते हैं। भंते आते हैं और भय टल जाता हैं। वे ही अभयदयाणं बनकर अभय देते है और हम करेमि भंते कहकर उनसे अभय प्राप्त कर जगत् के सभी जीवों को भयमुक्त कर देते हैं। सर्व जीव हमारे साथ मैत्रीमय संबंधों से बंध जाते हैं। संबंधों की यह कैसी निर्बिंध यात्रा? कैसा प्रकट वरदान। हमें अभय भी देवे और हमें अभय के दाता भी बना दे। अभय पाओ और अभय दो की इस प्रयोगशाला में प्रवेश पाते ही एक गहन शांति का अनुभव होता हैं। शास्त्र साक्षी बनकर अस्तित्त्व में सत्य प्रगट करते हैं और कथाएँ अनुभव से तथ्य प्रगट करते हैं।

चलो एक ऐसे ही सत्य और तथ्य को पाने के लिए हम उत्तराध्ययन सूत्र की अंतर यात्रा करते हुए पहुंचते हैं एक ऐसे गार्डन में जिसका नाम हैं केसरी उद्यान। यहाँ वन, उपवन की माया और संतो के तपोवन की शीतल छाया हैं। कुछ पंक्तियाँ आपको याद होगी -

शुभ शीतलतामय छांय रही, मनवांछित ज्यां फळ पंक्ति कही।
जिनभक्ति ग्रहो तरुकल्प अहो, भजीने भगवंत भवंत लहो ।।

कईबार जो तपोवन संत की साधनाभूमी होता है। वह सम्राट की भोग भूमी भी हो सकता है। संयमियों की योग भूमि सम्राट की क्रिडा भूमि हो सकती हैं। समस्त भूतल को भोगने की भावना वाले राजा इसी भूमिपर अनेकों का भोग लेता रहा। एकबार राजा एक निर्दोष हिरण के पीछे पड गया। हिरण भग रहा था राज भी उसके पीछे भग रहे थे। किसी भी भोगपर आज मैं तेरा शिकार करके रहूंगा। ऐसी मारने की तीव्र भावना के साथ राजा भी उसके पीछे भग रहा था। हिरण के पीछे भगता हुआ राजा अचानक एक आश्चर्यकारी दृश्य देखकर दंग हो गया। उसने देखा कि इस केशर उद्यान में एक शांत प्रशांत संतमुनि कायोत्सर्ग मुद्रा में सल्लीन हैं। सयंम और ध्यान में तल्लीन ये तपोधनी अनगार अनेक पत्र, पुष्प, फल, वृक्ष और लताओं से मंडित सुशोभित उद्यान में ध्यानस्थ थे। लता मंडप में मुनि की अद्भुत आभा और प्रभा प्रसारित हो रही थी। भयभीत बच्चा जैसे माँ की गोद में आश्रय पाकर निश्चिंत हो जाता हैं वैसे ही हत् प्रतिहत् आघात पाया हुआ राजा के बाण से आहत हिरण सीधा मुनि की गोदि में जाकर बैठ गया। मिट्टी से संश्रित उसके चारों पांव मुनि के गोद में समा गए। माथेपर तीर लगने से खून निकल रहा था। ऐसा आहत् माथा उसने मुनि के अनाहत हृदय के पास लगा दिया। जैसे गर्भस्थ शिशु और उसकी माता की धडकन एक होती हैं वैसे ही हिरण के तीव्र सासों की धडकन ने मुनि के शांत और धीमे श्वास के साथ संतुलन बना लिया। भावनाओं के साथ भावों की लय बंध गई। आहत प्राणधारा अनाहत आभा में शांति पाने लगी।

इस अद्भुत दृश्य को देखकर कांपिल्यपुर नगर का स्वामी राजा गर्दभाली आश्चार्यान्वित भी हुआ और भयभीत भी हुआ। वहाँ साक्षात अभय प्रकट था फिर भी राजा भय से कांप रहा था। वह हिम्मत करके मुनि चरणों में प्रणाम करता हैं। प्रणाम अनेक कारणों से होता हैं आदर, प्रेम, भय, लालच आदि अनेक कारणों से संत भारत के पूज्य और नमस्कृत्य रहे हैं। ऐसे ही कुछ भावों से भयभीत, भ्रमित, स्वपाप से पिडीत तप तेज से सर्वनाश के विचारों से संत्रस्त राजा ने मुनि चरणों में मस्तक रखकर कहा,

भयवं ! एत्थ मे खमे - भगवन मुझे क्षमा करें।

राजा के ऐसे अनुनय विनय से युक्त वचनों को सुनकर मुनि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मुनि की अविचल, निश्चल, निर्मल ध्यानधारा की अखंडता देखकर राजा को दहेशत हुई। स्त्रीहठ और बालहठ की तरह योगीहठ भी खतरनाक होती हैं। ऐसे तो ये लोग मौन ध्यान करते हैं, तप जप करते हैं परंतु आवेश में आ जावे तो अपने तपोबल से सारी नगरी को जलाकर भस्म कर सकते हैं। जगत् के साथ प्रेम की गम्मत खेलते हुए ये महामुनि जगत् को नहीं परंतु जगत् के विकार, विकल्प और विवादों को जला देते हैं। कर्म और कषायों को भस्म करनेवाले महामुनि को पहचानने के लिए आँखे चाहिए। संयतिराजा मुनि के गुणधर्म से अपरिचीत थे। वे सिर्फ इतना ही जानते थे कि प्रत्येक राज्यों के बाहर वन, उपवन और तपोवन के कुछ निश्चित विभागों में ऐसे साधुलोग रहते हैं ऐसे वन, उपवन और तपोवन की एक सीमा होती है। जितनी क्षेत्र मर्यादा में ये लोग रहते हैं उस हद में रहे हुए पशु प्राणी भी उनके गिने जाते हैं। वे ऐसा भी मानते थे उनकी मर्यादा में जाकर हमें शिकार नहीं करना चाहिए। मैंने इस मर्यादा का उल्लंघन किया है अत: मुनि मुझपर कोपायमान होंगे और यदि वास्तव में वे कोपायमान होंगे तो मेरे समेत पूरे नगर को जलाकर भस्म कर देंगे। **कुध्दे तेएण अणगारे, डहेज्ज णरकोडिओ।** कोपित होकर जलाकर भस्म कर देंगे ऐसा सोचकर उसने निर्णय किया मैं मुनि के साथ बात करु और उनकी क्षेत्र मर्यादा को जानलूं । साथ ही इन मृगों में से उनके कौन कौन से हैं यह भी समझलूं। ऐसे कुछ विकल्पो के साथ राजा मौन में आसित ध्यानाश्रित मुनि के पास जाकर बिनती की मुद्रा में हाथ जोडकर कहते हैं - **भगवं ! वाहराहि मे ।** आप मुझसे बात करें। संवाद करें। मेरे अपराध के लिए मुझसे शिकायत करे। मुझे क्षमा करें।

राजा की पीडादायक त्रस्तदशा देखकर मुनिने अपने मौन ध्यान खोला। वात्सल्य भरी दृष्टि से हिरण और राजा को एक साथ देखे। मृग घायल था फिर भी मुस्कुराकर मुनि की ओर देख रहा था। मृग हसता था राज़ा रोता था। मृग भयमुक्त था राजा भयभीत था। मृग अपने तेजस्वी नयनों से मुनि का आभार मान रहे थे। राजा अपने करुणा भरे नेत्रों से माफी मांग रहे थे। मुनि ने अपनी करुणा भरी नजरों से ही उन्हें भयमुक्त करते हुए बात करने की आज्ञा दी। मुनि और राजा के बीच हुए वार्तालाप की संवादिता अद्भुत और रोचक हैं।

भगवं ! एत्थ मे खमे - भगवन् ! मुझे क्षमा करे।

मुनि ने हसते हुए कहा, अभवो पत्थिवा ! तुज्झं, अभयदाया भवाहि य ! - हे पार्थिव तुझे अभय हैं, किंतु तू भी अभय दाता बन।

राजाने कुछ समझा न हो उस मुद्रा में कहा - क्या कहा आपने?
हे राजन् अभय पाओ और अभय का दान करो।
मुनि की इस सर्वोत्तम भाषा को नहीं समझते हुए राजा ने पुन: कहा,
महाराज ! आप पहले मुझे एक वचन दो।
राजन ! हम अभयवचन के अतिरिक अन्य कोई वचन नहीं देते हैं।
राजाने कहा, बस महाराज मुझे आपसे यही चाहिए। आप आज्ञा करो तो ओर कुछ पूछू ।
संत सदा समाधान के लिए तैयार होते हैं अत: मुनि ने पूछने की स्वीकृति दी।
महाराज ! क्या ये मृग आपके हैं ?

हा राजन् ! ये मृग मेरे हैं। कहते कहते मुनि मृगपर प्रेम भरा हाथ फेरने लगे। जैसे माँ लाड प्रेम से बच्चे के सिर पर हाथ फेरती हैं, पीठ थपथपाती हैं। वैसे ही मुनि मृग को प्रेम करने लगे। मुनि के वात्सल्य में खोया मृग भी अपने सब दु:ख भूल गया हो ऐसा वातावरण बन गया था।

सोचो मुनि ने ऐसा उत्तर क्यों दिया ? देह और आत्मा अलग है। यह देह भी मेरा नहीं है ऐसे सैद्धांतिक विचारों की मक्कमता में घरबार का महात्याग करनवाले मृग को अपने कैसे कहने लगे। कोई भी वस्तु, कोई भी व्यक्ति या किसी भी घटना को अणगार अपनी नहीं मानते हैं। इतना ही नहीं संयम के उपकरण, रजोहरण, आसन, मुहपत्ती या पात्रे आदि को भी मुनि अपने नहीं मानते हैं। यदि कोई उन्हें ऐसा पूछ कि ये रजोहरण या पात्रा आपका हैं ? तो भी मुनि ऐसा कहते हैं हा यह मेरी नेश्रायका हैं। मेरा है ऐसा नहीं कहते। नेश्राय अर्थात् सान्निध्य (मेरे पास रहनेवाला)। इतना ही नहीं परंतु शिष्य-शिष्याओं के लिए भी यह मेरी निश्राय में हैं अर्थात् मेरी आज्ञा में रहनेवाला हैं। समस्त मेरापना अर्थात् ममत्त्व से रहित रहनेवाले इन अद्भुत अणगार ने आतंकित मृग को वात्सल्य से सहलाते हुए राजा से कहा, हाँ राजन् !ये मृग मेरे हैं।

राजा ने कहा आपका कैसे ? क्या आप इसे पालते हो?

सोचो मुनि ने क्या उत्तर दिया होगा? क्या वास्तव में मुनि जनावरों को पालते हैं? यदि मृग को पालते हैं तो हमें कुत्तों को पालने में क्या दिक्कत हैं? जंगल में हमारी सुरक्षा भी करेंगे।

जो पाले जाते हैं उससे प्रेम भी होता है चाहे वे मानवीय बच्चे हो चाहे जनावर। इस रागजन्य प्रेम की कोई सीमा मर्यादा नहीं होती। कईबार तो विवेकहीनता की भी हद होती है। दिल्ली की एक घटना सुननेवाली हैं। एक घर में गोचरी के लिए गयी थी। बंगला था। दरवाजा खुला था। आगे एक हॉल था। अंदर से कुछ शब्द सुनाई दे रहे थे। जो किसी पुरुष के थे। मैं ने तुझे पहले ही कहा की मुझे वृद्धाश्रम में जाने दे तो टाईम से सात बजे चाय और नास्ता तो मिल जाएगा। तुम मुझे जबरदस्ती माला गिनने का कहती हो पर मेरा मन तो लगना चाहिए। अत्यंत भूख लगी हो तो भजन कैसे हो पाएगा। वार्तालाप सुनकर सोचने लगी अंदर कैसे प्रवेश करु? जहाँ वृद्ध इसतरह बोल रहे हो। आगे कहते हैं, पता नहीं कब उठेंगे कब चाय बनाकर देंगे भगवान जाने। अभी तो वह उठेगा दूध लाएगा भी तो अपने कुत्ते को पिलाएगा। कुत्ते से भी खराब हालत बेटे ने हमारी की हैं। खाने के लिए हमेशा तरसना। खाना मांगने के

लिए भयभीत होना यह सब अब मेरे से सहन नहीं हो पाता हैं।

खैर हमें तो यह सोचना हैं क्या मुनिलोग जनावर पालते है? और यदि पालते ही हैं तो महिलाएं दोपहर को बाहर जाना हो तब बच्चों को उपाश्रय में हमारे पास आराम से छोड सकती हैं। थोडा नास्ता वास्ता लेकर आऐंगे, खेलेंगे खाऐंगे और सोऐंगे। कलयुग की ऐसी जीवनशैली को व्यवस्थित समजने के लिए उत्तराध्ययन सूत्र की यह कथा अभय का पाठ सिखाने के लिए हमें कांपिल्य नगर के केसर उद्यान की कैवल्य की पाठशाला में ले जाती हैं।

मुनि ने राजा से कहा हाँ हिरण मेरा हैं। बोल तुझे क्या कहना हैं?

राजा ने कहा, मुनि ! आज आपको मुझे आपके तपोवन की मर्यादा बतानी हैं। आपके आश्रम की जितनी सीमा बताऐंगे उतनी क्षेत्र मर्यादा में मैं कभी शिकार नहीं करुंगा। आपकी बताई गयी मर्यादा में कोई भी पशु दौडते होंगे, खेलते होंगे, चारा चरते होंगे मैं उन्हें कुछ नहीं करुंगा। सीमा मर्यादा से बाहर आए हुए पशुका मैं शिकार कर सकता हूँ। बताइए आपके उपवन की तपोवन की मर्यादा क्या हैं? आपने आश्रम के लिए या इन पशुओं के विचरण के लिए मुझसे कोई
आज्ञा नहीं ली है।

मुनि ने कहा, राजन् ! आप शहर में रहते हो। हम जब शहर में आते हैं तो आपसे आज्ञा मांगते हैं। जंगल में शक्रेंद्र महाराज की आज्ञा, शासन में जिनाज्ञा और जीवन में गुरु की आज्ञा हमारे लिए आचरणीय होती हैं।

राजन् ने कहा, अरे यह फिर नये कौनसे राजा का चक्कर हैं। जिसकी आज्ञा में आप रहते हो। मुझे लगता हैं आपको भी किसी अन्य राजा के आज्ञा की बात समझ में नहीं आयी होगी।

हम जब दीक्षा लेते हैं घर छोडते हैं उसके बाद किसी भी शहर में, किसी भी मकान या उपाश्रय में, किसी भी घर या उद्यान में कहीं भी ठहरते हैं तब आप श्रावकों की आज्ञा लेते हैं। विहार करते हुए मार्ग में विश्राम करते हैं जहाँ किसी की भी जगह न हो ऐसे स्थानों में हम धरती के धणी श्री शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा ऐसा कहकर विश्राम करते हैं। वापस विहार करते हुए आज्ञा वापस लौटाते हैं और आगे बढते हैं। आप तो बहुत समझदार हैं समझ गए होंगे परंतु बिचारे राजन यह सब कैसे समझ सके होंगे ? राजन होकर ऐसा नहीं समझा ऐसा कहना भी ठीक नहीं लगता। उन्होंने कहा जो भी हो जिसका भी हो आप आपकी मर्यादा को तो बताओगे न?

राजन् ! इन महाराज की आज्ञा इतने विशाल क्षेत्र की हैं नजर में समाती नहीं हैं और किसी नापदंड से नापी नहीं जाती हैं।

मुनिश्री ! मुझे न तो तुम्हारी मान मर्यादा समझ में आती हैं न तो तुम्हारी धर्मभावना समझ में आती हैं और न तो तुम्हारे इन महाराज की बात समझ में आती हैं। मुझे तो केवल आपकी मालिकी में इस जंगल के कितने जीव हैं इतना ही बता दो ताकी मैं उनका शिकार नहीं करुंगा।

राजन् ! सृष्टि के सभी जीवों का मैं मालिक हूँ। जब मैं ने दीक्षा ली तब प्रतिज्ञा की थी कि जगत् के सभी जीवों को मैं प्रेम करूंगा। माँ जैसे बच्चे को प्यार करती हैं उसीतरह मैं सभी जीवों का जतन करुंगा। **षड्जीवनिकाय हितं साधुत्त्वं।** छहों काय के जीवों के हित का चिंतन जो करते हैं वे साधु हैं। **सव्व जगजीव**

रक्खणट्ठयाए दयट्ठयाए...अप्पहियट्ठयाए। जगत् के सर्व जीवों के रक्षण के लिए, करुणा के लिए और स्वयं के आत्महित के लिए हम दीक्षा लेते हैं। ऐसी प्रतिज्ञा के साथ ही हमने सयंम में प्रवेश किया हैं। राजा ने पूछा, ऐसी प्रतिज्ञा आपको कौन देता हैं? मुनि ने उत्तर देते हुए कहा, भगवत्सत्ता ने हमें शासन में स्थान दिया और अनुशासन की आन दी, आज्ञा दी।

राजा ने कहा, आपकी अटपटी भाषा मुझे समझ में नहीं आती। मुझे तो अभय दो। आपके पास अभय की याचना करता हूँ। मुझे और कुछ नहीं चाहिए।

राजन्! अभय की तुम्हे याचना नहीं करने पडेगी? अभय देना हमारा धर्म हैं। पर हम उन्हें अभय देते हैं जो अन्य को अभय देते हैं। तुरंत ही राजन् ने कहा, चलो, मैं आपके मृगों को अभय देता हूँ। आपके इन मृगोंपर आप निशान लगा दीजिए। ये कहीं भी होंगे हम इनका शिकार नहीं करेंगे।

राजन्! एक दो नहीं यहाँ से चिन्हित, पालित, किसी भी जीव का वध तुम्हें नहीं करना हैं।

हा प्रभु! आपकी बात मानने के लिए तैयार हूँ परंतु आपको उन सभी जीवोंपर निशान लगाना अत्यंत आवश्यक हैं।

पार्थ! संसार में जितने जीव हैं वे सब मेरे हैं। मैं उनका हूँ। मैं उनको उतना ही प्यार करता हूँ जितना माँ उसके बच्चे से करती हैं।

प्रभु! तो क्या इस वन-उपवन के सभी पशु आपके हैं?

हा वत्स! सब मेरे हैं। मैं सबको प्रेम करता हूँ, सब मुझसे प्रेम करते हैं।

वार्तालाप का असर वातावरणपर और वातावरण का प्रभाव राजा के अंत:करण पर हो रहा था। कांपिल्यपुर नगर के केसर उद्यान में करुणा का अजस्त्र स्रोत बहने लगा। राजा अपने शस्त्र फेंक कर मुनि के चरणों में गिर पडे। समर्पण और भावना का अभिषेक कर राजा पवित्र हो गए। सैन्य आदि को अंतिम विदाय दी। स्वजनों से अंतिम विदाय ली और प्रेम की पावन प्रयोगशाला में प्रवेश पाया। सम्राट में प्रगट हुआ शिष्यत्त्व। शिष्यत्त्व जब स्वयं में प्रगट हो जाता हैं तो गुरु में भी गुरुत्त्व प्रगट हो जाता हैं। सृष्टि में सिर्फ बच्चे का ही जन्म नहीं होता हैं परंतु जब बच्चे का जन्म होता हैं तब जन्मदात्री स्त्री में माताका जन्म होता हैं। माता में मातृत्त्व स्वयं प्रगट हो जाता हैं। तभी रक्त का दूध में परिवर्तन होता हैं।

शिष्य का मस्तक झुका हुआ हैं। गुरु का हाथ शिष्य के मस्तक पर हैं। मृग समुदाय इस दृश्य को भोले भावों के साथ देख रहा हैं। जैसे आज इस उपवन में भगवान स्वयं अभयदयाणं स्वरुप में प्रगट हो गए। समालो इन परमात्मा को अपमे अंत:करण में और अपने आत्मा को पवित्र करो। राजा के मस्तकपर हाथ रखकर मुनि ने कहा, **मैं तुम्हें शास्वत अभय देता हूँ। वत्स! लेकिन तुम किस तरह जीवों को अभय दोगे?**

प्रभु! मैं तो इन बातों को समझता ही नहीं। आप ही कृपा करके मुझे समझाइए।

राजन्! शाश्वत अभय अर्थात् हमेशा अभय देते रहना। दूसरा अभय जो मर्यादा में दिया जाता हैं उसे सामायिक व्रत कहते हैं। सामायिक व्रत में मर्यादा होती हैं। आपको जितने समयतक अभय व्रत की प्रतिपालना करनी होती हैं उतने समय का सामायिक व्रत आप ले सकते हैं। कम से कम एक अंतर्मुहूर्त होता है। एक अंतर्मुहूर्त

४८ मिनिट्स का होता हैं। २-३-४ जितनी आपकी स्थिरता उतने अंतर्मुहूर्त का सामायिक व्रत आप कर सकते हो। यह व्रत लेने के लिए करेमि भंते सूत्र का उच्चारण किया जाता हैं। भंते शब्द की चर्चा हम भगवंत पद में कर चुके हैं। भय का अंत करनेवाले, भव का अंत करनेवाले और भ्रम का अंत करनेवाले भंते इस सूत्र का उच्चारण होते ही जगत् के सभी जीव अभय प्राप्त करते हैं। सोचो, छोटा सा भी सामायिक व्रत कितना महान हैं। आज सामायिक करते समय करेमि भंते सूत्र का उच्चारण करते ही आपसे उतना ही अभय प्राप्त करते हैं जितना मुनि की गोदी में मस्तक रखते ही मृगों को प्राप्त हुआ हैं और वैसे ही जैसे आपका बच्चा आपकी गोदि में सुख, शांति और सुरक्षा का अनुभव करता हैं।

संयति राजा मुनि के इस कथन को सुनकर संयम स्वीकार करते हैं। नमोत्थुणं अभयदयाणं की साधना की शुरआत करते हैं। मुनियों में सातों भयों का स्वरुप समझाकर सर्व भयों से मुक्त करते हैं।

वत्स ! भय टलता हैं तो भव टलते हैं। आज तो आपने करेमि भंते सूत्र द्वारा सर्व जीवों को आजीवन अभय दिया हैं और अभयदयाणं द्वारा आपको परमात्मा से अभय प्राप्त हो गया हैं अत: आप आजसे सर्व भयों से मुक्त हो गए हो।

भय के सात प्रकार हैं - १. इहलोक भय २. परलोक भय ३. आदान भय ४. अकस्मात भय ५. आजीविका भय ६. मरणभय ७. अपयश भय

इहलोक भय अर्थात् स्वयं के समान जातिवाले जीवों से डरना। जैसे कि एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से डर लगना। यह भी कैसी विटंबना कि हमें हमारे ही जातवालों से भयभीत होना। सर्व जाति के जीवों में सबसे श्रेष्ठ मनुष्य गिना जाता हैं। स्वयं भगवान को भी भगवान बनने के लिए यहाँ जन्म लेना पडता हैं। मनुष्य से अतरिक्त अन्य किसी भी जाति में स्वयं की जाति का भय किसी को नहीं हैं। सिंह जैसे जीव को भी सिंह से कभी भय नहीं होता। एक मनुष्य ही ऐसा हैं जिसे मनुष्य जात से संपूर्ण भय हैं। पैसा हैं तो चोरी का भय। प्रेम हो तो टूटने का भय। दूसरों का हत्याद्वारा, स्वयं का आत्महत्याद्वारा निरंतर भय बना ही रहता हैं। माता पिता संतान, मित्र, स्वजन, साथी पता नहीं पर यहाँ सब आपस में भयभीत हैं। प्रीत का, जीत का, मित का, हित का किसी का भी कहो परंतु यहाँ मनुष्य मनुष्य से भयभीत हैं। व्यवसाय हैं तो कॉम्पिटिशन हैं। विवाह हैं तो डायवर्स भी हैं इसतरह सब सर्वत्र भयभीत हैं।

आलोक भय को समझने के लिए भगवान ऋषभदेव का जगत् को एक महान संदेश हैं। ग्रामानुग्राम विचरते हुए भगवान ऋषभदेव एकबार अष्टापद पर्वतपर पधारे। भगवान के उस समवसरण में भरतचक्रवर्ती भी पहुँचे। भगवान की उपशम एवं भाववर्धक देशना सुनकर भरतचक्रवर्ती को विचार आया मैं कितना लोभी हूँ कि मैंने अपने छोटे छोटे भाइयों का राज्य छीन लिया। कौए जैसे क्षुल्लक जीव भी काऊं काऊं कर अपने जाति भाईओं को इकट्ठे कर खाद्य पदार्थ को भोगता हैं। भातृद्रोह के कलंक को मिटाने के लिए मुझे मेरे सभी भाइयों को

राजकीय भोज भोगने का आंमत्रण देना हैं। एकबार उसने बहुत बडा आरंभ कर भगवान के पास अपनी मनोभावना व्यक्त की।

परमात्मा ने कहा, भावविभोर भरत ! तेरे ये मुनिबंधु महासत्त्व संपन्न अणगार हैं। वे निर्दोष सुख और निर्दोष आनंद का उपभोग कर रहे हैं। राजकीय और विषयानंदी किसी भी पुद्गलों में अब उन्हें कोई रस नहीं हैं। यह राजभोग तो उनके लिए वमनतुल्य हैं।

परमात्मा की बात सुनकर भरतेश्वर को बहुत पश्चाताप हुआ। अहो धन्य हैं अभोगी दशावाले मुनियों को। मेरे जैसे पापीने उन्हें भोग के लिए आमंत्रण दिया। अब मैं उनकी कैसे सेवा कर सकुँ इसके बारे में वे सोचने लगे। एक विकल्प ने उन्हें झकजोरा। देह टिकाने के लिए भोजन आवश्यक हैं। क्यों न मैं भोजन के लिए मुनियों को आमंत्रित करुँ। शिघ्र ही उन्होंने पाँच सौ गाडियाँ भरकर भोजन सामग्रियां मंगवाई। मुनियों को आमंत्रण दिया परंतु परमात्मा ने इसे राजपिंड कहकर सदोष बताया।

निराश हुए भरतेश्वर को आस्वस्त करते हुए उपस्थित शक्रेंद्र ने भगवान को पांच अवग्रह समझाने की बिनती की। परमात्मा द्वारा अवग्रह का स्वरुप जानकर भरतेश्वर ने देवेंद्र से पुछा कि लायी हुई सामग्री का क्या करना चाहिए ? इन्द्र ने उन्हें सुश्रावकोंको निमंत्रित करने का कहा। उनके इस परामर्श से प्रसन्न होकर राजा ने श्रावकों के लिए कायमी भोजनशाला खोलकर भोजन का निमंत्रण दिया। स्वयं भरतेश्वर प्रत्येक श्रावकों का योग्य परीक्षण करके कांकणी रत्न से उनके हाथपर तीन रेखाएं खींचते थे। ये रेखाएं ज्ञान दर्शन और चारित्र की प्रतिक गिनी जाती थी। **साथ ही जितो भवान् वर्धते... माहण माहण...** बोलना उसके बाद वहाँ रहकर वे निरंतर अपूर्व ज्ञानाभ्यास करते हैं। उनकी और उनके परिवार का संपूर्ण उत्तरदायित्त्व भरतेश्वर स्वयंपर ले लेते हैं।

श्रावकों की यह भोजनशाला मेरी मृत्यु के बाद भी निरंतर चलती रहे ऐसी व्यवस्था करने का उन्होंने आदेश दिया। इतिहास अनुसार उनके पुत्र सूर्य यश ने भोजनशाला तो चालु रखी थी। परंतु कांकणी रत्न न होने से उन्होंने सोने के तीन तार की राखी बनवाई। उसके बाद भी सोने के तार की जगह ने रजत के तीन तार और उसके बाद सुत के तीन तार बांधने का प्रचलन रहा। सुत के इन तारों को जैनोपवीत कहा जाता था। यही जैनोपवीत समयांतर में यज्ञोपवीत बन गया और माहण कहनेवाले ब्राम्हण के नाम से प्रचलित हो गए।

ऐसी अद्भुत भोजनशाला चालुकरके परंपरागत चलाने की व्यवस्थाकर भरत महाराजा ने एकबार भगवान ऋषभदेव से पूछा प्रभु ! यह शासन अवसर्पिणी काल के अंतिम छोर तक इसीतरह झांक झमाल होकर चलता रहेगा न? आपका दिया हुआ श्रावकधर्म सदा पुरबहार खिलता रहेगा न? प्रभु ने उत्तर में कहा, भरत! तुम्हारे प्रश्न का अभिप्राय भोजनशाला से गर्भित हैं। तुम्हारी यह भाव भरी भोजनशाला नववें तीर्थंकर के शासनतक बराबर अविच्छिन्न रुप से चलेगी। घबराए हुए भरत ने पूछा भगवन् ! उसका नाश कैसे होगा? भगवान ने कहा भरत यह जिनशासन इतना प्रभावशालि हैं कि उसे अन्य कोई शासन प्रभावित कर उसका नाश नहीं कर सकता। इसी शासन में शासन के नाम से निकले हुए शासन का नाश कर देते हैं। जैसे अन्न में जैसा अन्न होता हैं वैसे ही कीडे

उसमें उत्पन्न होते हैं। जैसे चावल में चावल जैसा लंबा और सफेद कीडा होता हैं। चने में चने जैसे गट्टे जैसे जीव होते हैं। इसतरह शासन में शासन के ही जीव शासन का नाश करेंगे। परमात्मा की बात सुनकर भरत महाराजा को इहलोकभय उत्पन्न हो गया। जहाँ स्वयं अभयदयाणं बिराजमान हो वहाँ भय टिक सकता हैं क्या? ऋषभ दादा ने भरत महाराजा के मस्तक पर हाथ रखकर उन्हें भयमुक्त किया। आज हम भी पररमात्मा के चरणों पर मस्तक रखकर भयमुक्त हो जाए।

दूसरा हैं परलोकभय अर्थात् दूसरी जाति के जीवों से भयभीत होना जैसे मनुष्यका देव और तीर्यंच से भयभीत होना।

तीसरा हैं आदानभय । आदानभय अर्थात् स्वयं के वस्तु या पदार्थ की रक्षा के लिए चोर आदि से भयभीत होना। हमारे स्वयं के मानेजानेवाले पदार्थ या वस्तु अन्य कोई चोरी करके ले जाएगा ऐसी कल्पना से भयभीत हो जाना। दान अर्थात् स्वयं की वस्तु को स्वयं के हाथ से सामनेवालों को आवश्यकतानुसार देना उसका नाम दान हैं। सामनेवाले की आवश्यकतानुसार हम न दे सके तब हमारा ध्यान चुकाकर चीज, वस्तु को उठा लेना आदान कहलाता हैं। दान में हम हमारी इच्छा से देते हैं और आदान में हम देते भी नहीं और हमारी देने की इच्छा भी नहीं होती हैं फिर भी याचक ले लेता हैं। ऐसे आदान की दहेशत से भयभीत होना आदानभय हैं।

एकबार हम मुंबई में थे। तब उपाश्रय के सामने एक मकान की चौथी मंजिलपर एक परिवार रहता था। एकबार उनके घर में सारी रात टूबलाईट चल रही थी और टी.वी. चलने की भी आवाज आ रही थी। कई बार गोचरी की भावना भाने से हम सुबह उनके यहाँ गए। देखा तो दरवाजेपर ताला लटक रहा था। दोपहर को श्रावीका बहन दर्शनार्थ आयी तब खुलासा हुआ कि चोरी के भय से वे हमेशा बाहर जाते समय लाईट और टी.वी. चालु रखकर जाते हैं ताकि चोर आदि को ऐसा लगे कि घर में कोई हैं। यह हैं **आदानभय** ।

चौथा हैं अकस्मातभय। भय के कारणों के अतिरिक्त आत्मा की निर्मलयता हो तब स्वयं की कल्पना से भयभीत होना। जैसे घर में कोई जीव न हो परंतु अंधेरे में डोरी को देखकर उसे सर्प मान लेना अकस्मातभय हैं। इस भय में बाह्य निमित्त नहीं होते हुए भी स्वयं की आशंका से भयभीत होता हैं।

पांचवा है आजीविका भय। दुष्काल आदि के समय में जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त पदार्थों की अप्राप्ति के दुर्विकल्प से भयभीत होना अजीविकाभय हैं। आलोकभय आदि अन्य सर्व भयों की अपेक्षा अजीविकाभय लोभसंज्ञा का कारण बनकर भय परिणाम प्रगट करता हैं।

छट्ठा हैं मरणभय। लोक के सभी जीवों को यह भय समान होता हैं। चाहे गेस से ही छाती में दर्द होता हो और डॉक्टर कार्डीओग्राम का कहे तो जो भय लगता हैं वह मरणभय हैं। ये सारे भय मिथ्यात्त्व के कारण ही होते हैं। इसलिए कहते हैं कि मिथ्यात्त्वि को मृत्यु का भय होता हैं और सम्यक्त्वि को जन्म का भय होता हैं। हमारी आत्मा जन्म और मृत्यु से पर हैं। जन्म और मृत्यु पर्याय मात्र हैं।

सातवां भय अपयश भय हैं। जो सबसे बडा भय हैं। यश और किर्ती पाने के लिए होता हैं। पर अपयश अनायाश हो जाता हैं। अपयश के भय से बचने के लिए उवसग्गहरं स्तोत्र की आराधना का कथन लोक में प्रसिद्ध

है। क्योंकि इस स्तोत्र में परमात्मा को **इअ संथुओ महायस !** इस शब्द से संबोधित किए गए हैं। स्तोत्र का यह शब्द मंत्र समान है। विधिसहित जाप करने से इस भय से मुक्त हो सकते हैं। ऐसे तो यश और अपयश दोनों नामकर्म के ही प्रकार हैं। यश वृद्धि के लिए यशस्वी महापुरुषों की आराधना करनी चाहिए। आजसे हम नमोत्थुणं के साथ अभयदयाणं के पद में प्रवेश प्राप्त कर चुके हैं। रोज एक सामयिक करते समय ४८ मिनिट्स ऐसी चिंतवना करना कि मैं समस्त जीवों को अभयदान दे रहा हूँ। प्रभु धन्य हैं आपको। आपके शासन को कि मुझे ऐसा अद्भुत अवसर मिला। अनंत तीर्थंकर भगवंतों ने और अनेक गणधर भगवंतों ने जो अभयदान दिया वही अभयदान मुझे गणधर भगवंतों के अनुग्रह से इस छोटे से सूत्र से अभयदयाणं के मंत्र स्वरुप मुझे उपलब्ध हुआ। जय हो अभय की। जय हो अभयदयाणं की।

नमोत्थुणं अभयदयाणं . . . .
नमोत्थुणं अभयदयाणं . . . .
नमोत्थुणं अभयदयाणं . . . .

नमोत्थुणं चक्खुदयाणं

आँख खोलकर दिखता है वह संसार हैं।
आँख बंदकर दिखते हैं वे भगवान हैं।
आँखे देकर, आँखे खोलकर संसार की ओर देखना सिखाती हैं उसे माँ कहते हैं।
आँखे बंदकर भगवान के दर्शन करना सिखाते हैं उन्हें महात्मा कहते हैं।
आँखे बंदकर स्वयं को देखना सिखाते हैं उन्हें परमात्मा कहते हैं।

नमोत्थुणं सूत्र के चक्खुदयाणं पद में प्रवेश पाते ही विश्वास हो जाता हैं कि हममें भगवतसत्ता निश्चित हैं। पंथ देखकर कदमभरकर मार्गपर चलने का सामर्थ्य प्रगट करने का उत्तरदायित्त्व गणधर भगवंत का हैं।

चक्षु छह प्रकार के हैं :-

१) **चर्मचक्षु :-** चउरिन्द्रिय से उपर के सभी प्राणी चर्मचक्षुवाले होते हैं।
२) **आत्मचक्षु :-** ज्ञान प्राप्त होनेपर जीव आत्मचक्षुवाले होते हैं।
३) **आगमचक्षु :-** साधु महात्मा आगमचक्षुवाले होते हैं।
४) **अंतर्चक्षु :-** सद्गुरु भगवंत अंतर्चक्षुवाले होते हैं।
५) **अवधिचक्षु :-** देव अवधिचक्षुवाले होते हैं।
६) **दिव्यचक्षु :-** सिद्ध भगवान दिव्यचक्षुवाले होते हैं।

आज हमें चक्खुदयाणं पद की उपासना करनी हैं। हमारा मंत्रार्पण होता हैं और परमात्मा हमारे मंत्र का स्वीकार कर हमें चक्षु का दान करते हैं। चक्षु देते हैं इसलिए हम उन्हें चक्षुदाता कहते हैं। चक्षुदान मृत्यु के समय कई लोग करते हैं। कभी कोई जीवित व्यक्ति चक्षुदान नहीं करता हैं। मृत्यु के पूर्व जीवन में वील करते हुए उसमें मेरे चक्षु का दान करना ऐसा लिखते हैं। ऐसी सूचना करनेवाले तो कई मिलते हैं परंतु भीतर की आँखे खोलकर स्वयं को देखने के चक्षु का दान करनेवाले और नमोत्थुणंरुप वील में भीतर को प्रगटकर चक्षुदाता बनानेवाले चक्खुदयाणं परमात्मा ही हो सकते हैं। दो पलकों के बीच में से आँखे निकालकर रुई का फुहा रखकर धीरे से पलकों को बंद करने से चक्षुदान की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती हैं। प्रभु तो भीतर की आखों के सामने स्वयं की आँखों के द्वारा तत्त्व पीलाकर वात्सल्य देकर अंतर्चक्षुतक आत्मधारा पहुंचाकर सम्यक्दृष्टि का उद्घाटन करते हैं। उस प्रक्रिया को चक्षुदान कहते हैं। परमात्मा जिन चक्षु का दान करते हैं उन्हें दिव्य नयन कहते हैं। आनंदघन प्रभु ने इस बात को अत्यंत सहजभाव में बताई हैं -

चरम नयन करी मारग जोवता भूल्यो सकल संसार।
जे नयने करी मारग जोइए नयन ते दिव्य विचार ।।

आचारांग सूत्र में चक्षुदान का स्वरुप समझाते हुए **चित्तणिवाति** शब्द का प्रयोग किया हैं। चित्तणिवाति अर्थात् चित्तनिपात। परमात्मा का और गुरु का चित्तनिपात पूर्वक चक्षु का और दृष्टि का हमपर निपात होता हैं।

कितना अद्भुत कथन हैं कि परमात्मा का चित्तनिपात होता हैं तब शिष्य **पंथणिज्झाति** बनता हैं अर्थात् परमात्मा के पंथ को वह देख पाता है। संसार में आँखे बंद कर चलते ही रहे। पर अब तो आँखे खोलकर मार्गपर चलना हैं। चंडकौशिक दृष्टिविष सर्प था। उसकी आँखों में जहर भरा था। परमात्मा महावीर अमृतमय दृष्टिपुरुष थे। सर्प ने अपनी विषभरी दृष्टि भगवान महावीर की ओर फेंकी। भगवान महावीरपर उसका कोई असर नहीं हुआ परंतु आसपास की हरीयाली पेड पौधे पत्ते सूख गए। इसे देखकर भगवान महावीर ने अपनी वात्सल्यसभर दृष्टि से अमृत सिंचा और पूरे उपवन को पुन: हराभरा कर दिया। इस दृष्टि का प्रभाव चंडकौशिक पर भी हुआ परंतु उसका उसपर कोई असर नहीं हुआ। वह बौखलाया जरुर क्योंकि इससे पूर्व उसने ऐसा कुछ कभी देखा नहीं था। देखा भी कहाँ से हो क्योंकि वह प्रभाव तो सिर्फ परमात्मा का ही होता है। अपने को पराजित समझकर उसने क्या किया इसकी चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे। अभी तो हमें परमात्मा की दृष्टि समझनी है। माता जैसे बच्चे को दूध पिलाती है उसतरह प्रभु ने सृष्टि को वात्सल्य से भर दिया और सर्प को प्रेम से नहाला दिया।

परमात्मा की दृष्टि से हमारा मार्ग खुला होता हैं। इसलिए चक्खुदयाणं के बाद मग्गदयाणं आता हैं। अभिनंदन स्वामी के स्तवन में आनंदघनजी ने कहा हैं, **तुझ दरिसन जगनाथ धिठाई करी मार्ग संचर्यो** धिठाई करके बिना प्रभु की दृष्टि पाए जो चलने लगता है वह घृष्टता है। परमात्मा पहले चक्खुदयाणं बनकर मार्ग देखने की दृष्टि देते हैं बाद में मग्गदयाणं बनकर मार्ग प्रस्तुत करते हैं। अंतर्चक्षु देकर परमात्मा कहते हैं, अंतर्चक्षु के द्वारा तुम्हें स्वयं को देखना हैं। परमात्मा के ध्यान की चर्चा करते हुए शास्त्रकार कहते हैं, **से सयं पवेसिया झाइ...** उन्होंने स्वयं में प्रवेश किया और स्वयं का ही ध्यान किया। निरालंबन ध्यान की इस प्रक्रिया में न कोई *विधि न कोई विधान न कोई साधन और न कोई साधना बस स्वयं ने स्वयं को देखना हैं स्वयं को ही जानना हैं।* इसे षटकारक में इसतरह कहा हैं -

स्व ने स्व को स्व के द्वारा स्व के लिए स्व से स्व का स्व में आना ध्यान है ।

हम सबकुछ देखते हैं परंतु स्वयं को ही नहीं देखते हैं। स्वयं याने मैं आत्मा हूँ ऐसा एहसास करना। हमारा स्व देहार्पित हो जाने से आत्मीय नहीं रह पाया। आप उपाश्रय मंदिर या दुकान में बैठे हैं तो उपाश्रय नहीं हो जाते हो। घर में बैठते हो तो घर के होते हो घर नहीं हो जाते हो। गाडी में बैठते हो तो मैं गाडी नहीं हूँ इसका पूरा ध्यान आपको हैं मैं गाडी में हूँ पर मैं स्वयं गाडी नहीं हूँ। ऐसा बोध आपको हैं तो शरीर में मैं हूँ ऐसा क्यों भूलते हो ? मैं देह हूँ ऐसा क्यों मानते हो ?

आनंदघन जी जगह जगह इस बात का वास्तव्य प्रगट करते हैं। तेरहवें स्तवन में कहते हैं - **विमलजिन दिठा लोयण आज ।** भगवाने के निर्मल लोचन देखकर **मारा वांछित सिज्या काज ।** मेरे काम सिद्ध हो गए। मैंने स्वयं को देख लिया। यह दृष्टिदान प्रभु कैसे करते हैं इसे पंद्रहवें भगवान में कहते हैं **प्रवचन अंजन जो सद्गुरु करे देखे परम निधान, हृदय नयन निहाळे जगधणी ।** देखो तो सही शब्दों को मोती की तरह सजा दिया। जगत् धणी क्या देखते हैं **हृदय नयन निहाळे** हमारे भीतर के हृदय नयन को देखते हैं। हमारे भीतर की भाषा को ओर कौन पढ सकता हैं ?

तीन दिन से भूखी चंदनबाला के हाथ से उडद के बाकुले लेकर प्रतिदान में प्रभु ने क्या दिया ? व्याख्यान, स्तोत्र, मंत्र क्या दिया प्रभु ने कि चंदना का आमूल परिवर्तन हो गया ?बस मात्र दृष्टि दी, चक्षु दिए। दीक्षा लेकर राजभवन में वापस लौटने की भावना के साथ भगवान के समक्ष प्रगट हुए मेघ को क्या दिया प्रभु ने ? सद्बोध, सम्यक्दृष्टि।यह ऐसा बोध था कि भवांतरों का बोध हो गया। मात्र प्रभु की दृष्टि पडते ही संबोधि प्रगट हो गयी। चेतना जागृत हो गयी।

मरुदेवी माता का जीव पूर्व भव में केली का वृक्ष था। साथ ही साथ एक कंटकवृक्ष था । पवन के साथ कंटक वृक्ष का स्पर्श होकर निरंतर काँटे चुभ रहे थे। इसे सहजभाव से सहन करने से निर्जरा करके उसने मरुदेवी के रुप में जन्म लिया। यहाँ उन्हें वर्तमान चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की माता बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पुत्र के संयम ग्रहण करने के पश्चात उसके कोई समाचार नहीं मिलनेपर उनकी यादों में आँसू बहाकर आँखों का नूर खो दिया। एकबार पौत्र भरत के प्रणाम करने के लिए आते ही बहुत उलाहनाएँ दी। भरतने भूल का एहसास कर परमात्मा के विचरण का पता किया। शिघ्र ही उन्हें प्रभु के केवलज्ञान प्राप्तकर वनिता नगरी के बाहर समवसरण में पधारने के समाचार प्राप्त किए। माता मरुदेवी को तैयारकर हाथी की अंबाडीपर बिठाकर दर्शनार्थ ले चले। मरुदेवी माता दर्शन हेतु उत्सुक थी तो परमात्मा देशना हेतु आतुर थे। उसने जब परमात्मा की ओर देखा तब परमात्मा ने माता की ओर देखा। बरसो तक स्वयं की वात्सल्यभरी नजर से माता ने पुत्र की ओर देखा। अहो आश्चर्य माता ने पुत्र को चर्मचक्षु दिए तो पुत्र ने ऋण अदा करते हुए माता को अंर्तचक्षु दिए। माँ की मोहभरी दृष्टि शुभ में बदलने लगी। पुत्र ने शुद्ध दृष्टि से माँ की ओर देखा और अठारह क्रोडाक्रोडी सागरोपम वर्षतक जिस मोक्ष को किसी ने नहीं पाया था उसे मरुदेवी माता ने प्राप्त कर लिया। माँ ने पुत्र को अरिहंत बनाया और पुत्र ने माता को सिद्ध बनाया। धन्य हैं माता और धन्य हैं पुत्र। चक्खुदयाणं की ऐसी मेहरबानी हैं।

चरम नयन करी मारग जोवता कहकर आनंदघन प्रभु कहते हैं कि अनेक जन्मों से इन चर्मचक्षुओं से संसार को देखकर तू तृप्त नहीं हो पाया। अनेक भवों से संसार को देखते हुए भी न तो संसार कम हुआ न तो तुम थके भी। आँखे पाने से पूर्व अर्थात् त्रिइन्द्रिय तक आँखों को पाने के लिए आकुल व्याकुल था। आँखे मिलनेपर खुश खुश हो गया। देखता ही रहा देखता ही रहा। इन चर्मचक्षुओं से संसार को देखते ही देखते मृत्यु के बाद दो आँखे देकर स्वयं को दानेश्वरी समझनेवाला अपने जीवनकाल में अपनी दोनों आँखे परमपुरुष के चरणों में अर्पित कर दे। तेरा जन्म सफल होगा। तेरा चक्षुदान सार्थक होगा। भीतर भगवत् दर्शन होंगे। उनकी नजरों के सामने स्वार्पण का नजाराणा धर दो। नयनपथगामी को आमंत्रण दो। जो पथ पर प्रभु की प्रतीक्षा करते हैं उन्हें मार्गानुसारी कहते हैं। चक्खुदयाणं से चक्षु मिल जानेपर आँखे बदल जाती हैं। भगवान का रुप भक्त की आँखों में छलकने लगता हैं। माँ जैसे बच्चे को जन्म देती हैं अपने जैसी आँखे देती हैं। फिर भी माँ की आँखों का तेज कम नहीं होता हैं। दूसरा बच्चा होनेपर बच्चे की आँख में माँ की आँखे दिखाई देती हैं। तब भी माँ का कुछ कम नहीं होता हैं। यद्यपि माँ के लिए

बच्चो का अस्तित्त्व आँखों का प्रतिरुप हैं तभी तो माँ पुत्र को लक्ष में रखकर कहती है - **मेरे लिए तो दांयी बांयी दोनों आँखे अर्थात् दोनों पुत्र समान हैं। दोनों के बीच में मैं कुछ फरक नहीं कर सकती।** इस कथन का अभिप्राय यह हैं कि माँ को दोनों पुत्रपर समान प्यार है।

आँखे तो चउरिन्द्रिय में भी मिली थी परंतु संज्ञी पंचेन्द्रिय के हमारे इस अवतरण में परमतत्त्व हमें जो चक्षुदान करते हैं वह अद्भुत दान हैं। जगत् देखने के लिए नजर देते हैं। आँखें हमारी और नजर भगवान की यह कॉम्बिनेशन यदि चाहिए तो आँखें बंद कर भगवान को देखना होगा। क्योंकि आँख खोलकर देखते हैं वह संसार हैं और आँखे बंद कर दिखते हैं वे भगवान हैं। हमारी आँखें बंद होते ही उनकी वात्सल्यभरी आँखे हमारी ओर हो जाती हैं। वे हमारी ओर देखते ही रहते हैं। देखते देखते हमारे जन्मजन्मांतर उनकी नजरों में चढ जाते हैं। उनकी नजर पडते ही हमारे जन्मजन्मांतरों के अनेक भव खट खट कट जाते हैं। जगत् और जगन्नाथ की नजरों में यही अंतर हैं कि जगत् प्रेम से देखता हैं तो संसार बढता है और परमतत्त्व प्रेम से देखते हैं तो संसार कट जाता है।

देखने की हमारी परिभाषा में हमनें आँख खोलकर देखना ही सुना हैं। आँख बंद कर भी देखा जाता है। ऐसी परिभाषा हमने कभी नहीं सुनी हैं। भले ही भाषा न सुनी हो परिभाषा न जानी हो परंतु अध्यात्मशास्त्र का ऐसा अनुभव हैं कि आँख बंद करते हैं तो दिखता हैं। इस देखने की प्रक्रिया को दर्शन कहते हैं। दर्शन बहुत बडी उपलब्धि हैं। इसका स्थान ज्ञान के साथ हैं। इसका प्रारंभ प्रणाम के साथ हैं। जिन को देखकर हमारा मस्तक झुक जाता हैं उन्हें पूज्य कहते हैं। जिनके चरणों में मस्तक झुक जानेपर आत्मा का अर्पण हो जाता है उसे पूजन कहते हैं। जगत् को देखने के लिए आँखें खोलते हैं और परमतत्त्व को देखने के लिए आँखें बंद करते हैं। कभी सोचा आपने कि ऐसा हम क्यों करते हैं? एक कवि ने अपनी कल्पना से कहा हैं, कभी कभी भगवान हमें कहते हैं कि मेरे आँगन में आया, मेरे सामने आया, मुझे देखने के लिए आया तो फिर आँखें क्यों बंद कर दी। तू कब से मुझे बुला रहा था और अब जब मैं तेरे पास आया, तेरे सामने आया तो तुने आँखें क्यों बंद करी ? एक भक्तकवि ने दो पंक्ति में प्रतिउत्तर देते हुए कहा हैं -

एम ना समझो के तमारुं रुप झीरवातु नथी।
पण तमारुं हेत मारी आँखमां समातुं नथी।।

भक्त भगवान को कहता हैं कि आप आओ और आँखें बंद हो जाती हैं ऐसा नहीं हैं परंतु प्रभु महत्त्वपूर्ण बात तो यह हैं कि आँख बंद होती हैं तभी आप आते हो। आपकी शर्त ही ऐसी हैं कि आँख खोलते हैं तो आप छिप जाते हो और आँख बंद करते हैं तो प्रगट हो जाते हो। फिर भी आप पूछते हो कि आँखें बंद क्यों करते हो? तो सुनिए - आपका रुप अपार हैं फिर भी मैं देखने में समर्थ हूँ परंतु आपका प्रेम अपरंपार हैं। इतना अपरंपार प्रेम मेरे इन छोटे छोटे नयनों में समा नहीं पाता हैं इसलिए आँखें बंद हो जाती हैं। आपका रुप और आपका प्रेम आँखों से लेकर अंतःकरण में समा लेता हूँ। आँखें खोलकर लेना और आँख बंदकर समा लेने की प्रक्रिया को दर्शन कहते हैं।

आप लोग कईबार दर्शनयात्रा में गए होंगे। जब वापस लौटते हैं हम पूछते हैं यात्रा कैसी रही ? उत्तर में कहाँ कैसी व्यवस्था थी, नास्ते की, भोजन की, विश्राम की वगेरह का लंबा लीस्ट आता हैं। दर्शन कैसे हुए संत

भगवंत मिले या नहीं, सत्संग कैसा रहा? इसकी चर्चा कम होती हैं। व्यवस्था की प्रशंसा किंवा अव्यवस्था का विवरण अधिक मिलता हैं। इसे यात्रा नहीं प्रवास कहते हैं। यात्रा में दर्शन की प्रधानता होती हैं।

एकबार सूरदास रास्तेपर से निकल रहे थे। दोनों आँखों से दिखता नहीं था। पर हरिकीर्तन करते हुए रास्तेपर से जा रहे थे। चलते चलते एकबार किसीने मजबूताइ से उनका हाथ पकडा। हाथ पकडकर रास्ता बदलकर वापस आगे बढने को प्रेरित किया। सुरदास ने पूछा कौन हो तुम ? क्यों मेरा हाथ पकडकर मेरे मार्ग का दिगदर्शन करते हो। बाजु पकडनेवाला कुछ बोला नहीं आगे मार्ग पकडाकर चला गया। सुरदास को आश्चर्य हुआ ऐसा कौन था जो मार्गदर्शन करना चाहता था और पहचान या मुलाकात नहीं चाहता था। संसार में तो ऐसा कोई होता नहीं। पहले पहचान देते हैं। बिना पहचान दिए काम करनेवाले संसार में केवलमात्र संत भगवंत ही होते हैं। यह कौन था? ऐसा कहकर उन्होंने वहाँ लकडी घुमाई तो पता लगा आगे गड्ढा था। समझ गए मार्ग में खड्ढा था। यदि मैं इसीतरह चलता रहता था तो उसमें गिर पडता था। अत: किसीने मेरा हाथ पकडकर मुझे बचा लिया। जोर से आवाज लगाई ठहरो भाई तुम कौन हो? मेरा हाथ पकडकर मुझे खड्डे में से बचा लिया। एकबार थोडा सा ठहर जाओ, मुझे आपसे मिलकर आभार मानना हैं। बहुत बिनती के बाद भी कोई प्रगट नहीं हुआ तो समझ गए कि आभार की अपेक्षा रखे बिना दूसरों को भार मुक्त करनेवाले परमपुरुष होते हैं।

जगत् में तीन प्रकार के लोग होते हैं -

काम करके छीप जाते हैं वे भगवान हैं।
काम करके प्रगट हो जाते हैं वे इन्सान हैं।
काम किए बिना प्रगट हो जाते हैं वे शैतान हैं।

सूरदास जी सोचने लगे। कुछ बोलते नहीं हैं प्रगट होते नहीं हैं अत: स्वयं परमपुरुष ही हैं। अत: कहते हैं -

हाथ छुडायके जात हो, निर्बल जाने मोय।
हृदय में से जो खसो, तो मरद कहु मैं तोय।।

हे प्रभु ! आप बलवान हो अपने हाथ से मेरा हाथ पकड सके। मैं आपका हाथ नहीं पकड सका। परंतु मेरा हृदय इतना बलवान हैं आप उस में सें नहीं खिसक सकते। किसी शायर ने कहा हैं -

युं तो हर दिल किसी दिल पे फिदा होता है, प्यार करने का तौर मगर जुदा होता है।
आदमी लाख सम्हलने पर भी गिरता है, झुक कर जो उसे उठा ले वही तो खुदा होता है।

कभी ऐसा भी समय था। हम सब अव्यवहार राशि में थे। जब एक जीव का मोक्ष होता हैं तब एक जीव अव्यवहार राशि में से व्यवहार राशि में आता हैं। अव्यवहार राशि अर्थात् जहाँ जन्म-मृत्यु जन्म-मृत्यु होते ही रहते हैं। विकास की कोई दिशा वहाँ नहीं मिलती हैं उसे अनादि निगोद या नित्य निगोद कहते हैं। एक जीव का मोक्ष होते ही एक जीव व्यवहार राशि में आता हैं और विकास यात्रा का प्रारंभ होता हैं। एक मुक्त आत्मा जिसने हमें व्यवहार

राशि में प्रवेश दिलाया। उनका आभार माने ऐसा कोई बोध हमें नहीं था। सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याखान, तप, जप कुछ भी नहीं था वहाँ। सोचा नहीं कभी आपने? फिर विकास कैसे हुआ? अरिहंत परमात्मा ने सर्व जीवों को शासन रसिक बनाने की भावना की और परिणाम हममें प्रगट हुआ। यह था हमारा परमात्मा के साथ का प्रथम करुणामय संबंध।

विकास यात्रा में आगे बढे। शासन में स्थान पाया तब परमात्मा ने कहा अब मेरा तुम्हारे साथ करुणामय संबंध नहीं हैं। अब मेरा तुम्हारे साथ आज्ञामय संबंध प्रारंभ हो रहा हैं। आवश्यक में प्रवेशकर पहला आवश्यक हैं सामायिक व्रत। यह तेरे दो सम्यक नेत्र। इससे सभी जीवों के उपर करुणा कर। सर्व सावद्य का त्याग कर। निर्वद्य हो जा। चतुर्विंशतिस्तव का स्मरणकर, वंदनकर, पूर्व परिभ्रमण में किए गए पापकर्म से वापस लौटने का प्रतिक्रमण कर। काया में रहकर काया का उत्सर्ग रुप कायोत्सर्ग कर और आलोचना कर। आलोचना अर्थात् आत्मा के लोचन से, भीतर की आँखों से स्वयं को देखना और अब पुनश्च पाप नहीं करने की पवृत्ति का प्रत्याख्यान कर।

आवश्यक की इन आँखों से देखनेपर तुझे विश्व के समस्त जीवों में तेरे जैसे ही जीवत्त्व के दर्शन होगे और जीवत्त्व में शिवत्त्व की अनुभूति होंगी। परमात्मा कहते हैं वत्स ! जैसा मैं हूँ वैसा ही तू है। तू स्वयं को देख। स्व का स्व को नमन नमस्कार है। स्व का स्व में देखना दर्शन हैं। आज हम चक्खुदयाणं से कहेंगे कि हम आँख बंद कर आपको आमंत्रित करते हैं। आँखे खोलकर उन्हें पवित्र करने का काम आपका रहेगा। आपको ही चक्षु देने हैं, चक्षु खोलने हैं और आँख खोलनेपर आपही दिखाई देने चाहिए। आज से आप विश्वास के साथ प्रयोग शुरु करो। चक्खुदयाणं के पद के साथ आँखें बंद कर प्रभु के दर्शन करो। दर्शन नहीं होते हैं तो हमें शिकायत करो। मैं परमात्मा से कहुँगी कि उन्होंने आँखे बंद करी तो आप आए क्यों नहीं?

एकबार एक बच्चा नदी के तटपर खेल रहा था। अचानक उसका ध्यान उन योगीपर गया जो नाकपर उंगलि रखकर नाक दबाकर कुछ कर रहे थे। थोडी देर तक वह देखता रहा। प्रक्रिया पूर्ण कर महात्मा जब पानी में से बाहर आए तो बच्चे ने पुछा आप क्या कर रहे थे? योगीने सोचा बच्चे को क्या उत्तर दूँ? अत: उसने बच्चे की भाषा में कहा कि भगवान के दर्शन कर रहा था। बच्चे ने सोचा ठीक हैं इसतरह से करने से भगवान के दर्शन होते हैं। तो मैं भी कर सकता हूँ। दूसरे दिन सूर्योदय के समय महात्मा की तरह तटपर खडे रहकर उसने प्रक्रिया का प्रारंभ किया। प्रक्रिया का बोध तो था नहीं कब और कैसे नाक दबाकर साँस लेना अबोध बालक कैसे समझे ? उसने तो दोनों नाक दबा ही लिए। घबराहट हो गई। पसीना छूट गया परंतु प्रक्रिया न छोडी। परमात्मा प्रगट हो गए बोलो क्या चाहिए? बालक ने कहा बस कुछ नहीं आपको देखना था। भगवान ने कहा ठीक हैं अब बोल तो सही कि क्या चाहिए? दिए बिना जाए वह भगवान नहीं, लिए बिना रहे वह भक्त नहीं। बच्चे ने कहा ठीक है फिर आज आने में बहुत विलंब किया कल नाकपर उँगली दबाते ही उपस्थित हो जाना। बच्चों जैसी निर्दोषता हममें हो तो भगवान हमारे सामने भी प्रगट हो सकते हैं।

चक्षु से दो चीज देखी जाती हैं रुप और रस्ता। रुप के दो प्रकार हैं - स्वरुप और पररुप। पररुप हम अनादिकाल से देख रहे है। चक्खुदयाणं मंत्र द्वारा गुरु गणधर भगवंत हमें स्वरुप देखना सिखाते हैं। चक्षुदाता हमें बारबार उद्बोधित करते हैं कि तुम स्वयं दृष्टा बनो दृश्य नहीं। तुम स्वयं को देखो यदि तुम दृश्य बन जाओगे तो स्वयं को न देख पाओगे। फिर तो संसार तुम्हें देखेगा। संसार देखता रहेगा तुम भयभीत बनते जाओगे। क्योंकि जितने लोग देखेंगे उतने अभिप्राय भी बनेंगे। स्वयं दर्शक बनो अन्यों को दर्शक न बनने दो। स्वयं का सहज स्वरुप देखते देखते हमें मार्ग देखना हैं। मग्गदयाणं से मार्ग प्राप्तकर हमें मोक्षतक पहुंचना हैं। आइए आज नमोत्थुणं चक्खुदयाणं की आराधना में संल्लीन होकर मग्गदयाणं को आमंत्रित करते हैं।

नमोत्थुणं चक्खुदयाणं
नमोत्थुणं चक्खुदयाणं
नमोत्थुणं चक्खुदयाणं

नमोत्थुणं मग्गदयाणं

चित्त का स्वस्थ रहना अभय हैं।
चित्त की वक्रता रहित दृष्टि चक्षु हैं।
चित्त का वक्रता रहित गमन मार्ग हैं।
स्वस्थता पूर्वक सम्यकदृष्टि के साथ मार्गपर चलने की विधि जो अर्पण करते हैं उन्हें मार्ग दाता कहते हैं।
जहाँ अप्रतिबद्धरुप से आगे बढा जाता हैं उसे मार्ग कहते हैं।
जो मंजिल तक सुरक्षा करने का सामर्थ्य रखता हैं उसे मार्ग रक्षक कहते हैं।
जो भ्रमण और परिभ्रमण को मिटाने का मार्ग दिखाता हैं उसे मार्ग दाता कहते हैं।
कुछ लोग मार्गपर चलते हैं, मार्ग देखते हैं और मार्ग को जानते भी हैं।
कुछ लोग मार्गपर चलते हैं, मार्ग देखते हैं पर मार्ग को जानते नहीं हैं।
कुछ लोग मार्ग देखते नहीं, जानते भी नहीं पर बताए मार्गपर चले ही जाते हैं।
कुछ लोग जहाँ चलते हैं वहाँ मार्ग बन जाता हैं।

मार्ग के दो प्रकार हैं - लौकिक मार्ग और लोकोत्तर मार्ग। लौकिक मार्ग को प्राय: हम रास्ता कहते हैं। सामान्यत: रास्ता और मार्ग में कुछ अंतर नहीं समझा जाता हैं। अधिकांश लोग दोनों को एक ही समझने की भ्रांति करते हैं। जैन परिभाषा में इर्यासमिती के बिना जहाँ चलते हैं वह रास्ता हैं और इर्यासमिती पूर्वक जहाँ चलते हैं वह मार्ग हैं। सामाजिक स्तरपर रास्ता और मार्ग शब्द गंभीर अर्थ प्रस्तुत करते हैं। कोई रास्तेपर आ गया ऐसा कहने से उस व्यक्ति की स्थिति को कमजोर माना जाता हैं। कोई मार्गपर आ गया ऐसा कहने से उस व्यक्ति का आध्यात्मिक स्तर विकासमय माना जाता हैं। रास्ता तो एक मीलस्टोन का पत्थर भी बता सकता हैं परंतु मार्ग महापुरुष ही बताते हैं। भगवान महावीर की आत्मा ने नयसार के भव में जंगल में ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मुनियों को रास्ता बताया था। मुनियों ने ऋण अदा करते हुए या आभार मानते हुए जो भी समझो नयसार को मोक्ष का मार्ग बताया था। रास्तेपर चलकर मंजिल या गाँव पहुंच सकते हैं। मार्गपर चलकर मोक्ष पहुंच सकते हैं। मुनियों के इसी मार्गदर्शन ने नयसार को महावीर बनने का अवसर प्रदान किया।

मार्ग का अनुसरण करनेवाले को मार्गानुसारी कहते हैं। इसी आधारपर मार्गानुसारी नाम की अनुष्ठान विधि की प्रक्रिया प्रचलित हैं। पुद्गल रस में रुचि होने से चित्त अस्वस्थ और विह्वल रहता हैं। परमात्मा हमें अभय देकर पुद्गलरस की रुचि के आवेग से मुक्त करते हैं। चक्षुदानकर धर्मदृष्टि देते हैं। अंर्तचक्षु खोलकर मोक्षमार्गपर लाते हैं। मार्ग समझाते हैं, मार्ग का स्वरुप और मार्गपर चलने की विधि देते हैं। इसी कारण इन्हें मार्गदाता कहते हैं। यह मार्ग सम और सानुबंध होने से हमारी उत्तरोत्तर धारा स्थिर और अनुबंध वाली होती हैं। उत्तराधयन सूत्र में मार्ग प्ररुपणा को समझाते हुए इसे महामार्ग कहकर दृढ निश्चय के साथ सम्हलकर चलने को कहा हैं। वर्तमान काल में जिनेश्वर नहीं दिखाई देते हैं परंतु उनका प्रदत्तमार्ग उपलब्ध हैं। यद्यपि मार्गदर्शको की अधिकता के कारण उलझन हो सकती हैं परंतु भावविशुद्धि से मार्ग प्रशस्त हो सकता हैं।

भूतकाल में मार्ग बताकर, वर्तमान में मार्गपर चलाकर और भविष्य के मार्ग की प्ररुपणा कर परमात्माने हमपर त्रैकालिक उपकार किया हैं। स्वयं मार्ग देखते हैं फिर उसपर चलते हैं उसके बाद मार्ग दिखाते हैं इतना ही नहीं, मार्गपर चलाते हैं। हमें मार्ग का त्यागकर विषम मार्गपर नहीं चलना चाहिए। मार्गपर निरंतर चलते रहना चाहिए। जिनेश्वर या उनके निर्देशित मार्गपर शंका करना अर्थात् मार्ग में ही घर बना लेना हैं। **संसयं खलु जो कुणई, सो मग्गे कुणई घरं -** मार्ग या मार्ग दाता के प्रति संशय करना मार्ग में ही घर बनाना है ऐसा व्यक्ति कभी मंजिल नहीं पा सकता। मार्ग के साथ तीन बातें जुडी हुई हैं। मार्ग देखा जाता है, जाना जाता है और चला जाता है। आनंदघनजी ने इसीलिए कहा हैं - **चरम नयनकरि मारग जोवता....।** मार्ग देखने की भी विधि होती हैं। विधि अर्थात् कोई प्रक्रिया नहीं परंतु महापुरुषों की दृष्टि से जुडकर भीतर की दृष्टि का खोल देना। इस दृष्टि को आनंदघन आदि महापुरुषों ने दिव्यदृष्टि कहा है।

शास्त्र में व्यवहार में उपयुक्त चार प्रकार के मार्ग कहे हैं -

१. पथमार्ग,
२. जलमार्ग,
३. आकाशमार्ग और
४. अनुग्रह मार्ग.

पथमार्ग के दो प्रकार हैं - कंटकपंथ और महामार्ग या राजमार्ग। पथ का स्वरुप बताते हुए कहा है **अवसोहिय कण्टगापहं।** कंटकमार्गपर पूर्ण सावधानी से चलना चाहिए। जलमार्ग के बारे में संसार को सागर की उपमा देते हुए कहा हैं - **संसार सागर घोरं तरकन्ने लहुं लहुं।** विशाल समुद्र की तरह संसार भी जटिल है पर इसे धीरे धीरे धेर्यता पूर्वक पार करना चाहिए। आकाशमार्ग के बारे में कहते हैं नमिमुनिवर के दर्शन कर इंद्र **आगासेणुप्पइओ** आकाश मार्ग से वापस लौट गए। चौथे अनुग्रह मार्ग का नाम शांतिमार्ग हैं। स्थलमार्ग हो या जलमार्ग हो परंतु मार्गपर चलनेवाले का मार्ग **खेमं च सिवं अणुत्तरं संति मग्गं च बूहए।** खेम कुशल और अणुत्तर शांति से प्रशस्त होता है।

जगत् में मार्ग तो अनेक है। रास्ता, पगदंडी, राजमार्ग आदि। कोई कहाँ चलता है, कोई कहाँ चलता है। कोई खेत में, जंगल में, नगर में या पर्वत आदिपर चलते हैं। पथिकको मार्ग की जानकारी होना अनिवार्य है। मार्ग और उन्मार्ग ज्ञान से जाने जाते हैं। अज्ञानी या अर्धविदग्धों के द्वारा बताया गया मार्ग उन्मार्ग होता हैं। मात्र अनंतज्ञानी सर्वज्ञ प्रभु द्वारा दर्शीतपथ सन्मार्ग होता है। उन्मार्गपर अधिक चलनेपर मार्ग कम कटता है और सन्मार्गपर कम चलनेपर मार्ग काफी कट जाता हैं मंजिल करीब हो जाती है।

मग्गदयाणं से प्रशस्त मार्ग प्राप्त करने के लिए एक छोटी सी प्रतिज्ञा सूत्र से बताई गई हैं - **अमग्गं परियाणामि मग्गं उवसंपज्जामि।** मैं अमार्ग का त्याग कर मार्ग का स्वीकार करता हूँ। स्वीकार करनेवाले के मन में यह प्रश्न हो सकता हैं कि मार्ग क्या हैं ? कौनसा हैं ? कितने प्रकार का हैं और उसपर कैसे चला जा सकता हैं ? मार्ग के मुख्य दो स्वरुप हैं। शांतिमार्ग और मुक्तिमार्ग। मुक्तिमार्ग कहो या मोक्षमार्ग वह तो सीधा

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य से प्राप्त होता हैं। इस कथन के लिए मोक्षमार्ग प्रकाश नाम का स्वतंत्र ग्रंथ हैं। उत्तराध्यन सूत्र में इस मोक्षमार्ग नाम का एक स्वतंत्र अध्ययन हैं। तत्त्वार्थ सूत्र का प्रथम सूत्र हैं - ***सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।*** श्रीमद राजचंद्रजी ने कहा हैं **मूळमारग सांभळो जिननो रे, करि वृत्ति अखंड सन्मुख... ज्ञान, दर्शन, चारित्रनी शुद्धता रे, एकपणे अने अविरुद्ध...।** मुक्तिमार्ग पाने के लिए पूर्व प्रयास होते हैं। एकबार मार्ग मिल जानेपर उसपर चलना और चलकर पहुंचना होता है। मुक्ति का मार्ग साधना का मार्ग है। परमात्मा ने मुक्तिमार्ग के साथ दूसरा शांतिमार्ग कहा है। शांतिमार्ग सहजमार्ग है। प्रतिक्षण इसकी अपेक्षा रहती है। शांति जीव को हर क्षण चाहिए। सारे प्रयत्न शांति के लिए किए जाते हैं। कुछ प्रयास शांतिमय दिखाई देते हैं परंतु वे अशांत भी कर सकते है। शांति को जानने के लिए समझने के लिए और पाने के लिए परम का अनुग्रह अनिवार्य है। इसीलिए संयत आत्मा को भगवान ने ग्रामानुग्राम विचरण कर - **संतिमग्गंम च बूहए।** वत्स ! शांतिमार्ग को संवर्धित कर। शांति के प्रवाह को सर्वत्र बहने दे। बृहद शांति में कहा हैं- **शान्तिः शान्तिकरः श्रीमान शान्तिं दिसतु मे गुरु। शान्तिरेव सदा तेषाम् येषाम् शान्तिर्गृहे गृहे ।।** शांतिमार्ग की प्ररुपणा कर परमात्मा ने मार्ग का सार्वकालिक, सार्वभौमिक और सार्वत्रिक स्वरुप प्रस्तुत किया।

मार्ग के महत्त्व को समझाने के लिए मार्ग के पांच प्रकार बताएं हैं। १. सिद्धिमग्गं २. मुत्तिमग्गं ३. निज्जाणमग्गं ४. निव्वाणमग्गं ५. सव्वदुक्खपहीणमग्गं। एक अपेक्षा से इन पांचों का अर्थ एक ही होता हैं वह है मोक्ष। परंतु यहाँ प्रस्तुत पांचों प्रकार अपना अपना शाब्दिक और व्यवहारिक अर्थ प्रस्तुत करते हैं।

प्रथम हैं सिद्धिमार्ग। अर्थसिद्धि, सर्वार्थसिद्धि, परमार्थसिद्धि, पुरुषार्थसिद्धि और सिद्धासिद्धि ये पांचों सिद्धिमार्ग की विशदता दर्शाते हैं। सिद्धिमार्ग अर्थात् आत्मा की सिद्धि का मार्ग। सिद्धिमार्ग मुक्तिमार्ग की ओर प्रेरित करता हैं। क्योंकि मुक्तिमार्ग के द्वारा मुक्त अवस्था को प्राप्त करना सिद्धिमार्ग का उेश्य हैं।

प्रत्येक बुद्ध की कथा आपने सुनि होगी। बिना किसी गुरु, बिना किसी उपदेश सिद्धि मार्ग की सिद्धि हेतु श्रमणधर्म स्वीकार कर प्रत्येक बुद्ध सिद्ध होते हैं। कलिंगदेश के करकंडु राजा को जन्म से शरीर में सुखी खाज थी। इसलिए उनका नाम करकंडु था। करकंडु राजा स्वभाव से गोवंश प्रिय थे। उनकी गोशाला में उत्तम गाये रहा करती थी। एक दिन राजाने अपनी गोशाला में एक श्वेत और तेजस्वी बछडे को देखा। उसपर अधिक प्रेम आने के कारण उसके विशेष पालन-पोषण का आदेश दिया। बहुत वर्षों के बाद एक दिन राजा को उस बछडे की याद आयी। उसे देखने राजा गौशाला में आए। उन्होंने देखा वह बछडा तो एक कृशकाय अस्थिपंजर मात्र दयनीय दिख रहा था। उसका वय, रुप, बल, वैभव और प्रभुत्त्व सब नश्वर हो चुके थे। बैल में नश्वरता के दर्शनकर राजन विरक्त हो चुके। राज्य का त्यागकर श्रमणधर्म को अंगीकारकर अप्रतिबद्धविहारी बनकर आराधना कर प्रत्येकबुद्ध सिद्ध होकर उन्होंने सिद्धिमार्ग प्रस्तुत किया।

दूसरे प्रत्येक बुद्ध पांचालदेश के कांपिल्यपुर नगर के जयवर्मा राजा हो गए। एक दिन आस्थान मंडप में बैठकर चित्रशाला की नींव खुदवाते हुए एक अद्भुत रत्नमय मुकुट निकला। उसके धारण करनेपर वे दर्शकों को

दो मुखवाले दिखाई देते थे। इसलिए वे द्विमुखराय के नाम से प्रसिद्ध हो गए। एकबार इन्द्रमहोत्सव का आयोजन किया गया था। उसमें एक इन्द्रध्वज को स्थापित किया गया था। विविध प्रकार के मणि, माणिक्य, रत्न और विविध वस्त्रो से उसे सजाया गया था। आठ दिन के उत्सव के बाद लोगों ने लौटते हुए वस्त्र, रत्न, आभुषण आदि को अपने घर ले गए। अब वहाँ सिर्फ एक ठूंठा बचा था। दूसरे दिन राजाने वहाँ जाकर ठूंठे को देखा जिससे बच्चे खेल रहे थे। इन्द्रध्वज की दुर्दशा देखकर राजा की राज्य संपदापर से आसक्ति समाप्त हो गई। राज्य आदि सर्वस्व त्यागकर मुनिदीक्षा ग्रहण कर उन्होंने मोक्षमार्ग प्राप्त किया।

तीसरे प्रत्येक बुद्ध नगगति नामक सिंहरथ राजा हुए। एक बार कार्तिक पूर्णिमा के दिन नगर के बाहर एक ऐसा आम्रवृक्ष देखा जो नए पत्तो और मंजरियों से सुशोभित एवं गोलाकार दिखाई दे रहा था। वृक्ष का सौंदर्य और मांगल्य देखकर राजाने उसकी मंजरी तोड ली। चतुर्विध सैन्य के साथ रहे राजा के द्वारा किया गया उपचार देखकर सभी ने वैसा किया। वन परिभ्रमण कर वापस लौटते समय वृक्ष की जगह ठूंठा देखकर राजाने मंत्री से कारण पूछा। मंत्री ने कहा राजन! यह वही आम्रवृक्ष हैं आपके द्वारा मंजरी तोड लेनेपर आपके साथ रहे समुदाय ने भी वैसा किया। श्रीसंपन्न आम्रवृक्ष को श्रीरहित देखकर राजा विरक्त हो गए और निर्याणमार्ग को प्राप्त हो गए।

सिद्धत्त्व को प्राप्त करे उसे सिद्धिमार्ग कहते हैं। मुक्तदशा प्राप्त करानेवाले मार्ग को मुक्तिमार्ग कहते हैं। निर्याणमार्ग और निर्वाणमार्ग में कोई अंतर नही होते हुए भी बहुत बडा अंतर हैं। जहाँ से निकला जाता हैं उस मार्ग को निर्याणमार्ग कहते हैं। जहाँ पहुंचा जाता हैं उसे निर्वाणमार्ग कहते हैं। ट्रेन या प्लेन की सफर करते हुए आपने यान सेवा शब्द पढा होगा। रेलयान, जलयान, वायुयान आदि वे सेवाए जो किसी मंजिलतक पहुंचाने में सफल रहता हैं यहाँ पहुंचानेवाले साधन को यान कहा गया हैं। निर्याण अर्थात् निर्वाणतक पहुंचाने का साधन। अंतिममार्ग को **अवितहमविसंधि सव्वदुक्ख पहीणमग्गं** कहते हैं। परमशांति के इस मार्ग को यहाँ मिथ्यात्त्वरहित, यथार्थ, संदेहरहित, सदाशाश्वत और सर्व दु:खों को पूर्णरुप से क्षय करनेवाला मार्ग कहा हैं।

मार्ग से संबंधित चार शब्द साधनामार्ग की तीन प्रक्रिया से संबंध रखता हैं -

१. मार्गाभिमुख
२. मार्गपतित
३. मार्गानुसारी
४. मार्गगामी

आत्मविकास करता हुआ जीव मार्ग को देखता हैं। मार्ग और साधक आमने सामने हो जाते हैं। मार्ग का दिखाई देना भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। मार्ग के अभिमुख जीवन को अपुनर्बंधक कहा जाता हैं। यह जीव अब मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बंध नहीं करता है। इसलिए उसे अपुनर्बंधक कहा जाता है। अपुनर्बंधक अर्थात् अ = नहीं, पुनर् = पुन:(वापस), बंधक = बंधन करनेवाला। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति को अब पुन: नहीं बांधने के कारण उसे अपुनर्बंधक कहा जाता है। मार्गाभिमुख होनेवाले साधक में तीन लक्षण दिखाई देते हैं -

१. आजसे पूर्व वह अत्यंत तीव्र रस से पाप करता था। वह अतिशय रस और अतिशय तीव्रता से पाप नहीं करता। पाप तो करता है पर उसमें तीव्रता नहीं रहती है।

२. अब तक वह पापों को आवश्यक मानता था। उसे उपयोगी मानकर प्रमुखता देता था। भोगरसों को महत्त्वपूर्ण मानता था। अब वह पापों को महत्त्वपूर्ण नहीं परंतु कतृत्त्व मानता है।

३. इससे पूर्व उसमें माता पिता के प्रति आदर, अतिथि सत्कार या गरीबों के प्रति करुणाभाव रुप औचित्य नहीं था। मार्गाभिमुख होते ही उसे अपने औचित्य का बोध हो जाता हैं। धर्म के प्रति द्वेष समाप्त होता है। धर्मानुरागी बनता है। उसे भोग और योग दोनों सुहाते हैं।

मार्गाभिमुख हुआ जीव मार्ग के उचित आचरणों का स्वीकारकर मार्ग का स्वीकार करता हैं। मार्गपर आता है। मार्ग में आता है। मार्ग में पतित हो जाता है उसे मार्गपतित कहते है।

मार्गानुसारी में जीव मार्ग का अनुसरण करता हैं। यहाँ से जीव के आध्यात्मिक विकास का प्रारंभ होता हैं। मार्ग में आते ही मोक्ष बीज का जो वपन हुआ था वह यहाँ विकसित होना शुरु कर देता हैं। विकसित होता हुआ वह वृक्ष होकर मोक्षरुप फल पाने में सफल हो जाता हैं। इस स्थिति में जीव की आत्मदशा अत्यंत निर्मल कोमल और पवित्र हो जाती हैं। उनके भाव जैसे चित्र अंकित करने से पूर्व दिवाल किंवा भूपृष्ठ को अत्यंत साफ कर अंकित करने योग्य बनाया जाता हैं वैसे ही अत:करण को निर्मल और पवित्र किया जाता हैं। इसमें क्रियात्मक और गुणात्मक धर्मों की पूर्व भुमिका में स्वधर्म को अत्यंत आवश्यक माना जाता है। परमात्मा महावीर ने अंतिम देशना में मोक्षमार्ग नामक स्वतंत्र अध्ययन की प्ररुपणा करी है। अनादि से अनजाना होनेपर भी यह मार्ग वर्तमान में सहजरुप से जाना जा सकता है। यह मार्ग शाश्वत है। ज्ञान दर्शन, चारित्र को ही मोक्ष का मार्ग कहा गया है। तत्त्वार्थ में भी कहा गया है **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।** सम्यक्ज्ञान अर्थात् स्वप्रकाशक ऐसी आत्मा की शक्ति। दर्शन अर्थात् आत्मा का अनुभव और चारित्र अर्थात् त्रिकाली स्वभाव की स्थिरता।

मार्गगामी आत्मा मार्गदर्शन का श्रद्धापूर्वक अनुसरण करता है। किसी कारणविशेष से स्खलना या भ्रम हो तो भी मार्गगामी साधक मोक्षमार्ग पर श्रद्धावनत होकर तात्त्विक देशना का श्रवण करता है। सत्य मानता है और मार्ग का आग्रह रखता है। मार्गगामी के दो प्रकार है - सापाय और निरुपाय। जो कर्म निरुपक्रम अर्थात् अत्यंत क्लिष्ट, मोहनीय अंतराय आदि ऐसे कर्म जो पुरुषार्थ करनेपर भी टूटते नहीं है और विराधना या स्खलना हो जाती है उसे सापाय कहते है। उसमें विपरीत अ-निरुपक्रम अर्थात् सोपक्रम कर्म जो पुरुषार्थ का धक्का लगते ही दूर हो जाते है। उसका क्षयोपशम हो जाता है और विपाकोदय नहीं रहता है उसे निरपाय कहते है। दोनों ही सम्यग्दर्शनादि बीजवाले ही होते हैं। दोनों मार्गगामी होने से दोनों का पुरुषार्थ मार्गपालन का ही होता है।

मार्ग को जानना अत्यंत आवश्यक है। मार्ग की चर्चा करते हुए केशी श्रमण ने गौतमस्वामी से पूछा था - **मग्गे य इइ के वुत्ते ?** मार्ग किसे कहा गया हैं ? उत्तर में मार्ग की प्ररुपणा करते हुए गौतम स्वामी ने कहा - **समग्गं तू जिणक्खायं एक मग्गे हि उत्तमे।** जिनेश्वर भगवान द्वारा कथित सन्मार्ग ही एक उत्तममार्ग हैं। उस मार्ग के दाता परमात्मा स्वयं जहाँ चलते हैं वहाँ मार्ग बनता है। उनको हमारी तरह मार्ग खोजना नहीं पडता। सरलता से हमें इस सन्मार्गपर चलना हो तो एक ही उपाय है परमप्रभु के चरणों की उपासना। जहाँ जहाँ चरण वहाँ वहाँ मार्ग। चरण पूजते जाओ मार्ग में आगे बढते जाओ। चरणों की उपासना करनेवाले को मार्ग का पता हैं या नहीं हैं इसकी

कोई परवाह नहीं। हमें चाह होनी चाहिए कि हमारा हृदय कमल खुला हो, पवित्र हो। भले ही देव समुदाय सुवर्ण कमल की रचनाकर प्रभु को उसपर चलाते हो। एक बार आप प्रयास करके तो देखिए। अपना हृदय चैतन्यवंत कर प्रभु को आंमत्रित तो कीजिए। चरण का पूजन कर हम प्रभु से कहेंगे हे परमतत्त्व! तेरे चरण मेरा मार्ग है तेरी चाल मेरी मंजिल है। तेरे चरणों का पूजन करते करते मुझे मोक्ष पहुंचना है।

एक रुपक बहुत प्रसिद्ध है - एकबार यात्रापर निकले हुए भक्त ने भगवान से कहा आप मेरे साथ रहना। यात्रा में उसे जगह जगह अपने दो कदमों के साथ भगवान के दो कदम भी दिखाई देते थे। कुछ समय के बाद मार्ग में तुफान आया। कुछ दिखाई नहीं देता था। घबराया। तुरंत ध्यान आया भगवान मेरे साथ है। सहसा उसने वो दो कदम देखने का प्रयास किया, परंतु वे चरण दिखाई नहीं दिए। मन ही मन सोचा समय पे तो भगवान भी साथ छोड देते है। शाम हुई तुफान शांत हुआ पुन: भगवान के चरण दिखाई दिए। उसने भगवान से कहा प्रभु ! तुफान में तो आपने भी मेरा साथ छोड दिया। भगवान ने कहा, किसने कहाँ कि मैं तेरे साथ नहीं था। आँधी के समय मैं ने तुझे उठा लिया था। दिखाई देने वाले दो चरण तेरे नहीं मेरे थे।

एकबार जंबुस्वामी ने सुधर्मा स्वामी से कहा मैं जब भी राजगृही नगरी में भिक्षाचर्यादि के लिए विचरण करता हूँ तब लोग मुझे पूछते हैं कि भगवान महावीर कहाँ गए? कब आऐंगे ? मुझे पता नहीं मैं उन्हें क्या उत्तर दूँ। पहले आप मुझे यह बताए कि परमात्मा कहाँपर हैं ? क्या कर रहे हैं ? कैसे और कब वे हमें मिल सकते हैं। गुरु ने शिष्य के मस्तकपर हाथ रखकर कहा भगवान ! तेरे नयनपथ पर बिराजमान हैं। नयनपथ अर्थात् क्या ? नयन अर्थात् आँखे, पथ अर्थात् मार्ग। आँखों का मार्ग कौनसा हो सकता हैं ? आँख का रस्ता अर्थात् नजर। जहाँ जहाँ नजर वहाँ वहाँ मार्ग। पथ पाने के लिए संसार से अलग होना पडेगा। अब तू महापुरुषोंद्वारा सेवित राजमार्गपर पहुंचा है। अत: **गच्छामि मग्गं विसोहिया** । पूर्ण विशुद्धिपूर्वक विश्वास रखकर चलता रहे। **संपई णेयाउए पहे** । शिघ्र ही तू न्याययुक्त मोक्षमार्ग को पा सकेगा।

तू मार्ग के प्रति निरंतर समर्पित रहना। इस प्रक्रिया में संसार छोडना नहीं पडता, छूट जाता हैं। इसके अतिरिक्त ऐसी कोई भी प्रक्रिया नहीं हैं जिसमें संसार छूट सके। कई संसारी लोग ऐसी घटना लेकर आते हैं जिसमें छूटने की बात होती हैं। अलग होने की बात होती है। आप लोगों में से ही कई लोग कहते हैं बहू को अलग होना है। हमने कह दिया हमारी तरफ से कोई मनाई नहीं हैं। यह घर हमारे नाम का हैं। बनाओ अपना घर और रहो अलग। एक कवी ने इस अलगाव को समझाते हुए कहा हैं -

बे रस्ताओ अचानक मळी गया, बे घडी वाते वळग्या अने छूटा पडी गया ।
बे झरणाओ अचानक मळी गया, एक बीजाने भेंट्या अने एक बीजामां भळी गया ।।
अने पछी अमे अचानक मळी गया, अमे नथी रस्ता के नथी झरणा,
अेटले न तो छूटा पड्या अने न तो भळी गया ।।।

आपको समझ में आया ? दो रास्ते चार रास्ते आपस में मिलते हैं और अपने अपने राहपर आगे बढ जाते हैं इसीतरह पानी के झरनें झरते हैं, गिरते हैं, किसी जगह मिलकर एक दूसरे में विलिन हो जाते हैं। हमारी ट्रेजडी

देखिए, हम रास्ते की तरह एक दूसरे से मिलकर अलग भी नहीं हो सकते तो झरणों की तरह मिलकर एक दूसरे में समा भी नहीं सकते हैं।

परम से मिलने के लिए संसार से छूटना होगा। छोडना मुश्किल हो सकता हैं परंतु परम के प्रति पकड मजबूत हो तो संसार छोडना नहीं पडता छूट जाता हैं। छूटकर चलने का जो पथ हैं उसे सुधर्मा स्वामी ने **चक्खु पहेदि्ठयस्स** कहा हैं। बस चक्षुपथ पर मग्गदयाणं मिल जाते हैं और मोक्षदयाणं हो जाते हैं। मार्ग देते हैं और मोक्ष पहुंचाते हैं। इस मार्ग को हम पा सके, जान सके, देख सके और उसपर चल सके ऐसा सामर्थ्य पाकर समर्पित हो जाना है। इस समर्पण का स्वीकार प्रभु कैसे करते हैं इसपर हम कल विचार करेंगे।

॥। नमोत्थुणं मग्गदयाणं ॥।
॥। नमोत्थुणं मग्गदयाणं ॥।
॥। नमोत्थुणं मग्गदयाणं ॥।

नमोत्थुणं - सरणदयाणं

जो स्वयं मे पूर्ण और संपन्न होते हैं वे ही अन्य को शरण दे सकते हैं।
जो शरण देकर शरणागत को स्वयं के समान पूर्ण संपन्न बनाते हैं वे शरणदाता कहलाते हैं।
परमात्मा की शरणागति अर्थात् उनके स्वरुप का ध्यान।
नामस्मरण, पूजन, वंदन, सत्कार और आज्ञापालन द्वारा शरणागत उनका शरण स्वीकार सकता हैं।

जो हमें जिनशासन में आसन देते हैं वासन (बसेरा) देते हैं उन्हें हम शरणदाता कहते हैं। आसन अर्थात् बैठना। शिष्य या साधक शरण में आते ही प्रश्न करते हैं - **कहं आसे, कहं सये** मैं कहाँ बैठु और कहाँ सोउ ? आस् धातु से आसन शब्द बनता हैं। आसन शब्द के अलग अलग प्रयोग और उपयोग होते हैं। आराधना करते समय जिसे बिछाकर बैठा जाता हैं उसे आसन कहते हैं। योग द्वारा व्यवस्थित प्रक्रिया करके देह को लय में लाया जाता हैं उसे भी आसन कहते हैं। इसपर से योगासन कहते हैं। बस, ट्रेइन आदि में आप जो सीट ग्रहन करते हैं उसे भी आसन कहते हैं। वासन अर्थात् बसना अर्थात् बसेरा। शरण में आने के बाद शरणागत जब शरण में हमें स्वीकार लेता हैं तब वह हमारा बसेरा बन जाता हैं।

शरण शब्द समस्त भारत की संस्कृति का महत्त्वपूर्ण शब्द रहा हैं। जैन संस्कृति में शरण स्वीकारने की पूरी पद्धति को मांगलिक कहा जाता हैं। चार तत्त्व को शरण के रुप में स्वीकार करने से पूर्व इसे मंगल और उत्तम के रुप में मान्य किया गया हैं। लोक में मंगल चार हैं, उत्तम चार हैं और इन चारों को शरण के रुप में स्वीकार किया जाता हैं। गीता में शरण स्वीकारने के लिए सर्वधर्म का त्यागकर मेरी शरण का स्वीकारने का कहा गया हैं। बौद्ध धर्म में बुद्धं शरणं गच्छामि कहा हैं। इसतरह सर्व संस्कृति और धर्म में शरण को विशेष स्थान दिया गया हैं। शरण को स्वीकारने के लिए मांगलिक में पवज्जामि शब्द का प्रयोग हुआ हैं। पवज्जामि का अर्थ होता हैं स्वीकार करता हूँ। शब्दार्थ हैं प्रवज्या अर्थात् दीक्षा लेना। दीक्षा में सर्व परिधान का त्याग करके नया परिधान धारण किया जाता हैं। इसमें सर्व संबंधों का परित्यागकर परम के साथ के संबंधका स्वीकार किया जाता हैं।

भक्तामर स्तोत्र में शरण की जगह आलंबन शब्द का प्रयोग हैं। आलंबन अर्थात् सहयोग। आलंबन को समझाने के लिए यहाँ एक उदाहरण दिया हुआ हैं - जब हम भवसमुद्र में डूब रहे हो स्वयं को बचाने में हम असमर्थता का अनुभव करते हो उस समय सुध बुध समझ के साथ परमतत्त्व को याद करते हैं, उसे आलंबन कहते हैं। आलंबन के समय शरण का स्वीकार नहीं होता है क्योंकि शरण में समर्पण होता हैं। आलंबन में समर्पण की नहीं सहयोग की आवश्यकता है। मान लिजिए आपने किसी व्यक्ति को किसी काम के लिए सहयोग किया तो क्या वह आपको अपना समस्त समर्पण करेगा? आलंबन और शरण में जो अंतर हैं वह स्पष्ट रहना चाहिए। स्पष्टता के अभाव में मांगलिक जैसी सर्वोत्तम पक्रिया हमारे हाथ से निकल चुकी है। शरण के स्थानपर आलंबन का प्रयोग नहीं कर सकते क्योंकि आलंबन में सोचने का अवसर नहीं रहता हैं। जबकि शरण का सोच समझकर स्वीकार किया जाता है। आलंबन में कोई प्राथमिक संबंध नहीं होता हैं। बडे छोटे की परवाह नहीं होती हैं आदर

सत्कार की चाह नहीं रहती है। आगे पीछे का कोई आयोजन नहीं होता है। केवल मात्र संकट से पार उतरने की व्यवस्था मात्र होती है। शरण में हमारे और परम के अस्तित्त्व का साक्षात्कार होता है। साक्षीभाव का स्वीकार होता है। तू ही तू ही का अंतरनाद होता है। मेरे लिए परम विशेष है और परम के लिए मैं भी संपूर्ण विशेष हूँ। दोनों अस्तित्त्व का लयबद्ध संयोग शरणभाव हैं।

आलंबन का अर्थ तकलीफ में सहयोग देना हैं। सहयोग देकर चले जाने के बाद उनके साथ हमारा कुछ भी संबंध नहीं होता हैं। मानलीजिए सफर में आपकी गाडी कही अटक गई। किसी ने गाडी को धक्का लगाया ठीक होकर गाडी चल पडी। धक्का लगानेवाले को आप क्या करोगे? आभार ही तो मानेंगे ओर क्या करोगे? आलंबन में इससे अधिक कुछ होता भी नहीं। शरण में ऐसा नहीं होता। एकबार बंध गए तो भवांतर में भी साथ रहने के वादे हो जाते हैं। जब तक मंजिलतक न पहुंच पाए तब तक पूरे मार्ग में उन्हें हमें साथ देना पडेगा। इसीलिए मग्गदयाणं के साथ सरणदयाणं हैं। हे परमात्मा ! तू मार्ग देकर चला जाएगा। ऐसा नहीं होगा। मुझे शरण में लेना होगा। साथ देना पडेगा। मेरा सत्त्व खोलकर मुझमें स्वयं की बोधि प्रगट करनी होगी।

शरण प्राप्त करने से पूर्व स्तवन होता है और स्तवन से पूर्व वंदन होता है। यह एक ऐसी यात्रा का प्रारंभ हैं जो नमन से शुरु होकर स्तवन से गुजरकर शरण में समा जाती हैं। क्रम की लयबद्धता देखे पहले नवकार मंत्र फिर लोगस्स और फिर नमोत्थुणं में सरणदयाणं के रुप में प्रगट होते हैं। नमो अर्थात् चेतना की उपस्थिति, स्तवन अर्थात् परमचेतना की साक्षी और शरण अर्थात् अस्तित्त्व का स्वीकार। क्रम की लयबद्धता भी महत्त्वपूर्ण होती हैं। नमोत्थुणं के प्रत्येकपद अपनी एक क्रमिक लयबद्धता में बंधे हुए हैं। अभय दयाणं से इस क्रम का प्रारंभ होता हैं और बोहिदयाणं में लयबद्ध होता हुआ धम्मदयाणं में समाकर अपना एक नया पंचत्त्व बना लेता हैं। इसे हम उदाहरण के द्वारा देखते हैं।

एकबार एक धनिकशेठ अपने साथ अपार धन संपत्ति लेकर घने जंगल के पथ से पसार हो रहे थे। मार्ग में उसे अकेला देखकर एक लूटेरे ने पकड लिया। आँखोंपर पट्टि बाँधकर मालसामान ले लिया। किसी पेडपर उल्टे लटकाकर भग गया। घने जंगल में उसे कौन बचाए? हलकी सी भी आहट सुनकर शेठ बचाओ बचाओ की आवाज लगाता था।

अचानक एक सज्जन वहाँ से निकला। उसने देखा किसी लूटारु ने इसे लूटकर पेडपर बाँधा हैं। मुझे उसे बचाना चाहिए। वह शेठ के पास जाता हैं। शेठ कोई पास जानकर घबराकर काँपने लगा। पूछता है आप कौन हो ? शेठ को लगा कही कोई लूटेरा मुझे मारने तो नहीं आया? उसने कहा, आप कौन हो? मारनेवाले या बचानेवाले? आगंतुक ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा मैं तुम्हें बंधन से मुक्त करने आया हूँ घबराओ मत। सर्व प्रथम तुम भय से मुक्त हो जाओ। उसे निर्भिक कर शेठ ने उसके आँखपर की पट्टी हटाइ, बंधन से मुक्त किया। पेडपर से नीचे उतारकर बोले बोल तुझे कहाँ जाना हैं ? शेठ ने गाँव का नाम बताया तब उसे मार्ग बताया। शेठ ने उस व्यक्ति से कहा आपने मुझे रास्ता तो बता दिया पर मैं भयमुक्त नहीं हूँ। अत: अकेला चलने का सामर्थ्य मुझमें नहीं हैं। आपने

मुझे साथ देना होगा। व्यक्ति ने शेठ से कहा जब तेरे पास माल सामान था तब तू डरता था। अब तू क्यों भयभीत होता हैं? शेठ ने कहा महानुभाव सबसे बडा धन जीवनधन है। उसने मुझे लूट लिया पर मैं जीवनसे बच गया तो फिर से धन कमा लूंगा। पर मुझे मार डाला होता तो क्या होता? व्यक्ति ने दयाकर उसे हाथ पकडकर चलाया। असक्त और भूख से व्याकुल शेठ चल नहीं पाए तो उन्होंने अपने पास से कुछ भोजन दिया और सहारा देकर भयंकर रास्ते को पार करने की जिम्मेवारी ली।

संसार में शेठ की जगह संसारी लोग हैं। विषय कषाय आदि चोर सत्त्व लुटकर मिथ्यात्त्व की पट्टी बाँधकर मोह के वृक्षपर उलटे लटका देते हैं। पुण्योदय से सद्गुरु आकर अभयदयाणं बनकर भयमुक्त करते है। चक्खुदयाणं बनकर मिथ्यात्त्व की पट्टी खोलते हैं। मग्गदयाणं बनकर मार्ग को निराबाध करते हैं। अकेले चलने को असमर्थ देखकर सरणदयाणं बनकर शरण देते हैं। जीवदयाणं बनकर सत्त्वसंपन्न करते हैं। बोहिदयाणं बनकर जन्म जन्म की भूखरुप अबोधि को टालते हैं। अस्तित्त्व का बोध कराते हैं। धम्मदयाणं बनकर धर्म का भाथा देखकर आगे मार्ग प्रशस्त करते हैं।

शरण हम ग्रहण करते हैं आगे शरण्य हमारी किस तरह से प्रतिपालना या कामनापूर्ति करते हैं इसके बारे में हमें नहीं सोचना चाहिए। शरण्यभाव की चरमसीमा में उद्देश की पूर्ति सहज हो जाती हैं। भगवान ऋषभ देव के समय की एक घटना आप जानते होंगे। दीक्षित हो जानेपर परमात्मा कच्छ महाकच्छ आदि श्रमणों के साथ विचरण कर रहे थे। एकबार कच्छ और महाकच्छ के पुत्र नमि और विनमि भगवान की दीक्षा के पूर्व कहीं बाहर गए हुए थे। लौटनेपर उन्हें पता चला भगवान के साथ पिताजी भी दीक्षित हो गए हैं। भगवानने उपस्थित सभी संसारी राजा और राजपुत्रों को राज्य संपत्ति बाँट कर दीक्षित हो गए हैं। सोचने लगे अब हमारा क्या? हमारी राज्य व्यवस्था के बारे में हम किनसे समाधान प्राप्त करें ? कायोत्सर्ग ध्यान में स्थित भगवान की ही शरण ग्रहण करते हैं और उनसे ही हमारी राज्य सत्ता का अधिकार माँगते हैं। ऐसा सोचकर वे परमात्मा की सेवा में रहने लगे। उन्होंने संकल्प लिया भले ही भगवान मौन रहो, साधना में रहो हम हमारी सेवा करते रहेंगे। वे स्वयं हमारे औचित्य को न्याय देंगे ऐसा सोचकर भगवान के नजदीक रहकर आसपास की भूमिकी सफाई करते थे, पानी का छंटकाव करते थे और भगवान के दोनों ओर नंगी तलवार लेकर खडे रहते थे। न कभी बैठते थे न कभी सोते थे। निरंतर शरण में रत थे।

एकबार धरणेंद्र भगवान के पास वंदन करने आए थे। नमि विनमि को देखकर उन्हें प्रेम से पुछा तुम कौन हो? क्या उद्देश हैं तुम्हारा ? वास्तविकता जानकर उन्होंने सलाह दी भरत के पास जाकर तुम्हारे उद्देश की याचना करो। भगवान के बडे पुत्र होने के नाते उन्हें राज्य देने का अधिकार भी हैं। तब नमि विनमि ने कहा हम तो समग्र विश्व के स्वामी की सेवा में हैं। उनकी शरण में हैं। उनसे ही अपना अधिकार लेंगे। जब और जितना उनकी इच्छा होंगी तब देंगे। उनकी भक्ति को देखकर धरणेन्द्र प्रसन्न हो गए। कहने लगे धन्यवाद, धन्यवाद। मैं भगवान का भक्त नागराज धरणेन्द्र हूँ। तुम्हारी सेवा और उपासना देखकर **यही स्वामी उपासना योग्य हैं** ऐसी आपकी दृढ प्रतिज्ञा ने मुझे आनंद विभोर कर दिया हैं। मैं इन भगवान का दास हूँ और आप दोनों इन भगावन के सेवक हो।

उनकी सेवा के फल स्वरुप आपको कुछ भेंट दिया जाए तो वह उन्होंने ही दिया हैं ऐसा माना जाता हैं। ऐसा कहकर धरणेन्द्र ने नमि विनमि को गौरी प्रज्ञप्ति आदि ४८,००० विद्याएं भेंट की और वैताढ्य पर्वतपर दो श्रेणियों में नगर बसाकर अक्षय राज्य करने की आज्ञा दी और यहा से लौटने की बिनती की। लौटते हुए धरणेन्द्र ने अहंकारी होकर मर्यादाभ्रष्ट होनेपर विद्याओं का विसराल हो जाने का कहा और यह सब शरण ग्रहण का प्रभाव हैं इस बात को रत्नो कीं दिवालपर अंकित कर स्वस्थान लौट गए।

शरण्य को चार भागों मे बाटा गया हैं - १. अरिहंत परमात्मा २. सिद्धपरमात्मा ३. साधुमहात्मा ४. केवलिपज्ञप्त धर्म। इसमे हमें नीचे से उपर जाना हैं। प्रथम शरण धर्म की ग्रहण करनी चाहिए। धर्म के प्रति हमारा समर्पण होना चाहिए। अंत:करण धर्म को अर्पण कर देनेपर धर्म का काम हमें आगे बढाना हैं। धर्म प्रथम सोपान हैं जो हमें ही चढना होता हैं। दूसरे सोपान तक ले जाने का काम धर्म करता हैं। कईबार हम केवल प्रथम सोपानपर अटक जाते हैं। धर्म चर्चा में उलझ जाते हैं। पुण्योदय से धर्म धारण कर सके तो धर्म का काम साधु की शरण में ले जाने का हैं। यह दूसरा सोपान भी बहुत मूल्यवान हैं। यह एक प्रत्यक्ष चेतनामयी मुलाकात है। समक्ष बैठकर अपने भीतर को खोल देने का अमूल्य अवसर केवलमात्र इसी पद में संभव होता है। वैसे एक बात है आप यह करते भी हो। प्रत्यक्ष बैठकर मुलाकात भी लेते हो। अपना भीतर भी खोलते हो परंतु आपका भीतर भी अलग होता है। भीतर की व्याख्याए हमारी और आपकी बहुत अलग है। हमारा भीतर कहने का मतलब होता है बहिर्मुखी से अंतर्मुखी होना। जिस भीतर को लोक व्यवहार में नहीं खोल सके हो उसे खोल देना भीतर की आँखो से देखकर गुरु के समक्ष प्रगट हो जाना, अत:करण को अर्पित कर देना, जिसका दूसरा नाम आलोचना हैं। यह हैं भीतर। पूर्व की समस्त दोषों का निवारण यहाँ होता हैं।

आपकी तो भीतर की परिभाषा ही अलग हैं। बेटा- बेटी, बहू, पति-पत्नी आदि की वे कथा जो किसी से नहीं कह सकते हो वह भीतर की व्यथा आप साधु के पास खोलते हो। साधु माँ-बाप की जगह होते है। यहाँ से बात कही बाहर नहीं जाती। ऐसे पूर्ण विश्वास के साथ आप अपने भीतर की व्यथा व्यक्त करते हो। साधु माँ-बाप की जगह होते हैं यह बात सही है परंतु वह हैं भीतर के वात्सल्य की बात। गुरु का वात्सल्य तीर्थंकर नामकर्म का एक कारण माना जाता है परंतु पंचायती के लिए नहीं। अध्यात्म मार्ग में आनेवाली भीतर की बाधाओं को व्यक्त कर उसका परिहार करने हेतु गुरु के पास भीतर के भेद खोले जाते है। अध्यात्म मार्ग से खोया गुरु के पास आकर पुन: मार्ग को पा सकता है। शरण में लेकर साधु भीतर को भेद देता है। अरिहंत के अस्तित्त्व का हमारी चेतना में साक्षात्कार कराते हैं और सिद्धत्त्व का स्वरुप प्रगट करते हैं।

आचारांग सूत्र में शरण के साथ त्राण शब्द को जोडकर सरणदयाणं को बहुत उपर उठाया गया हैं। त्राण अर्थात् दु:ख, आपत्ति और विडबंनाओं से बचने का मार्ग, शरण अर्थात् सुख, शांति, संपत्ति और स्वस्थता प्राप्त होने की व्यवस्था। शरण दु:ख से, विडबनाओं से मुक्त होने के लिए नही लेकिन भीतर की शांति प्रकट होने की व्यवस्था हैं। यह सूत्र हैं **नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा** पुण्य से प्राप्त धन, संपत्ति, परिवार न त्राण दे सकते हैं न शरण। शरण हमारी भीतर की एक व्यवस्था हैं जिसे हमें भीतर ही प्रकट करनी हैं।

सरणदयाणं समझने के लिए हमारे सामने तीन बातें आती हैं - शरण, शरण्य और शरणागत। शरण देना, शरण लेना, शरण में आना, शरण में जाना, शरण्य को पहचानना, शरणागत हो जाना आदि कुछ बातें इस पद की व्याख्याको व्यक्त करती हैं। शरण कोई चीज या पदार्थ नहीं हैं कि देता लेता हुआ दिखाई दे। शरण एक ऐसी अवस्था हैं जो समर्पण की चरम सीमा में प्रगट होती हैं। शरण एक ऐसी व्यवस्था हैं जो शरण्य के प्राप्त होनेपर स्वीकार की जाती हैं। शरण की प्रक्रिया दो तत्त्वों के मिलने से बनती हैं। शरण्य और शरणागत दो तत्त्व हैं। जैसे विवाह में दुल्हन दुल्हे के एक एक हाथ को मिलाया जाता हैं और सप्तपदी के साथ संबंध का स्वीकार किया जाता हैं। यहाँपर शरणागत को स्वयं के ही दोनों हाथ विधि पूर्वक जोडने होते हैं। दोनों हाथ की हथेलियों को आकाश की ओर खुली छोडकर अंजलि बनाए। इसी मुद्रा में मांगलिक के प्रथम चार पद **चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलि पन्नत्तो धम्मो मंगलं** को धारण करे। बाद में दोनों हथेलियों को समान स्पर्श में बंद करें यह करते समय अंगुलियों के बीच में छेद नहीं होना चाहिए। हथेलि के और अंगुलियों के छोर एक दूसरे को पूर्णतया मिले हो ऐसे रहे तब **चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलि पन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो** का स्मरण करे। अब इसी मुद्रा में दोनों हथेलियों को अर्थात् जुडे हुए हाथों को हृदय के पास लाइए। जहाँ आपका हार्ट चक्र कहो या अनाहत चक्र के पास रखे। आखें बंद कीजिए। आत्मभाव में आदरभाव मिलाकर स्मरण कीजिए कि लोक में उत्तम और मंगल स्वरुप इन चारों तत्त्वों को आप अपने सहस्त्रार चक्र में स्वीकार रहे हैं। आज्ञा चक्र में उतार रहे हैं। अहोभाव से भरा हुआ अनाहत चक्र इन चार तत्त्वों को धारण करने के लिए उत्सुक हैं। धीमे और गंभीर सांसो के साथ अनाहत भाव में धारा को बहने दे। भाव विभोर होकर अनुभूति कीजिए। ये चारों तत्त्व आपको पवित्र कर रहे हैं। चारों तत्त्वों का मंगलस्वरुप आपके भूतकाल के कर्मों का प्रक्षालन कर रहे हैं। चारो तत्त्वों का उत्तमस्वरुप आपके वर्तमान को उत्तम और पवित्र कर रहे हैं। चारो शरण्यतत्त्व आपके भावी सिद्धावस्था का आपमें निर्माण कर रहे हैं। अब दोनों हथेलियों को आपस में मिलाकर अपनी आँखोंपर और मस्तकपर लगाकर उर्जा संपादित, संकलित और समाहित करने की विधि संपन्न करे।

शरण ग्रहण करने की यह प्रक्रिया जिनसे होती हैं वे शरणागत हैं, शरण में जो लेते हैं वे शरण्य हैं। मांगलिक में अरिहंतादि चारों तत्त्व शरण्य हैं। पवज्जामि शरणागत हैं। शरण्य शरणागत को शरणागति देता हैं। जब हम पंजाब में थे कांगडा गये थे। वहाँ पास में एक पहाड हैं जिसे धर्मशाला कहते हैं। वहाँ उपर कुछ चढाईपर मकडोलगंज नाम का एक स्थान हैं जहाँपर एक बौद्ध मठ हैं। विहार करते हुए हम वहाँ पहुंचे थे। विश्राम का स्थान ढूंढते हुए इस मठतक पहुंचे। यह मठ भारतदेश का आश्रित मठ हैं। मठ में आश्रित साधुओं की रहने की और भोजनादि की व्यवस्था भारत सरकार द्वारा चलती थी। हमने वहाँ एक रात विश्राम के लिए स्थान की गवेषणा की। उन्होंने स्पष्ट इनकार किया तब हमारा चिंतन शरण शब्दपर गया कि हम शरण्य हैं या शरणागत ? विदेश से आया शरणागत यदि भारत के आजीवन पदयात्री भारतीय संत को एक रात विश्राम नहीं लेने देते हैं वे शरण्य हैं या शरणागत हैं?

शरणागत शब्द मात्र समझने का विषय नहीं हैं यह संकलन, संक्रमण और संरक्षण की सुनियोजित व्यवस्था हैं। भगवान महावीर अपना ग्यारहवा वर्षावास पूर्ण करके सुंसुमारपुर में पधारे थे। उसके एक वनखंड में अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वीशिलापट्टपर ध्यानावस्थित थे। उस समय चमरचंचामें पूरण नाम के बाल तपस्वी का जीव इन्द्र रुप में उत्पन्न हुआ। उसने अपने अवधिज्ञान में अपने उपर शक्रेंद्र को सिंहासनपर दिव्यभोगोपभोग के साथ उपस्थित देखा। यह देखकर वह स्वमान से हतप्रभ हो गया। उसे अर्थात् चमरेन्द्र को उनके ही सामानिक देवों ने परिचय दिया कि यह देवराज शक्रेंद्र हैं, सदा से यह अपने स्थान को भोग रहे है। यह सुनकर भी उसे संतोष नहीं हुआ वह भगवान के पास आकर बोला - भगवन! मैं आपकी शरण लेकर स्वयं ही देवेन्द्र शक्र को उसके वैभव से भ्रष्ट करना चाहता हूँ। ऐसा कहकर वैक्रिय रुप बनाकर सौधर्म देवलोक में गया और हुंकार करते हुए बोला कहाँ हैं? देवराज शक्रेन्द्र ? कहाँ हैं उसके चौरासी हजार सामनिक देव और करोडों अप्सराए ? मैं उन सबको अभी नष्ट करता हूँ।

चमरेन्द्र के घृष्ट वचनों को सुनकर शक्रेन्द्र को क्रोध आया। रोषभरे शब्दों में उसने कहा - हे पुण्यहीन असुरराज! तू आज ही मर जाएगा। ऐसा कहकर हजारों उल्काओं को छोडता हुआ वज्र चमरेन्द्र के उपर छोडा। भयभीत होकर चमरेन्द्र तेज गति से भगवान के पास आया और पाँवों के बीच में गिरते हुए बोला - भगवन् ! आप ही शरण दाता हो भगवान तो ध्यान में थे। परंतु वह दोनों पाँवों के बीच में कुंथवे का रुप लेकर छिप गया। शकेंद्र ने सोचा चमरेन्द्र का इतना साहस नहीं हो सकता हैं । कोइ पीठबल होना चाहिए। अवधिज्ञान से उसने जान लिया की वह भगवान महावीर की शरण लेकर आया हैं। यह जानकर भगवान के चरण से चार अंगुल दूर स्थित वज्र को पकड लिया और चमरेन्द्र को अभय प्रदानकर भगवान की क्षमा मांगकर लौट गया। भगवान की शरण का यह अद्भुत प्रभाव हैं। यह घटना इस बात की साक्षी हैं।

शरण शब्द को अपने में समेटा हुआ मांगलिक समस्त विश्व का प्रथम और परम मांगलिक हैं। सारे मंगल इस मंगल में समा जाते हैं। शरण का स्वीकार वंदन और नमस्कार से भी उपर हैं। वंदन नमस्कार चरण में होते हैं। मस्तक झुकाकर वापस उठा भी लेते हैं। शरण में माथा उठता ही नहीं हैं, वापस लौटता ही नहीं हैं। शरण में तो माथा गोदि में धर देते हैं। बच्चा जैसे माँ की गोदि में अपना सर्वस्व समर्पित कर निर्भय और निश्चिंत हो जाता हैं वैसे ही सरणदयाणं मिल जानेपर हम भी अपना सर्वस्व समर्पित कर निर्भय और निश्चिंत हो जाते हैं। शांत एकांत वातावरण में सरणदयाणं को आमंत्रित करों । उनकी गोदी में अपना मस्तक धर दो। मस्तकपर हाथ रखकर प्रभु पूछेंगे तू कौन हैं? शरण आने का तेरा क्या तात्पर्य हैं? तब हमें उनसे कहना हैं कि हम संसार से भयभीत हैं। आप अभयदयाणं बनकर हमें भयमुक्त करों। चक्खुदयाणं बनकर आओ और हमें वे दिव्यनयन दो जिससे हम सत् स्वरुप को देख सके। मग्गदयाणं बनकर हमें चलने का सामर्थ्य दो। सरणदयाणं बनकर शरण में लो और जीवदयाणं बनकर हममें जीवन के मूल्य प्रगट करो।

।। नमोत्थुणं सरणदयाणं ।। ।। नमोत्थुणं सरणदयाणं ।। ।। नमोत्थुणं सरणदयाणं ।।

नमोत्थुणं - जीवदयाणं

जीव स्वयं अनंत हैं जीवन अनंत यात्रा हैं।
जीव से तात्पर्य हैं चेतना, चैतन्य, उत्साह, जागृति आदि
देह में जीव की अभिव्यक्ति जन्म हैं।
देह में जीव की अनुभुति दीक्षा हैं।
पुद्गल में जीव प्रगट करे उसे मा कहते हैं।
जीव में जीवन प्रगट करे उसे परमात्मा कहते हैं।
देह में जीव की अभिव्यक्ति करावे वह मा हैं।
देह में जीवन की अनुभूति करावे वे परमात्मा हैं।
जगत् वन हैं - वन में जीव आता हैं तब जीवन बनता हैं।
जीवन में उपासना आती हैं तब जीवन उपवन बनता हैं।
उपवन में मधुरता आती हैं तब वह मधुवन बनता हैं।
मधुवन में जब तपस्या आती हैं तब वह तपोवन बनता हैं।
हमारा जीवन हमारा सहज प्रयास हैं।
जीवन में परमात्मा का अनुग्रह अनुप्रास हैं।
जीव में जीवन प्रगट होता हैं तब हमारा व्यक्तित्त्व व्यक्त होता हैं और
जीवन में जीवत्त्व प्रगट होता हैं तब हमारा अस्तित्त्व व्यक्त होता हैं।

जीव को जब तक स्वयं की स्थिति का बोध नहीं होता हैं तब तक वह परम की स्थिति का बोध नहीं पा सकता हैं। स्वयं की स्थिति का बोध पाने के लिए उसे स्वयं की वृत्ति को समझना होता हैं। वृत्ति के तीन प्रकार हैं - स्ववृत्ति, परवृत्ति और पदार्थवृत्ति। परवृत्ति और पदार्थवृत्ति में अंतर स्पष्ट होना कठिन हैं। वस्तुत: वृत्ति के स्व और पर दो प्रकार हैं। पर दो विभाग में बंटा हुआ हैं व्यक्ति और वस्तु। परवृत्ति में जीव दो तरह से व्यामोहित होता हैं अन्य जीव और अन्य पदार्थ। यह भेद रेखा पहचानी जाए, समझी जाए तो स्ववृत्ति में आना सरल हो जाता हैं।

ज्ञानी पुरुषोंने इस तत्त्व को समझाने के लिए उपयोग और उपासना ऐसी दो प्रक्रियाए बतायी हैं। पदार्थ का उपयोग करो और जीव की उपासना करो। हमारे लिए उपासना अवश्य महत्त्वपूर्ण हैं परंतु केवल सद्गुरु और परमात्मा की उपासना को ही महत्त्व देते हैं। प्रत्येक जीव में सिद्धत्त्व के दर्शन करने चाहिएं। आत्मसिद्धि में कहा हैं -

सर्व जीव छे सिद्धसम, जे समझे ते थाय ।
सद्गुरु आज्ञा जिनदशा, निमित्तकारण माय ।।

सर्व जीवों में सिद्धत्त्व का स्वीकार करना हैं, समझना हैं, मानना हैं। हम इस कथन से बिल्कुल विरुद्ध चल रहे हैं। हम जीव का उपयोग करते हैं और जड की उपासना करते हैं। जड और चेतन के भेद को समझे बिना जीवत्त्व को प्राप्त करना अशक्य हैं। मकान गिरता हैं तो मानव रोता हैं पर मानव गिरता हैं तब मकान नहीं रोता हैं। केवल मात्र इस एक ही कथन में जड और चेतन का भेद पाया जाता हैं।

स्ववृत्ति को समझने से जीवत्त्व जागृत होता हैं। जीव हैं अत: जीवत्त्व तो हैं परंतु बिना जागृति का जीवत्त्व अभावमय लगता हैं। जीव में जीवत्त्व के दर्शन होते हैं तो शिवत्त्व प्राप्त होता हैं। जीवदयाणं अर्थात् क्या ? जीवदयाणं के दो अर्थ होते हैं - १. जीव की दया खाना और २. जीव को जीवत्त्व देना उसका नाम जीवदयाणं। वैसे एक बात सही हैं कि हमारे प्रति कोई दया करता हैं तो हमें अच्छा नहीं लगता। रास्तेपर स्कुटर से जाते हुए अचानक स्कुटर गिर जाए तो लोग इकट्ठे हो जाते हैं। पूछने लग जाते हैं कहाँ लगा ? सांत्वना देने लगते हैं। गिरनेवाले की क्या दशा होती हैं? दया पात्र होने के बावजुद भी हमें दयनीय लगना अच्छा नहीं लगता हैं। जगत् हमारी दया करता हैं हमें अच्छा नहीं लगता परंतु इससे हमारी दयनीयता समाप्त नहीं होती हैं।

शास्त्र में दया के दो प्रकार बताए हैं - स्वदया और परदया। परदया अर्थात् दूसरे जीवों की दया। परदया तो समझ में आती हैं परंतु स्वदया समझना बहुत मुश्किल हैं। अनंत ऐश्वर्य संपन्न केवलज्ञान और केवलदर्शन का स्वामी पूर्ण सत्त्व संपन्न होनेपर भी हमारा जीव कर्माणुओं से ढका हुआ होने से फल नहीं दे सकता हैं। यह कितनी दयनीय दशा हैं हमारी ! बँक में बहुत बडा खाता चल रहा हैं परंतु इसपर सिल लग जाने से वह हमारी अमानत नहीं रह पाती। आज हम स्वयं के ही नहीं रह पाए। हमारा पूर्ण सत्त्व सत्ता में होनेपर भी हम कंगाल हैं। नमोत्थुणं का यह पद पुन: हमारा सत्त्व जागृत करता हैं। हमारा स्वयं का पराक्रम अंगडाई लेकर उत्सुक होता हैं। परमतत्त्व जीवदयाणं के माध्यम से हमें कहते हैं वत्स ! कब तक तू तेरे से छिपा रहेगा? गलती को सुधार ले। परमार्थ में प्रवेश कर। परमपुरुष मस्तकपर हाथ रखकर कहते हैं - **परवस्तुमां नहीं मुंजवो, ऐनी दया मुझने रही।** तेरा सत् स्वयं संपूर्ण वैभव संपन्न हैं फिर भी परपदार्थ में तेरा वह विलय हो चुका हैं। मुझे तेरे लुप्त हुए परम अस्तित्त्व की दया आती हैं। भावपूर्वक नमोत्थुणं में जीवदयाणं पद की उपासना करते हैं तो परमतत्त्व को हमारी दया आती हैं। सिर्फ दूसरों के दु:ख को देखना दया नहीं हैं। दया तब सार्थक हैं जब दयावान दयालु को दु:खो से मुक्त कराता हैं।

दया तो जीव को ही आती हैं। अजीव को दया नहीं होती हैं। मान लीजिए मेरा एक पाँव अकड गया तो मुझे मेरे पाँव की दया आती है। मुझे ही उसे खोलकर नीचे करना पडता हैं। जीव जीव के प्रति दया करता हैं तब वह पहला व्रत निपजाता हैं। चाहे हमारे पाँच महाव्रत हो चाहे आपके बारह व्रत हो। सबका प्रथम व्रत तो जीवदया ही हैं। जैन धर्म का दूसरा नाम दयाधर्म हैं। शास्त्रकार कहते हैं -

कल्लाण कोडी कारिणी, दुग्गई दुह निट्ठवणि ।
संसार जलतारिणी, एगंत होई जीवदया ।।

दया तीन काम एक साथ करती हैं - १. कोटी कल्याण करती हैं । २. दु:ख और दुर्गति का नाश करती हैं और ३. संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को तारकर पार उतारती हैं। यह जीवदया ये तीनो काम एकसाथ करती हैं। एक ओपरेशन से तीन रोग खतम होते हैं। सोचिए घर में आप घूम रहे हैं। किसी ने आपको कह दिया कि यहाँ चींटियों की लाईन हैं आप ध्यान देते हुए चलेंगे। आप अपने बच्चों को भी सूचना करोंगे यहाँ देखकर चलना। बच्चा पूछेगा क्यों ? आप कहोगे चींटी की लाईन हैं इस लिए। बच्चा कहेगा उसमें क्या हैं? चींटी मेरा क्या बिगाडेगी ? आपको समझान होगा चींटी तेरा कुछ नहीं बिगाडेगी परंतु तू यदि चींटी के उपर पाँव रखेगा वह मर

जाएगी। बच्चा कहता हैं वह मर जाए तो उसमें मेरा क्या नुकसान हैं? बेटा! वह हमारे पाँव के नीचे कुचलकर मरती हैं तो हमें पाप लगता हैं। बच्चा कहेगा पाप लगने से क्या होता हैं? बच्चे का इसतरह पूछना महत्त्वपूर्ण नहीं हैं परंतु आपका उत्तर अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। क्या कहोगे आप बच्चे से? यही न कि पाप लगने से दु:ख होता हैं। इसलिए हमें चींटी को नहीं कुचलना चाहिए।

ज्ञानी पुरुष कहते हैं पाप लगे इस कारण से जीवदया नहीं पालनी हैं परंतु जीव में जीवत्त्व हैं अत: उसके अस्तित्त्व का स्वीकार करना चाहिए। आप ने बच्चो कों समझाना चाहिए जैसा तू जीव हैं वैसा ही जीव इस चींटी के शरीर में हैं। शरीर में पीडा होनेपर जैसा तुझे दु:ख होता हैं, मुझे दु:ख होता हैं वैसा ही दु:ख चींटी को भी होता हैं। किसी को दु:ख देने से हमें पाप लगता हैं। पाप से दु:ख बनते हैं। सर्व जीवों को जीवन प्रिय हैं। **सव्वेसिं जीवियं पियं** दु:ख किसी को भी अच्छा नहीं लगता हैं। इसी कारण किसी जीव को दु:ख नहीं देना चाहिए। आतापना, किलामना, पीडा नहीं उपजानी चाहिए।

अहिंसा परमोधर्म की जय यह सूत्र संपूर्ण भारतवर्ष का सूत्र हैं। हमारे देश का यह शास्वत मंत्र हैं। अहिंसा का यह सूत्र तीन विभागों में बंटता हैं। इन विभागों के द्वारा तीन संस्कृति का बंधारण बना।

१. अन्य जीवों को मारकर भी जिओ।
२. स्वयं जीओ और दूसरों को भी जीने दो।
३. मरकर भी अन्य जीवों को जिलाओं।

ये तीन सिद्धांत तीन धर्म का, तीन संस्कृति का संयोजन बन गया। इसमें से हमारा धर्म कौनसा है पहचानो? प्रथम सिद्धांतवाले कहते हैं दूसरों को मारो, काटो, दु:ख दो पर हमें सुख मिलना चाहिए। दूसरा कहता हैं स्वयं जिओ और अन्य को भी जीने दो। तीसरा वर्ग कहता हैं खुद मरकर भी दूसरों को जिलाओं, जीने दो। तीसरी संस्कृति आपकी संस्कृति हैं। जिन शासन में धर्मरुचि अणगार जैसे महापुरुष हो गए। जिन्होंने कटु तुंबी की सब्जी गोचरी में लायी थी। नियम के अनुसार गुरु को गोचरी दिखाने गए। गुरु ज्ञानी थे। पात्र खोलते ही अतिशय खुशबुवाले पदार्थ को पहचान गए। शिष्य के हितस्वी गुरु ने शिष्य से कहा यह सब्जी मैं चखकर तुम्हें वापरने की आज्ञा दूंगा। ऐसा कहकर पात्र में से थोडा चखकर शिष्य से कहा वत्स! यह कटु तुंबे की सब्जी हैं। कडवा तुंबा जहर से भरा हुआ हैं। अत: इसे मत आरोगना। शिष्य ने कहा गुरुवर इसे मैं गोचरी में लाया हूँ वापस लौटा भी नहीं सकता हूँ। आरोगु भी नहीं तो क्या करुं ? गुरु ने कहा निर्दोष जगह देखकर परिष्ठापना करो।

मुनिश्री धर्मरुची हाथ में पात्र लेकर पदार्थ की परिष्ठापना करने के लिए निर्दोष भूमि की प्रतिलेखना करते हैं। निर्दोष जगह अर्थात क्या? आप यह जानते हैं? जहाँ कोई जीव जंतु न हो, जहाँ परिष्ठापना करने से दूरतक भी किसी जीवों को बाधा पीडा न उपजे ऐसी जगह को निर्दोष जगह कहते हैं। मुनिश्री नें कुम्हार के एक निम्हाडे में जहाँ राख का बडा ढेर होता हैं उसमें परठाकर राख में मिश्रण कर देने से किसी जीव को पीडा नहीं हो पाएगी। ऐसा सोचकर सब्जी की एक बूंद राख के ढेरपर डाली। कुछ क्षण में ही चींटियाँ वहाँ आ गयी। देखकर सोचने लगे हैं तो यह सब्जी है कडवे तुंबे की परंतु अत्यंत भारी व्यंजनों से बनने के कारण यह चींटियों के रसास्वाद का कारण बन

गई। जरा सा चखते ही चींटी मरने लगी। पश्चाताप से मुनि की आँखों में आँसु आ गए। उन्होंने सोचा निर्दोष जगह मेरे स्वयं का पेट हैं उसी में परिष्ठापना करनी चाहिए। इससे अधिक सुरक्षित जगह कोई भी नहीं हैं। वहीं पर खडे रहकर गुरुजी को नमस्कार कर व्यंजन आरोगने की आज्ञा लेते हैं - भंते! आपने मुझे दो आज्ञा दी थी। एक तो सब्जी न आरोगने की और दूसरी निर्दोष जगह देखकर पदार्थ की परिष्ठापना करने की प्रभु ! निर्दोष जगह नहीं मिल पाने के कारण मैं आपकी उस आज्ञा का पालन करने में समर्थ नहीं हूँ। आपकी पदार्थ नहीं वापरने की आज्ञा का भंग करने की क्षमा मांगता हूँ। अन्य जीवों की रक्षा करते हुए स्वयं को अर्पित करता हूँ और अनशन करने की आज्ञा माँगता हूँ। फिर उन्होंने पदार्थ को वापरा और उंगली से पात्र को निर्लेप कर अनशन लिया। स्वयं मरकर भी अन्य ज़ीवों का रक्षण करना धर्म शासन हैं।

स्वाध्याय में बैठे हुए हेमचंद्राचार्य के हाथ में एक चींटे ने काट लिया। काट के चिपक गया। कोशिश करनेपर भी वह नहीं हट सका। उसकी रक्षा करने हेतु वे किसी गृहस्थ के यहाँ जाकर एक चाकू माँगते हैं। श्रावक ने एक चाकू दे तो दिया लेकिन शंका ने उनके मनपर हावी हो गई कि महाराज श्री चाकू का क्या करेंगे? यह तो सावद्य व्यापार का साधन हैं। साधु को तो निर्वद्य साधना करते हैं। उसमें सहायता के साधन भी निर्दोष होते हैं। ऐसा सब सोचते हुए श्रावक मुनिश्री के पीछे पीछे गए। मुनिश्री चाकु को झोली में रखकर निर्दोष स्थान में जाते हैं । झोली नीचे रखकर चाकू निकालकर चमडी सहित हाथ का चींटेवाला विभाग काटकर वहीं रख दिया। चाकू मिट्टि से साफकर पुन: गृहस्थ के घर की ओर लौटने के लिए पाँव उठाया सामने ही उस उपासक को खडा हुआ देखा जिसके यहाँ से वे चाकू लाए थे। श्रावक आचार्य श्री के चरणों में गिर पडा। चरणों में मस्तक रखकर रोने लगा। मुझे क्षमा करो मुनि ! आपके प्रति शंका करनेवाले अपराधी को क्षमा करो गुरुदेव।प्रभु! मुझे मन में अनेक शंका कुशंकाए हुई थी। आप महान हैं मुझे क्षमा करें। मकोडे की रक्षाकर उसके प्रति मैत्री और वात्सल्य दर्शानेवाले आचार्य श्री ने क्षमा करते हुए श्रावक को धन्यवाद भी दिया। हमें गौरव हैं इस बात का शासन में आप जैसे श्रावक जाग्रत हैं।

शंका कुशंका करनेवाले श्रावक तो वर्तमान काल में बहुत हैं। परंतु उनके चारित्र्य के प्रति प्रेम करके पालन करने में सहयोग देनेवाले श्रावक कितने हैं? साधु-साध्वियों ने ऐसा करना चाहिए वैसा नहीं करना चाहिए आदि पंचायती तो बहुत लोग करते हैं परंतु नियम पालन में प्रेम से सहयोग देकर सेवा करनेवाले लोग कितने हैं। हेमचंद्राचार्य और प्रस्तुत श्रावक इसी पंचम आरे के थे। परंतु उन्होंने सत्त्वप्रगट कर पराक्रम से शासन की रक्षा और धर्म की सुरक्षा करते थे। इसी कारण आचार्य को तीर्थंकर की उपमा दी जाती हैं। जब तीर्थंकर नही होते हैं तब आचार्य तीर्थंकर स्वरुप माने जाते हैं अन्य जीवों की रक्षा के लिए वैसी जीवदया का पालन करोगे तो परमात्मा को भी हमारी दया आएगी।

कोई साधु तो धर्म रक्षा के लिए प्राण कुरबान कर सकता हैं । आप भी सोचते होंगे यह तो धर्म हैं आपका परंतु जिनशासन में अन्य जीवों की रक्षा के लिए स्वयं की उपेक्षा करनेवाले श्रावक भी जिनशासन में हो गए हैं। सामायिक में स्थित कुमारपाल महाराज के पाँव में एकबार मकोडा चिपक गया। अनेक प्रयत्न करनेपर भी जब वह

नहीं निकला सोचने लगे क्या करु? गुरुदेव ने कहा हैं, प्राणी जीवों की रक्षा करना पहला धर्म हैं। सामायिक संपन्न होने तक शांति और समाधिभाव में स्थिर रहे। समय पूरा होते ही सामायिक संपन्नकर चाकू लेकर चमडी समेत पाँव का उतना हिस्सा काटकर अलग किया। मकोडे के प्राणों को तनिक मात्र भी कष्ट नहीं होने दिया।

हमारे मन में एक प्रश्न हो सकता हैं कि जीवत्त्व हमारी स्वायत्त सत्ता हैं। तो प्रभु क्या हमें दान देंगे? जीवदयाणं पद की सार्थकता क्या हैं? इसका समाधान करना जरुरी हैं। जीव के साथ जीव, जीवत्त्व, शिवत्त्व और भव्यत्त्व ऐसे चार अवस्थाए जुडी हुई हैं। जीव की अपनी स्वायत्त सत्ता तो हैं परंतु स्वयं के जीवत्त्व के प्रति जाग्रत रहना स्वयं के अस्तित्त्व का बोध होना बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। केवलमात्र पर्याय को ही स्वयं ही समझने की गलती जीव अनादिकाल से करता आ रहा हैं। परमातत्त्व जीवत्त्व में अस्तित्त्व का अहसास प्रगट करते हैं। भव्यत्त्व का बोध प्रगट करते हैं। शिवत्त्व का सत्त्व प्रगट करते हैं और सिद्धत्त्व का संयोग प्रगट करते हैं। भेद विज्ञान की संपूर्ण प्रक्रिया देनेवाले वे जीवदयाणं पद के सूत्रधार माने जाते हैं।

छोटी छोटी बातों की याचना करनेवाले हम जीवदयाणं को कैसे पहचान सकते हैं। अनंत गणधर भगवंत कहते हैं माँगना हैं तो जिनेश्वर से ही माँगना । स्वयं का जीवत्त्व ही माँगना अनंत संसार में सबकुछ पाकर हम स्वयं को ही खो चुके हैं। पैसे के लिए परदेश गए। पुत्र के लिए पत्थर जितने देव पूजे। सबकुछ पाया स्वयं को खोकर। जब स्वयं के खो जाने का बोध होता हैं तब इतना विलंब हुआ होता हैं कि शिकायत का समय नहीं रहता हैं। किस से शिकायत करे किस से बिनती करें? कि मैं खो चुका हूँ। मुझे खोज दो। अनंत संसार से मुझे बाहर निकालो।

आज हम स्वयं को ही दान में लेने के लिए निकले हैं। जीवदयाणं के दो प्रकार हैं - अरिहंत की ओर से मिलनेवाला और सिद्ध की ओर से मिलनेवाला। अरिहंत परमात्मा जब दीक्षा लेते हैं तब करेमि भंते सूत्र का उच्चारण करते हैं उस समय जगत् के सभी जीवों को जीवन का दान मिलता हैं परमात्मा जब समवसरण में देशना देते हैं तब जीवों में जीवत्त्व प्रगट कर सिद्धत्त्व प्रगट करते हैं। एक जीव जब सिद्ध होता हैं तब अव्यवहार राशी का एक जीव व्यवहार राशी में आता हैं। यहीं से प्रारंभ होता हैं जीव के जीवन का विकास क्रम। जीवदान के माध्यम से प्रभु स्वरुपदान देते हैं। इस धर्म का स्वीकार करने के लिए एक शर्त हैं जीवनदान पाना हैं तो जीवनदान देना होगा। संसार का नियम हैं जो चीज देते हैं वहीं हमे मिलती हैं। जीवदया से प्रारंभ होनेवाली यह यात्रा शिवदयाणं स्वरुप सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु में संपन्न होती हैं।

व्यवहार राशी में लाते हैं सिद्ध और व्यवहार राशी की विकास यात्रा सम्हालते हैं अरिहंत। यह बात निश्चित हो गई की सिद्ध भगवान देते हैं जीवत्त्व और अरिहंत परमात्मा देते हैं शिवत्त्व। अरिहंत परमात्मा हमें तीन बार महादान करते हैं।

१. तीर्थंकर नाम कर्म का निकाचन करते समय सर्व जीवों के सिद्धत्त्व की मंगलकामना करते हुए हमारे जीवत्त्व में सिद्धत्त्व के दर्शन करते हैं। सविजीवकरुशासन रसिक कर भव्य भावना से वे हमारे शिवत्त्व की यात्रा का उद्घाटन करते हैं।

२. दीक्षा लेते समय करेमि भंते सूत्र का उच्चारण कर हमारे भीतर रहे हुए भव, भय और भ्रम में भटके हुए जीवों को मोक्ष की मंगलयात्रा में जोड लेते हैं। यह उनकी तरफ से मिलनेवाला दूसरा अनुदान हैं।

३. समवशरण में **णमो तित्थस्स** कहकर हमारा तीर्थ में प्रवेश कराते हैं। तीर्थ में देते हैं तत्त्व। तत्त्व में प्रगट करते हैं सत्त्व और सत्त्व से प्रगट होता हैं सिद्धत्त्व।

आज हम जीवदयाणं पद के द्वारा परमात्मा को नमस्कार प्रस्तुत कर सिद्धत्त्व का वरदान पाने के लिए बिनती करें कि हमें निजत्त्व का ज्ञान दे। स्व का भान दे और बोधि का वरदान दे। बोधि को देते हुए बोहिदयाणं को पाने के लिए जीवदयाणं में लयबद्ध होते हैं।

नमोत्थुणं जीवदयाणं
नमोत्थुणं जीवदयाणं
नमोत्थुणं जीवदयाणं

नमोत्थुणं बोहिदयाणं

परमात्मा जो हमें देते हैं वह सत् हैं। परमात्मा का सत् जो हममें प्रगट होता हैं वह सिद्धांत हैं।
सिद्धांत का हम स्वीकार करते हैं वह बोध हैं। बोध हममें प्रगट होता हैं वह बोधि हैं।
बोध अनेक बार मिल सकता हैं क्योंकि बोध में शोध जारी हैं।
बोधि एक ही बार मिलती हैं क्योंकि बोधि देती हैं सिद्धि।

मग्गदयाणं में मार्ग के शोध का प्रयास होता हैं।
सरणदयाणं में स्वयं की शोध संपन्न होती हैं।
जीवदयाणं में स्वयं के बोध की शुरुआत होती हैं।
बोहिदयाणं में बोध बोधि में परिणमित हो जाता हैं।

बोधि अर्थात् धर्म की प्राप्ति। जीवदयाणं अस्तित्त्व में लाता हैं। अस्तित्त्व तो होता है परंतु अस्तित्त्व को नहीं पहचानने के कारण हम स्वयं के प्रति अनजान और अबोध रहते हैं। जीवदयाणं में अस्तित्त्व की पहचान होती हैं। बोहिदयाणं में अस्तित्त्व की अनुभूति होती हैं। जीवदयाणं अस्तित्त्व की थीयरी हैं तो बोहिदयाणं अस्तित्त्व का प्रॅक्टीकल हैं। अस्तित्त्व का प्रॅक्टीकल अर्थात् साक्षीभाव में आना। शरणदयाणं में हम परमात्मा के सामने प्रगट होते हैं। बोहिदयाणं में हमारा स्वयं हम स्वयं में प्रगट होता हैं। बोधि अर्थात् स्वयं की उपलब्धि। स्वयं को पा लेना, स्वयं में स्वयं का प्रगट हो जाना। शरणदयाणं में स्वयं को परमात्मा के चरणों में समर्पित कर देते हैं। बोहिदयाणं में स्वयं स्वयं में समर्पित हो जाता हैं। इसी बोधि का दान परमात्मा हममें करते हैं।

उत्तरवाचाल के विशाल देवालय मंडप में अकेला चंडकौशिक रहता था। उस अकेले साप में ही बोधि प्रगट करने के लिए परमात्मा महावीर वहाँ पहुंचते हैं। बोध दिया - **संबुज्झह संबुज्झह किं न बुज्झह।** पहले एकबार संबुज्झह कहकर परमात्मा रुक गए। जब परिणाम प्रगट नहीं हुआ तो दूसरीबार कहा संबुज्झह। इसबार भी परिणाम प्रगट नहीं होनेपर परमात्मा प्रश्न करते हैं क्यों नहीं जाग्रत हो रहा? बेचारा चंडकौशिक संबुज्झह का अर्थ क्या जाने? परमात्माने झकजोर कहा - **संबोहि खलु पेच्च दुल्लहा।** संबोधि बारबार पाना दुर्लभ हैं। तिर्यंच के रुप में रहा हुआ चंडकौशिक देवगति को प्राप्त हो गया। परमात्मा ने कहा वत्स ! एकबार संबोधि लेले वह बार बार पाना दुर्लभ हैं। संबोधि लेले सिद्धि सुलभ हैं। संबोधि देकर प्रभु वहाँ से लौट गए। सिद्धितक खडे न रहे। संबोधि स्वीकार लेनेपर सिद्धि का इंतजार नहीं करना पडता। सिद्धि सहज सुलभ हो जाती हैं।

राजश्री का त्याग कर संयम अंगीकार कर पुनश्च संसार जीवन में लौट जाने की भावना वाले मेघमुनि में कौनसे शुभ परिणाम प्रगट हो गए कि वे संयम में स्थिर होकर सिद्धि मार्ग के यात्रि बन गए। ये शुभ परिणाम संबोधि हैं। परमात्मा की कृपा से अबोधि संबोधि में परिणमित हो जाती हैं। वरना कमठ के लकडियों में निकले साप में ऐसे कौनसे शुभ परिणाम प्रगट हो गए कि उसने अत्यंत वैभव संपन्न धरणेन्द्र देव का अवतार पाया।

संबोधि यहाँ परमात्मा का सबसे बडा दान हैं। संसार में आदान प्रदान साथ होते हैं। यह व्यवहार समान रहने के कारण उपर नीचे नहीं होता हैं बराबर ही रहता हैं। परमात्मा की संबोधि केवल एक तरफ का दान हैं। संबोधि के बदले में हम दे भी क्या सकते हैं। हमारे पास देने को हैं भी क्या? हम तो संसार से थके हुए आते हैं। थकान के कारण कहो या और कुछ परंतु यह बात निश्चित हैं कि कुछ स्थिति से हो गुजरने के बाद जीव का समर्पण उच्च कोटी का हो जाता हैं। तब हम स्वयं को ही दे देते हैं। एकबार परमात्मा के चरणों में मस्तक धर देने के बाद उसे उठाने की हमें हिम्मत ही नहीं होती हैं।

ज्ञानी पुरुषों ने संसारी जीव की थकान के तीन कारण बताए हैं - संबोधि के योग्य बन जाने के बाद जीव परिभ्रमण से थकता हैं, अबोधि में संसार के काम कर कर के थकता हैं और तीसरा नाटक कर करके थकता हैं। अनादिकाल से जीव संसार में कुछ काम कर ही रहा था। काम ही करता था कायोत्सर्ग तो करता नहीं था। तप जप कुछ करता हैं तो उसके हिसाब रखता हैं। कितना खाया उसका किसी के पास कुछ हिसाब नहीं हैं। इतने उपवास आयंबिल करे उसका बडा लीस्ट हैं। काम से थके तो बेडरुम में जाकर आराम किया। जिस आराम के बाद पुन: काम शुरु होता हैं। संसार से थकते हैं तो भगवान की गोदी में मस्तक धर देते हैं। यह एक ऐसी जगह हैं जहाँ जनम जनम का थाक उतरता हैं।

मस्तक गोदी में रखते ही प्रभु पहला प्रश्न यही पूछते हैं - **गोदि में मस्तक रखनेवाल तू कौंन हैं ?** परमात्मा हममें हमारी पहचान प्रगट करते हैं। यह प्रश्न ही संबोधि की शरुआत हैं। इस परमदान के गुण के कारण ही गणधर भगवंत नमोत्थुणं में परमात्मा की बोहिदयाणं पद से स्तुति करते हैं। परमात्मा से हमें दो चीजें मिलती है - बोध और बोधि। परमात्मा जो देते हैं वह बोध हैं। हम जो लेते हैं वह बोधि है। बोधि जब हममें प्रगट होती हैं तो वह समाधि हैं।

यह बोधि तीन स्वरुप मे प्रगट होती हैं - १. बोधिदान २. बोधिलाभ ३. बोधिबीज ।

बोधिदान अर्थात् जिनप्रणीत धर्म का दान।
बोधिलाभ अर्थात् जिणप्रणीत धर्म की प्राप्ति।
बोधिबीज अर्थात् जिणप्रणीत संस्कारों की परंपरा।

दान में दिया जाता हैं तब बोधि तत्त्व स्वरुप होती हैं। जब वह प्राप्त हो जाती हैं तब उसे बोधिलाभ कहा हैं। लाभ को शास्त्र में तीन विभागों में बाटा हैं - लद्धा, पत्ता और अभिसमण्णागया। मिलना, प्राप्त करना और सन्मुख होना। यहाँ मिलना जो हैं लब्धि स्वरुप कहा गया हैं। गौतमस्वामी में भगवान महावीर ने बोधि प्रगट कर दी। वह बोधि लब्धि के रुप में परिणमित हो गयी। प्राप्त होकर परिणमित हुई और सन्मुख प्रगट हो गयी। पंद्रह सौ तापसों को अंगुठे मात्र से खीर खिलानेवाली घटना में प्रभाव का प्रदर्शन नहीं था। लब्धि मिली अर्थात् लब्ध हुई। प्रयोग से प्राप्त हुई और तापसों को पर्याप्त मात्रा में खिलाकर अभिसमण्णागया अर्थात् परिणाम रुप प्रयुक्त होकर सन्मुख प्रगट हो गयी।

बोधिबीज में प्रभु से प्राप्त बोधि बीज के रुप में वपन की जाती हैं। ऐसा इसलिए किया जाता हैं कि भवांतर

में भी यह साथ रहे। इसीलिए उवसग्गहरं स्तोत्र में कहा हैं **तुहस्समत्ते लद्धे** अर्थात् बोधि के रुप में आपको मैं सम्यक रुप से लब्ध कर सका हूँ, प्राप्त कर सका हूँ। अब मैं बिना विघ्न मुक्ति पा सकता हूँ। ऐसी विश्वास और भक्ति से भरा हुआ हृदय आपके चरणों मे अर्पित हुआ हो तो हे प्रभु! **दिज्जबोहिं भवे भवे पास जिणचंदं।** मुझे भवों भव तक बोधि दे दो। किं कर्पुर स्तोत्र में कहा हैं **बोधिबीजं ददातु** यहापर बोधिबीज को **शिवपदतरुबीज** कहा हैं अर्थात् बोधि मोक्ष का बीज है। जिसतरह बीज धीरे धीरे वृक्ष के रुप में फलित होती हैं उसीतरह बोधि का बीज सिद्धि का बीज बन जाता हैं।

लोगस्स में बोधि को लाभ के रुप मे स्वीकारा हैं। इसलिए कहा हैं **बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमंदिंतु** बोधि लाभरुप उत्तम समाधि मुझे प्राप्त हो। यहाँ बोधि समाधि की पूर्वप्राप्ति हैं। बोधि का लाभ समाधि हैं। बोधि मिल जाती हैं तो समाधि अवश्य मिलती हैं। बोधि एक सम्यक परिणाम होने से इसे समकित भी कह सकते हैं। बोध और बोधि में क्या फरक हैं जानते हो? बोध प्रत्यक्ष दिया जाता हैं। बोधि संदेश के रुप में प्रगट होती हैं। अर्थात् परोक्ष में भी प्रगट हो सकती हैं। बोध को उपदेश और बोधि को संदेश कहा जाता हैं। बोध उपदेश होने से अनेकों के बीच में दिया जाता है। बोधि योग्यता के अनुसार उचित समयपर योग्य व्यक्ति को भेजा जा सकता हैं। बोधि को स्पष्टरुप में समझना हो तो सुलसा को स्मृति में लाना होगा। संदेश को आप लोग एस.एम.एस. कहते हैं। मुझे यह शब्द बहुत अच्छा लगता हैं इसके साथ मेरे महावीर का सेटींग हैं। एस. अर्थात् सुलसा। एम. अर्थात् महावीर। एस. अर्थात् संदेस। एस.एम.एस. अर्थात् सुलसा को महावीर का संदेश। दूसरी तरह से देखे तो एस. अर्थात् शास्त्र एम. अर्थात् मैं/मुझे एस. अर्थात् संदेश। सत् पुरुष का मेरे प्रति संदेश अर्थात् शास्त्र।

परमात्मा की चंपानगरी की देशना में अंबड नाम का सन्यासी गया था। उपदेश सुनकर जाते समय भगवान से कहा मैं राजगृह जा रहा हूँ। आप भी राजगृह पधारने की कृपा करना। प्रसंगवश भगवान ने कहा, अंबड! राजगृह में सुलसा नाम की श्राविका हैं। वह अध्यात्म योगिनी हैं। उसके आत्मीय संवेदनों में सहजबोधि, सुलभबोधि और सम्यकबोधि के रुप में राजगृह में हमारी उपस्थिति का अनुभव हो सकता हैं। उसे हमारा बोधिस्मरण कहना।

अंबड! वैक्रियलब्धि संपन्न सन्यासी था। भगवान के मुंह से किसी स्त्री की सराहना सुनकर उसके पुरुषत्त्व के अहं को ठेस पहुंचती हैं। बदला कहो या परीक्षा लेनी की भावना से राजगृह आकर अपने लब्धियोग से लोगों को प्रभावित करने के लिए वह पूर्व दिशा के द्वारपर ब्रह्मा का रुप बनाकर उपस्थित हो गया। राजगृह की जनता उमड पडी। शायद ही नगरी में कोई ऐसा होगा जो न आया हो परंतु न दिख रही थी केवल सुलसा। अंबड भी कहाँ रुकनेवाला था दूसरे दिन उसने दक्षिण दिशा में विष्णु का रुप धारण किया। फिर भी सुलसा न आयी। तीसरे दिन उसने पश्चिम दिशा में महेश का रुप धारण किया। तब भी सुलसा नहीं आयी। अंतिमदिन उसने उत्तर दिशा में भगवान महावीर का रुप धारण कर समवसरण की रचना की। तब भी सुलसा को न देखकर उसे अत्यंत आश्चर्य हुआ।

अब उसने सुलसा के प्रत्यक्ष मुलाकात लेने का निर्णय किया और पांचवें दिन वह पहुँचा सुलसा के आँगन में । भिक्षा देहि माम् कहकर द्वारपर खडा हो गया। आँगन में भिक्षुक को देखकर सुलसा घर से पदार्थभिक्षा देने के लिए आँगन में आती हैं। सुंदरदर्शिणी सुलसा को देखा जिसकी आँखों में वात्सल्य से भरी हुई भक्ति छलकती थी। उसकी वाणी में वैराग्य झलकता था। भगवान के नियमों को धारण की हुई साक्षात देवी की तरह प्रगट हुई सुलसा को देखकर अंबड अचरज में डूब गया। उसने मृदुवाणी में सुलसा से पूछा, कल राजगृह में लगे समवसरण में महावीर के दर्शन करने आप क्यों नहीं आई? सुलसा ने कहा, यदि महावीर राजगृह में आए तो मुझे पता न लगे? मेरे महावीर तो निशदिन मेरे साथ हैं। राजगृह के जनसमुदाय को उद्बोधित करने आवे तो मुझे अवश्य पूर्वबोध हो जाता। **आनंदाश्रु स्नपितवदनं गदगदं चाभिकंठम्** अर्थात् हे अबंड ! महावीर प्रत्यक्ष पधारे तो मुझे पूर्वसूचनारुप देह रोमांचित होता, मुखपर पसीना आता और मेरा कंठ गदगद हो जाता। महावीर की आने की सूचना से मेरे अंग प्रत्यंग खिल जाते हैं। रोमराय खुल जाती हैं। प्रत्येक आत्मप्रदेश आनंदमय हो जाते हैं। सुलसा की बात सुनकर अंबड मन ही मन झेंपा। अपने मूलरुप में प्रगट होकर उसने भगवान का तथाकथित **धर्मलाभ, बोधिलाभ, समाधिलाभ, सिद्धिलाभ** का संदेश दिया। भगवान का बोधिलाभ पाकर रोमांचित सुलसा की आँखे स्नेहाश्रु से भर आयी।

परमात्मा के बोधिलाभ से लाभान्वित सुलसा आगामि चोबीसी में निर्मम नाम के पंद्रहवें तीर्थंकर होगी। बोधिलाभ वीतराग से प्राप्त होकर वीतराग बना देनेतक साथ देता है। उसने परमात्मा के कथन को त्रैकालिक , त्रिदर्शी और त्रिविधरुप से दर्शाया। उसने कहा, **धर्मप्रिय ! परमात्मा भक्तों को उपदेश देते हैं, शिष्यों को आदेश देते हैं और अंतेवासी को संदेश देते हैं।** इसे समझकर इसका स्वीकार करना होता हैं। स्वीकारने पर **उपदेश की उपासना करनी होती हैं, आदेश का आचरण करना होता हैं और संदेश को स्वयं में समा लेना होता हैं। बोध परमात्मा में से सहज प्रगट होता हैं और दान के रुप में सहज परिणत होता है।** प्रेम से दिया जाता है उसे भेंट, प्रसाद और प्रभावना कहा जाता हैं। आवश्यकता से दिया जाता हैं उसे दान कहा जाता हैं। बेटे का जन्मदिन या विवाह हो तब स्वजनों को दिया गया भोजन दान नहीं पार्टी हैं परंतु भूखे को दिया गया भोजन दान कहलाता है। शास्त्रों में नवप्रकार के दान का कथन मिलता हैं परंतु बोधिदान तो सिर्फ परमात्मा ही करते हैं। बोध के भी तीन प्रकार हैं - शब्दबोध, संस्कारबोध और वासितबोध। बोधिदान, बोधिलाभ और बोधिबीज ऐसे तीन बोधि के परिणाम हम देख चुके हैं। जो हमें मिलता हैं वह बोधिलाभ हैं। जो हममें समा जाता हैं वह बोधिबीज हैं। हमारी चेतना के खेत में बोधि के बीजों का वपन होता हैं। सद्गुरुरुप किसान बोधि के बीजों का वपन करते हैं। बोध से सिंचाई करते हैं। सत्संग और स्वाध्याय से संस्कारित करते हैं। संस्कारित होनेपर वह हममें वासित हो जाता हैं अर्थात् हममें बस जाता हैं। जो वासित होता हैं वहीं फलित होता हैं। आनंदघन महाप्रभु कहते हैं - **वासितबोध आधार रे।** वासितबोध का आधार हृदय हैं। वासित होनेपर, संस्कारित होनेपर, फलित होनेपर वह प्रगट हो जाता हैं।

शब्दबोध अर्थात् परमात्मा कहते हैं वह बोधि हैं। जब हम सुनते हैं तब वह समाधि हो जाता हैं। समाधि में हमें भगवान के सर्वज्ञ सर्वदर्शीत्त्व की अनुभूति होती हैं। हमारा ज्ञान आवरण में होता हैं परंतु परमात्मा का सर्वज्ञत्त्व हममें बोधान्वित होने लगता हैं। ऐसी अनुभूति होती हैं कि जैसे श्रीमंत का बेटा संपत्ति का प्रमाण या परिमाण से अनभिज्ञ होते हुए भी स्वयं को अधिकारी मानने लगता हैं। समाधि प्रगट होते ही परमात्मा का शब्दबोध प्रगट होता है। आचारांग में कहा हैं, **वत्स !** संसार में परिभ्रमण कर थकनेवाला ही तू नहीं है तू स्वयं सिद्ध है। **जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओवा अणु संचरई सोऽहं।** जैसा मैं हूँ वैसा तू है। मैं और तू समान हैं। अपने भीतर जब मैं तुझे झाँकता हूँ। तब तुझमें सिद्धत्त्व की अनुभूति करता हूँ। इस बोधि का स्वीकार कर और समाधि में प्रवेश कर। किसने कहा तू **बुध्याविनापि** हैं? नालायक हैं ? मैं तो कहता हूँ **तू मैं ही बनने के लायक है।** मैं तो तुझमें सिद्धत्त्व की लायकात देखता हूँ। परमात्मा का यह वाणीदान कि **जैसा मैं हूँ वैसा तू हैं** को हम माथेपर चढाते है क्योंकि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा कह भी कैसे सकता हैं।

अपने बोध में हमें स्वयं को प्रगट करते हुए प्रभु कहते हैं... स्व से स्व में स्व को देखो। साक्षी में आ जाओ। दृष्टा बन जाओ। दृश्य में खो नहीं जाना है। दृष्टा बनकर उन्हें देखना है। भावों से घटना के साथ जुडो मत। घटनातीत बनकर हर कदमपर साक्षी बनकर घटना को देखते रहो। साँस लो पर हर साँस का अहसास करो। खाओ पर साक्षी बनकर देह को खिलाओ, पिलाओ। साक्षी बन जानेसे पदार्थ के प्रत्येक कण प्रसाद बन जाऐंगे। प्रति प्रवृत्ति प्रभु का आर्शिवाद बन जाएगी। जीवन की सफर तो करनी हैं पर कोई क्षण निरर्थक नहीं होने देनी है। सार्थक तो तभी होगा जब तुम स्वयं स्वयं के साक्षी रहोगे। देह से चाहे जग रहे हो या सो रहे हो स्वप्न देख रहे हो या सोच रहे हो। खडे हो या चल रहे हो पर हर क्षण वहाँ स्वयं उपस्थित रहो। तुम्हारी उपस्थिती अनिवार्य है। इस बोधि का स्वीकार करो। इस स्वीकार में स्वयं का साक्षात्कार है। इस साकार में तुम स्वयं निराकार उपस्थित हो, अवस्थित हो। बोधि लेलो, बोधि शोधि करेगी। शोधि शुद्धि करेगी। शुद्धि से सिद्धि मिलेगी। सिद्धि तुम्हारे स्वयं की अवस्था है। मोक्ष उसकी व्यवस्था है। ऐसा केवल परमात्मा ही कह सकते हैं ऐसा समझकर, ऐसा सुनकर, ऐसा मानकर, ऐसा सोचकर, ऐसा स्वीकारकर नमो बोहिदयाणं की स्वरांजलि से परमात्मा को नमस्कार करते हैं। गणधर भगवान का आभार मानते हुए उन्हें धर्मदान की विनंती करते हैं।

/// नमोत्थुणं बोहिदयाणं ///
/// नमोत्थुणं बोहिदयाणं ///
/// नमोत्थुणं बोहिदयाणं ///

नमोत्थुणं - धम्मदयाणं

धर्म अर्थात् अरिहंत परमात्मा का सर्वजीव हितविषयक सर्वोच्चभाव।
धर्म अर्थात् सिद्ध परमात्मा का स्वाभाविक अनुग्रह।
धर्म अर्थात् आचार्यों का शुद्ध आचरण का विशुद्ध धर्मसंदेश।
धर्म अर्थात् उपाध्याय की उपासना की सर्वोच्च धर्मकला।
धर्म अर्थात् साधु भगवंतों की अप्रमत्तता का आराधना मार्ग।
धर्म अर्थात् स्व का स्व के साथ जुड जाना।
धर्म अर्थात् महाकरुणा।
धर्म अर्थात् भावदया।
धर्म अर्थात् आत्म स्वभाव।

धम्मदयाणं अर्थात् धर्म देनेवाले। धर्म का दान करनेवाले। दान स्वयं एक धर्म हैं फिर धर्म का दान कैसे? ऐसा स्वाभाविक प्रश्न हमें हो सकता हैं। दान के अनेक प्रकार हैं - अन्नदान, जलदान, आश्रयदान, ज्ञानदान आदि अनेक प्रकार हैं। परंतु इन दानों में धर्म नाम का कोई दान नहीं होता हैं। यद्यपि दान को ही महानधर्म माना जाता हैं। धर्म के चार प्रकारों में दान प्रथम धर्म हैं। सभी धर्म और पूर्व परंपरा में दान को श्रेष्ठ माना हैं। ये सर्वदान तात्कालिक पर्यंत समाधान देते हैं। जैसे अन्नदान क्षुधा अर्थात् भूख का शमन करता हैं। जलदान कुछ समय के लिए प्यास बूझा सकता हैं। इसतरह सभी दान तात्कालिक दु:खशमन करने में सफल रहता है। तीर्थंकर भगवान जो धर्मदान करते है वह केवल सामयिक नहीं परंतु सांबंधिक फल देता है।

दान की प्रस्तुत रुपरेखा के अनुसार धर्म कोई पदार्थ नहीं है कि अन्यदान की तरह दिया जा सके। इसलिए दान के विषय में धर्मदान नहीं होता है पर नमस्कारदान होता है। नमस्कारदान अन्यदान से अलग हैं। अन्नदान आदि आवश्यकता होनेपर मांगा जाता हैं। नमस्कार देनेवाला अपनी आवश्यकता के लिए दिया जाता है। अन्नादि लेनेवाला स्वयं की आवश्यकता हेतु माँगता हैं। नमस्कार कभी किसी का आवश्यक हेतु नहीं बन सकता हैं। नमस्कार अहोभाव हैं जो प्रेम से दिया जाता हैं समर्पित किया जाता हैं। जैसे पिता अपनी पुत्रि को प्रेम से देता है उसे कन्यादान कहा जाता हैं। उसीतरह परमात्मा धर्म दान करते हैं। धर्मदान की घोषणा नहीं होती हैं। धर्म जब ध्वनि के साथ घोषित होता हैं तब वह दान मेंसे देशना बन जाता है। धर्मदान के समय तो धर्ममौन हैं। देशना में वाचा प्रगट होती हैं। धर्म जब हमारी आवश्यकता बनता हैं तब वह दान के रुप में प्रगट हो जाता हैं। देनेवाला और लेनेवाला दो ही इसे जानते हैं। सही मार्ग में हमें आवश्यकता महसूस हो तो परमात्मा से हमें धर्म अवश्य प्राप्त होता हैं। यह प्रक्रिया, प्रवृत्ति या विधि विधानवाला धर्म नहीं परंतु हमारी स्वयं की साहजिकता को प्रगट करनेवाला स्वभाव है।

धर्म के दो प्रकार हैं - स्वभाव और स्वरुप। स्वभाव प्रकृतिधर्म हैं तो स्वरुप ब्रह्मधर्म हैं। जब तक आप स्वभाव को नहीं समझेंगे तब तक आप स्वरुप को नहीं समझ पाऐंगे। ज़ैसे ही आप भीतर जाऐंगे तो पहले मिलेगा

आपको स्वभाव, निसर्ग। ओर भीतर जाओगे तो मिलेगा स्वरुप। निसर्ग के पार जो ब्रह्म हैं वह स्वरुप हैं। लेकिन यदि आप स्वभाव से ही डर जाओगे तो भीतर ना जा पाओगे। फिर आप बाहर बाहर घुमेंगे अथवा स्वभाव से विपरीत अपने चारों तरफ एक दिवाल बना लेंगें। उस दिवाल का नाम हैं व्यक्तित्त्व, पर्सनालिटी।

धर्म को प्राप्त करना द्रव्यलाभ है और धम्मदयाणं को प्राप्त करना भावलाभ है। धर्म अनेक भवों से मिलता रहता हैं परंतु धम्मदयाणं जिस भव में मिलते हैं उस भव में धर्म फलता हैं। प्रभु के धर्मदान के परिणाम का सब जीवोंपर होनेवाले प्रभाव से शासन की प्रर्वतना होती हैं। समस्त भूमंडल में प्रभु की समग्रता धर्मजय के रुप में प्रवर्तित होती है। जगत् के सभी जीवों के प्रति धर्मदान कर परमात्मा कृतकृत्य होते हैं। परमात्मा के धर्म का मुख्य हेतु है शाश्वत को शाश्वत मानना और अशाश्वत को अशाश्वत मानना। धर्मकथन कितना छोटा हैं। आसान भी है। इसे नहीं समझना अधर्म है। इसीलिए धर्म को जानने का कहा गया है। धर्म क्रिया नहीं समझ है जिसे जानना चाहिए। पुच्छिस्सुणं में कहा हैं, **'जाणाहि धम्मं च धीइं च पेहा'** यहाँ दो तत्त्व कहे हैं धर्म और धैर्य। यहाँ दो क्रिया भी कही हैं जानना और प्रेक्षा करना याने देखना। देखते रहना। कैसे जाना जाएगा धर्म? धर्म को एकांत हित का हेतु माना गया है। पुच्छिस्सुणं में ही इसे इस रुप में व्याख्यित किया है। श्रमण ब्राह्मणों ने परमात्मा को एकांतहित रुप धर्म का कथन करनेवाले के रुप में जाने थे। यही उन्होंने पूछा था कि एकांतहित का कथन करनेवाले प्रभु कहाँ गए? किसने पूछा यह महत्त्वपूर्ण नही है परंतु क्या पूछा यह महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि भारत की संस्कृति पूछने की हैं। पूछने के साथ साथ पूजना भी भारत की संस्कृति में महत्त्वपूर्ण माना गया है। जैन संस्कृति पूछने, पूजने के साथ पुंजने को भी महत्त्वपूर्ण मानता है। यहाँ **से केइ णे** प्रश्न में इन तीनों संस्कृतियों का समायोजन निहित है। तीनों का समायोजन जिस धर्म में हो वह एकांत हित धर्म होता है। एकांत हित का धर्म कथन करनेवाले **से** अर्थात् वे महावीर कहाँ गए? ऐसा प्रश्न यहाँ पूछा गया है।

इसमें धर्म के चार प्रकार निहित है - हितधर्म, मितधर्म, प्रीतधर्म और रीतधर्म। जहाँ हित होता हैं वहा मित, प्रीत और रीत अवश्य होते है। बिना प्रीत के हित कैसे हो सकता है? परमात्मा जगत् के सभी जीवों के साथ वात्सल्यभाव रखते है। सर्वजीवकरु शासनरसीक की रीत के द्वारा सर्व के हित की सुरक्षा परमात्मा के धर्म का मुख्य हेतु रहा। धर्म समझाते हुए परमात्मा कहते हैं जड को जड और चेतन को चेतन मानो। शाश्वत को शाश्वत और अशाश्वत को अशाश्वत मानो। जो पदार्थ बाहर हैं उसे खुद के बनाने की बालिशता जीव अनादिकाल से कर रहा है। ज्ञानी पुरुष इसे समझाने के लिए एक उदाहरण देते है- एकबार कोई पागलखाने की मुलाकात लेने गया था। वहाँ उन्होंने एक प्रश्न किया कि यहाँ से छुट्टी देने के पूर्व इनका परीक्षण कैसे किया जाता है? उन्होंने कहा हमनें नीचे एक पानी का हौज रखा है। परीक्षण के लिए इन्हें हम हौज में छोडते हैं और एक बरतन देकर हौज में से पानी बाहर फेंकने का कहते हैं। दरअसल इस प्रक्रिया में परीक्षण के पूर्व ही कोने में पानी आने का नल खुला छोडा होता है। पानी बाहर फेंका जाता है उतना ही अंदर आता रहता है। पागलपण से मुक्त हुआ सदस्य हौज में पहले पानी आना बंद करके निकालना शुरु करता है परंतु जो पागल होता है वह यह प्रक्रिया करता हैं। पानी आता रहता हैं वह

निकालता रहता है। एकांत हितधर्म अर्थात् अधर्म का आगमन बंद करके उससे संबंधित निषेधात्मकता को बाहर निकालना हैं। एकांत हितधर्म को निर्जराधर्म भी कहा है।

विधर्म या अधर्म का त्याग करने के लिए सत्त्व संपन्न बनना पडता हैं। सत्त्वसंपन्न बनने के लिए स्व को समझना और पर के ममत्त्व का त्याग अनिवार्य हैं। धर्म को जानना अर्थात् स्वयं को जानना है। पर पदार्थों के प्रति पदार्थ के धर्म को जानना चाहिए। एकबार एक युवक ने किसी मॉल में एक आकर्षक पेन को देखा। उसकी किंमत जानी और उसकी अवधि पूछी। दुकानदार ने कहा लाइफ टाईम चलेगी। पढीए पेन के उपर भी लिखा हैं लाईफटाईम। युवक ने पेन खरिद लिया। तीन दिन के बाद वापस दुकानदार के पास आया उससे कहा पेन की नीब टूट गयी हैं आपने कहाँ था पेन जीवनभर चलेगी। यह तो दो दिन में ही टूट चुकी। दुकानदार ने कहा साहब ! पेन जीवनभर चलेगी ऐसा कहा था यह बात सही हैं लेकिन वह आपकी जिंदगी तक चले ऐसा नहीं कहा था परंतु पेन की अपनी जिंदगी थी ही दो दिन की और वह उसने पूरी भी करली। जड पदार्थों के गॅरंटी वॉरंटी पीर्यड होते हैं। शाश्वत पदार्थों की कभी डेट एक्सपायर नहीं होती हैं। इसीलिए परमतत्त्व ने हमें सर्वज्ञता प्राप्त होते ही पहली सभा में **धम्ममाईक्खमाणे** धर्म का आख्यान किया। धर्म कभी एक्सपायर नहीं होगा। तू एक्सपायर हो भी जाएगा तो देह की मृत्यु होगी। तू शाश्वत हैं धर्म शाश्वत है। तू स्वयं धर्म स्वरुप हैं मोक्ष स्वरुप हैं।

धर्म दो स्वरुप से जाना जाता हैं चर्चा और चर्या। चर्चा का धर्म विकास या वास्तविकता की ओर नहीं ले जाता हैं। चर्या अर्थात् आचरण धर्म आचरण में होना चाहिए। धर्म को जानना हैं और धेर्य पूर्वक स्वयं को देखना हैं। जानना और देखना यह चर्या हैं। धर्म अर्थात् स्वयं की शोध। प्रत्येक चर्या स्वयं की शोध में सहायभूत होनी चाहिए। धम्मदयाणं धर्म दान के द्वारा हमें स्वयं की शोध का दान देते हैं। जैसे एकबार धर्मनाथ प्रभु के समवसरण में देशना से प्रसन्न हुए इन्द्र ने परमात्मा से पूछा था प्रभु आपके इस समवसरण में देशना सुनकर मेरी तरह अनेक जीव प्रसन्न हुए होंगे। उन सभी में से सबसे पहले मोक्ष में कौन जाएगा? प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभुने इधर उधर भगते हुए एक चूहे की ओर इशारा करते हुए इन्द्र से कहा - **महेन्द्र ! इतश्ततः घूमता हुआ चुहा सबसे पहले मोक्ष में जाएगा।** प्रभु के इस कथन को इन्द्र ने तो सुना परंतु साथ ही उस चूहे ने भी सुना जिसके बारे में प्रभु बात कर रहे थे।

कथन सुनते ही चूहे ने अपने अंग का आधा हिस्सा उपर कर प्रभु की ओर मुडा और टिक टिकी लगाकर प्रभु की ओर देखने लगा। उसकी आँखे सजल हो गई। समवसरण में भीतर आकर देशना सुनने का अधिकार मुझे नहीं हैं तो मोक्ष का अधिकार कैसे हो सकता है? और वह भी सबसे पहले? यह उस सभा की बात हैं जहाँ भगवान के बडे बडे उतराधिकारी और ज्ञानी महापुरुष बैठे थे। मैं तिर्यंचयोनि का नाचीज प्राणी और सबसे पहले मोक्ष में जाऊंगा? उसने हिंमत जुडाई दिमाग चलाया । सोचा यह घोषणा स्वयं भगवान कर रहे हैं मैं भले ही सत्य को नहीं जानता हूँ कि मैं मोक्ष में जाऊंगा परंतु अभी भगवान के चरणों में तो जा सकता हूँ। कूदता फांदता चूहाभाई चले यात्रापर। इन्द्र उसे देखकर सोचने लगे, लग रहा हैं यह चूहे की मोक्ष यात्रा है। एक निकट मोक्षगामी आत्मा के

दर्शन करने लगे। चूहे ने नजदीक आकर भगवान के चरणों का स्पर्श किया तीन प्रदक्षिणा दी और **नमोत्थुणं धम्मदयाणं धम्मदयाणं धम्मदयाणं...** की धून के साथ चूहा प्रभु के द्वारा अपना भविष्य जानने के लिए उत्सुक हो गया। चूहे के साथ इन्द्र सहित समस्त सभाजन कौतूहल के साथ प्रभु की गंभीरवाणी सुनने लगे।

प्रभु ने अपने गंभीर घोष में कहा, चौदहवें अनंतनाथ भगवान के समय में विंध्यवास नाम के छोटे से संनिवेश के राजा महेंद्र के पुत्र का नाम ताराचंद्र था। किसी एक युद्ध में राजा महेंद्र की मृत्यु हो जानेपर रानी ने अपने पुत्र के साथ भगवान अनंतनाथ के चरणों में दीक्षा धारण की। माता-पुत्र दोनों भगवान की और भगवान के शासन की आराधना कर रहे थे। अचानक एक दिन मुनि ताराचंद्र का मन विचलित हो गया। व्याकुलता में उन्हें संयममार्ग दुसह्य लगने लगा। आज्ञाधर्म बंधन लगने लगा। अचानक एक दिन प्रकृति में चूहों को निर्बंध, स्वछंद और स्वाधीन देखकर अनुमोदना हो गयी। साधु जीवन से तो इन चूहों का जीवन सुंदर हैं। कोई बंधन नहीं दिनरात जब चाहे तब जहाँ चाहे वहाँ जा सकते हैं। **देवानुप्रियो ! इन अशुभ भावों की आलोचना किये बिना मृत्यु प्राप्तकर मुनि ताराचंद्र का जीव अल्प आयुष्यवाला जीव हुआ। देव का आयुष्य पूर्ण कर यह चूहा बना है।** भगवान की वाणी सुनकर समस्त सभाजन आश्चर्यान्वित हो गए। सजल नेत्रों से प्रभु की ओर देखते देखते चूहे को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अपने पूर्वजन्म को प्रभु से सुनकर, ज्ञान से जानकर और जातिस्मृति में देखकर पाप का तीव्र पश्चाताप करने लगा। परिणामत: क्षपकश्रेणीपर आरुढ होकर भावचारित्र्य के साथ आराधक होकर मोक्ष को प्राप्त कर गया।

परमात्मा स्वयं धर्मस्वरुप हैं धर्मसंपन्न हैं। इसलिए भगवान को धर्मवान भगवान कहा जाता है। धर्म की मूलपरिभाषा हैं धर्म प्राप्त होनेपर कर्म बंधन नहीं होते हैं। महायोगी आनंदघन जी ने पंद्रहवे भगवान की स्तुति करते हुए कहा हैं -

धरम धरम करतो जग सहु फिरे धरम न जाणे हो मर्म ।
धरम जिनेश्वर चरण ग्रह्या पछी कोई न बांधे हो कर्म ।।

आपने एक धर्मसूत्र सुना होगा... उपयोगे धर्म, क्रियाये कर्म अने परिणामे बंध। कोई भी धर्म क्रिया हो उसमें जितना चित्तोपयोग का रहता है उतना ही धर्म सिद्ध होता हैं। धर्म आत्मजागृती पर निर्भर रहता है। आत्मा के लिए उपकारक केवल मात्र धर्म है। सारे धर्मानुष्ठान आत्मा में धर्म प्रगट करने रुप में ही उपकारक होता है। आत्मोपयोगी धर्म आत्मा में परिवर्तन लाता है। उपयोग के अनेक प्रकार है परंतु धर्म का उपयोग के साथ क्या संबंध हैं? धर्म अर्थात् स्वभाव। महापुरुषों का धर्म ज्ञान देना तारना आदि होता है। दुष्ट का धर्म अन्य को परेशान करना है। पदार्थ की दृष्टि से पानी को कितना भी गरम किया जाए वह थंडा ही होता है क्योंकि उसका धर्म थंडा होना ही है। उसी तरह आत्मा का धर्म उपयोग हैं। शुद्ध उपयोग से आत्मा शुद्ध होता है।

धर्म के इस महत्त्व को स्वयं में धारण करने हेतु ज्ञानी पुरुषों ने ध्यान के चार प्रकारों में ध्यान का एक प्रकार धर्म ध्यान कहा है। मोक्ष प्राप्ति के लिए शुक्लध्यान आवश्यक है वैसे ही शुक्लध्यान के लिए धर्मध्यान आवश्यक है। ध्यान के अतिरिक्त सम्यकज्ञान, सम्यकदर्शन और सम्यकचारित्र्य को कार्यरुपधर्म माना गया है। दान-शील-

तप और भावनारुप धर्म को प्रवृत्तिरुप धर्म माना है। दान में अभयदान अर्थात् जीवों की अनुकंपा, दया अहिंसा आदि। ज्ञानदान अर्थात् आत्मा के चैतन्य स्वरुपज्ञान को प्रगट करना। तत्त्वों का अध्ययन कराना। शास्त्रों का स्वाध्याय कराना। सम्यग्ज्ञान दान करना ज्ञान का प्रचार, प्रसार या अनुमोदन करना। धर्मोपग्रहदान में धर्म साधना में उपकारक साधनों का दान, सुपात्रदान, साधु को निर्दोष भिक्षा का दान, औचित्यदान तथा साधर्मिक भक्ति आदि आता है। शील में सम्यक्त्वमूलक बारह व्रत का आगार धर्म और दस प्रकार के यतिधर्मरुप अनगार धर्म आता है। तपधर्म में बारह प्रकार के तप आते हैं। भावनाधर्म में मैत्री, प्रमोद आदि चार, आनित्यादि बारह और पाँच महाव्रत की पच्चीस भावनाएं आती हैं। चौथा हैं आलंबनधर्म। इसे धर्म में स्वीकारा है वैसे ये सहारा है। द्रव्यालंबन जब भावआलंबन बनता हैं तब आलंबनधर्म बन जाता है। इसतरह धर्म के अनेक प्रकार होते गए परंतु मुख्यधर्म स्वभावरुप हैं। इसीलिए कहा हैं **वत्थु सहावो धम्मो।**

जम्बु स्वामी ने सुधर्मा स्वामी से पूछा था इस धर्म का आराधन कैसे किया जाता हैं? उत्तर में सुधर्मा स्वामी ने धर्म के पाँच स्वरुप का कथन सुनाया था - **तद्दिट्ठिए तम्मुत्तिए तप्पुरक्कारे तस्सण्णे तन्निसेवणे।** परमात्मा की दष्टि में अपनी दृष्टि को मिलाकर स्वदर्शन करना धर्म का प्रथम चरण है। तम्मुत्तिए अर्थात् परमात्मा के स्वरुप में स्वयं के स्वरुप को ऐंकरुप करना धर्म का दूसरा चरण है। जो धर्म मार्गपर चलते समय हमारे आगे चलकर हमारा मार्गदर्शन करे, अंधकार हो वहाँ प्रकाश देवे, काँटे कंकर हो वहाँ हाथ पकडकर बाहर निकाले, सुरक्षा प्रदान करें, आगे चलकर मार्ग प्रदर्शन करे। जो धर्म स्वयं आगे रहकर हमारा मार्गदर्शन करे उसे धर्म को तप्पुरक्कारे कहा जाता है। यहाँपर धर्म हमें अप्रतिबंधित स्वरुप के साथ बाँधकर निर्बंध बनाता है। यह एक ऐसा बंधन जो बंधन से मुक्त करता है। मार्ग में थकते हैं तो आराम कराता है। भयभीत होते है तो हाथ पकडकर मार्ग को पार कराता है। धर्म का चौथा प्रकार तस्सण्णे हैं, यह स्वरुप हमारी चेतना को परम चेतना के साथ जोड देता है। पाँचवा प्रकार हैं तण्णिसेवणे अर्थात् समस्त योगों के साथ समर्पित होकर सान्निध्य का सेवन करना। निकट रहकर उपासना करना।

इसतरह धर्म का वास्तविक स्वरुप पाँच प्रकार के द्वारा पंचपरमेष्ठि स्वरुप बनकर मोक्षतक साथ देता है। उपसंहार के द्वारा धर्म को पाँच स्वरुप से हमारे साथ उपस्थित रख सकते हैं।

१. हमारी दृष्टि को परमात्मा की दृष्टि में मिला देना धर्म है। प्रभु के सिवा हमें अन्यकुछ दिखाइ न दे।

२. हमारे स्वरुप में प्रभु का स्वरुप प्रगट करे वह धर्म। इसमें मैं स्वयं परमात्मा होने की अनुभूति प्रकट होती हैं।

३. हमारे आगे चलकर हमें प्रभु तक पहुंचा दे वह धर्म।

४. हमारी चेतना में प्रभु के चरण को प्रगट करे वह धर्म।

५. हमें परमतत्त्व के सान्निध्य में रहने में सहाय करें वह धर्म।

देव, गुरु और धर्म की त्रिक आप जानते होगे। समकित प्राप्ति के ये तीन साधन है। सबसे पहले उपलब्धि धर्म की होती है। देव संबंध परोक्ष है। अव्यवहार राशी से व्यवहार राशी में सिद्ध परमात्मा का और

व्यवहार राशी में आ जानेपर अचिंत्य सहायभूत होते हुए भी इस संबंध में हम अज्ञात रहते है। जैसे गर्भस्थ शिशु की माँ बच्चे के धारण करने में और पालन पोषण में सहायभूत होते हुए भी, जीवन विकास में माँ का पूर्ण योगदान होते हुए भी बच्चा इस योजना से अनजान और अपरिचित हैं। इसीतरह भवांतर से हमपर होनेवाले देवाधिदेव के उपकारों से हम अनजान हैं। इस योजना में प्रवेश करते ही प्रथम धर्म की उपलब्धि होती हैं। धर्म का परिणाम गुरु की प्राप्ति है। गुरु की उपासना का परिणाम देवाधिदेव की प्राप्ति है। क्रमश: धर्म हमें गुरु के साथ जोड देता है। गुरु कभी सिर्फ स्वयं के साथ बाँध के नहीं रखते है। वे निरंतर हमें परमात्मा के साथ जोडने के लिए प्रयत्नशील रहते है। पदार्थ में परिवर्तन करते समय पदार्थ सहायभूत होते हैं जैसे दूध में जावन डालनेपर दूध दही में परिणमित हो जाता है। आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए पदार्थ की कोई चेष्टा कामयाब नहीं होती है। तो परिणमन कैसे होगा ऐसा प्रश्न हमें हो सकता है। तस्सण्णे इस प्रश्न का उत्तर हैं। चेतना ही चेतना में परिवर्तन कर परमचेतना के साथ जोड सकती है। इस प्रक्रिया में सहायभूत हैं धर्म का पाँचवा प्रकार तन्निसेवणे हैं। इसमें हमारा धर्म के साथ साथ रहना, धर्म में रहना, धर्ममय रहना आवश्यक है।

ऐसा धर्म शुद्ध होता है और शुद्ध करता है। धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है। जिनेश्वर द्वारा देशित हैं उपदेशित हैं। धर्म के उपदेशक को धम्म देसयाणं कहते हैं। अब धर्म के महानदान का स्वीकार कर धर्मदाता हमारे सामने धर्म देशक के रुप में प्रगट होंगे। तब तक हम धर्मचर्या में चरण करे। नमो धम्मदयाणं की स्वरांजलि के साथ धम्मदेसयाणं की प्रतीक्षा करते हैं।

नमोत्थुणं धम्मदयाणं... *नमोत्थुणं धम्मदयाणं...* *नमोत्थुणं धम्मदयाणं...*

नमोत्थुणं - धम्मदेसयाणं

जो धर्म का प्रवर्तन करती है उसे देशना कहते हैं।
जो धर्म का संरक्षण करती हैं उसे देशना कहते हैं।
जो धर्म देशना का प्रवर्तन करते हैं उन्हें धर्मदेशक कहते हैं।
जो देते हैं सत् और करते हैं कल्याण उन्हें देशक कहते हैं।

देशना देती हैं तीन चीज शासन, आसन और संभाषण। शासन तो सत्ताधिशों के भी होते हैं। आसन योगियों के भी होते हैं। संभाषण राजनेताओं के भी होते हैं परंतु इनमें से किसको भी देशक नहीं कहा जाता हैं और प्रक्रिया को देशना नहीं कहा जाता हैं। तो देशना कहते किसे हैं? इस प्रश्न का उत्तर धम्मदेसयाणं पद द्वारा गणधर भगवंत देते हैं।धर्मदेशक द्वारा विश्व को तीन व्यवस्थाए मिलती हैं संपदा, निषद्या और परिषदा। संपदा सम्यक् पद का दान करती हैं। निषद्या नियमित सत् का दान करती हैं। परिषदा **परि** अर्थात् चारो ओर से, **ष** अर्थात् सत् और शक्ति, **दा** अर्थात् दाता, देनेवाले हैं। इसतरह परिषदा से चारों ओर से सत् का दान करनेवाली वह सभा जिसमें देशना दी जाती हैं।

जिस परिकर में प्रभु बिराजते हैं उसे समवसरण कहते हैं। यह समवसरण वृत्त (गोलाकार)और चतुरश्र (चौरस) दो तरह के होते हैं। समवसरण की कल्पना और ध्यानविधि अनेक तरह की है। धर्मदेशक परमात्मा इस समवसरण में बिराजकर धर्म देशना फरमाते हैं। आप सोचोगे धर्म और देशना में क्या अंतर है? धर्म मक्खन की तरह है। जिसकी अवधि कम समय की होती है और धर्म देशना घी की तरह होती है जिसकी अवधि लंबे समय की होती है। देशना आदेश, आज्ञा और आगम का रुप धारण करती है। कभी देशना संदेश का भी काम करती है। संदेश भेजने के भी अलग अलग कारण रहते है। जैसे भगवान महावीर ने अपने अंतिम समय से पूर्व गौतमस्वामी से देवशर्मा ब्राम्हण को प्रतिबोधित कराया था। इसमें कारण अज्ञात है। अंबड के साथ सुलसा को संदेश भेजते समय संकेत अंबड की ओर था। परमात्मा की देशना से सुलसा स्वयं संदेशमयी थी। भगवान ऋषभदेवने ब्राह्मी सुंदरी के साथ बाहुबली को संदेश भेजा था वह बाहुबली की ओर परमात्मा का देशनामय आदेश था।

देशना की स्पर्श के लिए संदेह और संशय नहीं होने चाहिए। संदेह हो तो संदेश की स्पर्शना नहीं होती है। अत: संदेह रहित होना अनिवार्य हैं। एक कच्छी संत ने कहा हैं, **अंदेसडा न भांजसी संदेशडा कहिया, के हरि आया भांजसी, के हरि के पास गया।** देशना में भगवान स्वयं उपस्थित होते है। भूतकाल हो वर्तमानकाल हो या भविष्यकाल परंतु देशना सर्वकाल में समान होती है। आचारांग में इसकी स्पष्टता इस प्रकार हैं **- जे अईया जे पडुवण्णा जे आगमेस्सा अरहंतो भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति सव्वे जीवा ण हंतव्वा...** अर्थात् चाहे भूतकाल हो, भविष्यकाल हो या वर्तमानकाल हो सभी तीर्थंकर परमात्मा की देशना एक ही तरह की होती है कि सर्व जीवों का रक्षण करना चाहिए किसी जीव को

मारना नहीं चाहिए। यह देशना परमात्मा चार तरह से देते है। **एवमाइक्खंति** आदि से आप चार प्रकार देख चुके हैं।

देव और मनुष्य की परिषद में सामान्य रुप से सहज प्रवचन पारित करना **आइक्खंति** हैं। अर्धमागधी भाषा में उपदेश फरमाया जाया और वह भाषा अतिशय के कारण सभी प्राणियों के अपनी भाषा में परिणमीत हो जाना **भासंति** है। सामान्य कथन कर लेनेपर भी कोई शंका संशय हो जाए या रह जाए उसका समाधान करने हेतु जीवजीवादि नव तत्त्वों को प्रज्ञप्त करना **पण्णवेंति** है। तात्त्विक दृष्टि से किसी तत्त्वविशेष, पदार्थविशेष या प्रसंगविशेष का निरुपण करना **परूवेंति** हैं। जैसे केवलज्ञान होनेपर परमात्मा ने देशना पारित की। सभा में बैठे सभी देवदेवी उसे समझ गए। अपने मन का संशय लेकर आए हुए गौतमस्वामी को संशय निवारीत कर प्रज्ञप्त किया गया। दीक्षित हो जानेपर गणधर गौतम का त्रिपदि का सूत्र **भयवं! किं तत्तं** के सूत्रपर त्रिपदि का निरुपण प्ररुपणा हैं।

इसी का विशद निरुपण करते हुए भगवती सूत्र में प्रभु की देशना को छह प्रकार से प्ररुपित किया गया हैं। छद्मस्थ अवस्था की अंतिम रात्रि में भगवान महावीर ने दस स्वप्न देखे थे। तीसरे स्वप्न में एक महान चित्र-विचित्र पंखोंवाला पुंसकोकिल देखा था। रात्रि के अंतिम प्रहर में शुभ स्वप्नों का दर्शन होता है। छद्मस्थ अवस्था के ये स्वप्न दर्शन सत्य दर्शन की पूर्व भूमिका थे। तीसरे स्वप्नफल कथन के बारे में भगवती सूत्र में तीसरे स्वप्न का फल कथन करते हुए कहा हैं, **समणे भगवं महावीरे विचित्तं ससमय-परसमइयं दुवालसंगं गणिपिडगं आघवेइ, पण्णवेइ, परुवेइ, दंसेइ, णिदंसेइ, उवदंसेइ ...** अर्थात् परमात्मा महावीर ने द्वादशांग गणिपिटक अर्थात् आचारांग, सूयगडांग आदि का आघवेइ अर्थात् सामान्य और विशेष प्रर्यायों की व्याप्ति से कथन किया। पण्णवेइ अर्थात् हेतु जानकर हेतुपूर्वक प्रज्ञापित किया। परुवेइ अर्थात् स्वरुप निरुपण द्वारा प्ररुपित किया। दंसेइ अर्थात् दृष्टांतों द्वारा दर्शित किया। णिदंसेइ अर्थात् विशेष फलस्वरुप निर्देशित किया। उवदंसेइ अर्थात् उपसंहार द्वारा उपदर्शित किया।

द्वादशांगीरुप परमात्मा का यह कथन गणधर भगवंतों के द्वारा ग्रथित, रचित और प्रतिपादित होता है। गणधर भगवंत द्वादशांगी की रचना करने का सामर्थ्य कैसे प्राप्त करते हैं यह जानना रसप्रद हैं। दीक्षा लेकर लंबे काल तक अध्ययनादि कर के, सोच समझ के फिर द्वादशांगी की रचना करते हैं ऐसा नहीं है। केवल मुहूर्त मात्र में ही द्वादशांगी की रचना हो जाती है। यह मुहूर्त परमात्मा के उपदेश के आधीन होता है। परमात्मा से त्रिपदी का श्रवण करते ही गणधर भगवंतो के आत्मा में रहा हुआ द्वादशांगी रचना का अद्भुत सामर्थ्य आविर्भूत हो जाता है। बिना त्रिपदी श्रवण किए द्वादशांगी की रचना नहीं हो सकती हैं। अब प्रश्न हैं कि परमात्मा त्रिपदी कब सुनाते है? यह एक महत्त्वपूर्ण संविधान हैं।

परमात्मा की देशना श्रवण कर उनके प्रमुख शिष्य गणधर होने का पुण्य लेकर आए हुए होते हैं वे दीक्षित होते है। तीर्थंकर नामकर्म के विपाकोदय के प्रभाव से त्रिपदी का कथन करते है। इस त्रिपदी से गणधरों को समस्त

अभिलाप्य वस्तु का विस्तृत बोध हो जाता है। यह एक तीर्थंकर और गणधर के मध्य होनेवाली माध्यस्थ विधि है। तीर्थंकर नामकर्म के उदय से त्रिपदी देते हैं और गणधर विशिष्ट पुण्य प्रभाव से इसे उपलब्ध करते है। त्रिपदी का प्रारंभ इसतरह होता है। गणधर परमात्मा को एक प्रदिक्षणा देकर चरणों में नमस्कार करते है और पूछते हैं - **भयवं ! किं तत्तं ?** परमात्मा द्रव्य और पर्याय के उत्पादन का सिद्धांत व्यक्त करते हुए उत्तर देते हैं - **उप्पन्ने इ वा !** गणधर भगवंत इस उत्तर का चिंतन करते हैं। पुन:श्च जिज्ञासा उत्पन्न होती है। फिर प्रदक्षिणा देते है, नमस्कार करते है और पूछते हैं - **भयवं ! किं तत्तं ?** द्रव्य में व्यय, विगम अथवा विनाश का सिद्धांत व्यक्त करते हुए उत्तर देते है - **विगमे इ वा !** परमात्मा का उत्तर सुनकर गणधर भगवंत इस उत्तर का चिंतन करते हैं। पुन:श्च जिज्ञासा उत्पन्न होती है। फिर प्रदक्षिणा देते है, नमस्कार करते है और पूछते हैं - **भयवं ! किं तत्तं ?** तीसरी बार प्रश्न सुनकर तीर्थंकर प्रभु द्रव्य के ध्रौव्य अर्थात् शाश्वत सिद्धांत व्यक्त करते हुए कहते हैं - **धुवे इ वा** । गणधर भगवंत तीन बार प्रश्न पूछते हैं उसे **निसद्यात्रय** कहते हैं। परमात्मा के उत्तर को **त्रिपदी** कहते हैं। इस त्रिपदी में समस्त द्वादशांगी का सार समया हुआ है। प्रभु के मुख से उच्चारित त्रिपदी का श्रवण कर शिष्यों में गणधर नामकर्म का उदय होता है। सभी गणधरों के अपने अपने ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम होते है। अत्यंत उत्कृष्ट क्षयोपशम होने के कारण उत्कृष्ट मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उत्पन्न होते है। इस कारण वे मुहूर्त मात्र में द्वादशांगी की रचना कर सकते है।

उत्पन्न होना और विनाश होना ये तो जगत् मान्य सिद्धांत है। जो जन्म लेता हैं वह मरता है इसे तो सारा जगत् जानता हैं। यदि ध्रुवता न होती तो परभव, पुण्य-पाप का फल, मोक्ष मार्ग की आराधना और मोक्ष की प्राप्ति आदि का अवकाश ही प्राप्त नहीं हो सकता। अत: उत्पादव्यय के साथ ध्रुव का सिद्धांत परिपूर्णता की पुष्टि करता है। त्रिपदी में तीन बार **वा** का उच्चार प्रति समय आगे आगे के सिद्धांत की सूचना करते है। जैसे उत्पन्न के साथ दिया गया वा विगम की सूचना करता है और विगम के साथ दिया गया वा ध्रुव का सिद्धांत सूचित करता है। इस वा के प्रयोग के द्वारा परमात्मा ने द्रव्य के अन्य धर्मों के अस्तित्त्व का स्वीकार किया है। कई लोग ऐसा अन्यथा समझते हैं कि अनेकांतवाद भगवान के शासन में पीछे से आया हुआ है परंतु वा शब्द अनेकांतवाद और स्यादवाद त्रिपदी में ही निहित है। एक ही द्रव्य अपेक्षा से उत्पन्न भी होता है, अपेक्षा से नष्ट भी होता है और अपेक्षा से ध्रुव भी होता है। कोई भी जीव या अजीव द्रव्य न तो केवल उत्पन्न हैं न तो केवल नाश होते है और न केवल हमेशा रहते है। विद्यमान सभी द्रव्य थे, हैं और हमेशा रहेंगे। जितने जीव और अजीव द्रव्य भूतकाल में थे, वर्तमान हैं और भविष्य में उतने ही रहेंगे। अनंतानंत काल होनेपर भी इसकी विद्यमानता कायम रहती है। केवल पर्याय मात्र बदलती है अर्थात् अवस्थांतर होते रहते हैं।

ऐसी महान त्रिपदी द्वादशांगी की माता है। वर्तमान में उपलब्ध भगवान की देशना स्वरुप द्वादशांगी सुधर्मा गणधर द्वारा रचित है। परमात्मा की अर्थ से कथित द्वादशांगी गणधर भगवंत शब्द से गूंथन करते है। प्रथम गणधर गौतम स्वामी का प्रभाव अचिंत्य था। सूर्य की किरण के आलंबन मात्र से अष्टापद चढना, पंद्रहसौ तापसो को एक

साथ खीरान्न से पारणा कराना आदि अनेक लब्धि संपन्न घटनाएं उनके साथ जुडी हुइ हैं। इन सबसे भी अधिक विशेषता तो यह थी की उनके प्रभाव से दीक्षित सभी उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में गए हैं। ऐसा तारक प्रभाव केवल गौतम स्वामी का था परंतु वे परमात्मा के निर्वाण के समय वहाँ अनुपस्थित होने से और उसी रात में केवली बन जाने के कारण शासन के सत्ताधीश सुधर्मा स्वामी घोषित हुए। वर्तमान में प्रचलित पाट परंपरा सुधर्मा स्वामी की है। आप भले ही इन पाटोंपर दान दातओं के नाम लिखो परंतु इस पाट का परंपरागत नाम सुधर्मा स्वामी पाट है। इसपर बैठकर भाषण संभाषण नहीं होते हैं इसपर से तो प्रभु की देशना का ही दान होता है। सुधर्मा स्वामी स्वयं पाटपर बिराजने से पहले पाट को प्रदक्षिणा करते हुए- **णमो तित्थस्स** मंत्र का उच्चारण करते है। भगवान की आज्ञा मांगते हैं और परिषदा में घोषित करते हैं कि इस पद के वास्तविक अधिकारी गौतमस्वामी की अनुपस्थिति में मैं इस पद को सम्हालता हूँ। जब तक मैं सत्तापर रहूंगा तब तक मेरा सत्तापर अधिकार रहेगा। यथोचित समयपर इसका अधिकार अन्य को सौंपा जाएगा परंतु गौतमस्वामी का मैं गुरुपद के रुप में स्वीकार करता हूँ। भगवान महावीर के शासन में वे आज भी गुरु हैं और हमेशा गुरु के रुप में पूजे जाऐंगे। आदिगुरु गौतमस्वामी के बिना कोई भी अनुष्ठान अधूरा माना जाएगा। समस्त अनुष्ठान, अनुप्रेक्षा और अनुभूति ये तीनों परमगुरु गौतमस्वामी को समर्पित हैं। भविष्य में भी भगवान महावीर के शासन में सभी गुरुओं को गौतमस्वामी का परमगुरु के रुप में स्वीकार करना होगा। गुरुपद की योग्यता का सर्वाधिक, सर्वोच्च, सर्वोत्तम यह सिद्धांत चलेगा। इसतरह गौतमस्वामी को गुरुपद के रुप में घोषित कर स्वीकृत करते हुए उन्होंने शासन का अनुशासन स्वीकार किया और प्रशासन का प्रवर्तन किया।

जो धर्म देशना करते है उन्हें धर्मदेशक कहते हैं। धर्मोपदेशक अनेक हो सकते है और धर्म देशक मात्र तीर्थंकर होते है। भूत, भविष्य और वर्तमान में जो भी तीर्थंकर हैं उन सबकी देशना एक ही तरह की होती है। **ते सव्वे एवं** इस कथन पर हम पहले चिंतन कर चुके हैं। अपनी प्रथम देशना में वे जीव के स्वतंत्र अस्तित्त्व के बोध की खोज का उद्‌घाटन करते हैं। प्रत्येक जीव का स्वतंत्र अस्तित्त्व है। अज्ञान के कारण वे देहभाव को जीव के साथ एकरुप प्रतीत करते हैं। परिणामत: उनकी क्रिया भी वैसी ही होती है। जब एकरुपता हटती हैं जीव अपने अस्तित्त्व के बोध की खोज शुरु करता है। परमात्मा की प्रथम देशना इस बोध का उद्‌घाटन हैं। अस्तित्त्व बोध की यात्रा में प्रवेश करते ही सर्वप्रथम जीव को कैसी जिज्ञासा हो सकती है। इस बात को भगवान महावीर ने अपनी प्रथम देशना के प्रथम सूत्र में ही घोषित करते हुए कहा - **के अहं आसी? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?** मैं कौन था? और यहाँ से च्युत होकर कहाँ जाऊँगा ? यह जिज्ञासा सार्वजनिक जिज्ञासा हैं।

देशना का शाब्दिक विन्यास भी देशना के अभिप्राय को स्पष्ट करता हैं। **दे** अर्थात् देना जो देते हैं। **श** अर्थात् शक्ति, सत् और शासन। तीर्थ की रचनाकर प्रभु शासन की स्थापना करते हैं। धर्म अंगीकार कर हम शासन में स्थान ग्रहण करते हैं। देशना परमात्मा के निर्वाण के बाद भी हमें शासन में समाहित रखती हैं। इसतरह देशना परमात्मा की पर्याय हैं। परमात्मा के हस्ताक्षर हैं। परमात्मा की तेजोलेश्या है।

केवलज्ञानी और वीतराग बन जाने के पश्चात अरिहंत परमात्मा पूर्ण कृतकृत्य हो चुके होते है। वे चाहें तो एकान्त साधना से भी अपनी मुक्ति कर सकते है, फिर भी वे देशना देते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति के कई कारण है। प्रथम तो यह कि जब तक देशना देकर धर्मतीर्थ की स्थापना नहीं की जाती तब तक तीर्थंकर नामकर्म का भोग नहीं होता। दूसरा, जैसा कि प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा गया है - समस्त जगजीवों की रक्षा व दया के लिए भगवान प्रवचन देते हैं। तीर्थंकर वीतराग होने पर भी तीर्थंकर नामकर्म के उदय से उनको धर्मदेशना करने का स्वभाव होता है। जब तक इसका उदय रहता है तब तक वे धर्म देशना देते है।

अरिहंत भगवान का एक भी वचन असंख्य जीवों के भिन्न भिन्न प्रश्नों का हितकर एवं स्पष्ट बोध कराता हैं और निराकरण करता है। इसका कारण उनका तथाप्रकार का अचिन्त्य पुण्य प्रकर्ष का प्रभाव ही है। अत: इसी प्रश्नपर कि **तत्तं कहं वेइज्जई ?** तीर्थंकर नामकर्म कैसे वेदा जाता है? उत्तर दिया गया है कि, **अगिलाए धम्मदेसणाईहि** ग्लानिरहित धर्म देशना से ही यह कर्म वेदा जाता है।

यह देशना ऐसी महत्त्वपूर्ण है तो फिर यह अभव्यों में पूर्ण सफल परिणाम क्यों नहीं लाती? प्रस्तुत प्रश्न के निवारण हेतु हरिभद्र सूरिजी कहते हैं - इसमें अभव्य आत्मा का ही दोष है। बीज कितना ही उच्चकोटी का हो परंतु जमीन यदि फलदुरुप नहीं है तो बीज क्या करेगा ? क्योंकि सूर्य के सहज उदय होते ही स्वाभाविक क्लिष्ट कर्मवाले उलूकों आँखो से दिखना बंद हो जाता है। यहाँ सूर्य की न्यूनता नहीं मानी जाएगी वैसे परमात्म देशना का अभव्यों में परिणमन नहीं होने में परमात्मा की न्यूनता नहीं है।

अरिहंत परमात्मा की देशना श्रवण करने वाले श्रोताओं में से कोई जीव सर्वविरत बनता है, कोई देशविरत बनता है, कोई सम्यक्त्व ग्रहण करता है, इस प्रकार के तीन में से कोई भी एक सामायिक तो कम से कम ग्रहण की ही जाती है। अन्यथा परमात्मा अमूधलक्ष (एक भी अक्षर) नहीं कहते हैं। समवसरण में मनुष्यों में एक सामायिक की प्राप्ति होती है। तिर्यंच में से दो या तीन सामायिक ग्रहण की जाती हैं। यदि मनुष्यों और तिर्यंचो में से कोई जीव किसी भी प्रकार की सामायिक ग्रहण न करे तो देवों द्वारा अवश्य ही सम्यक्त्व सामायिक ग्रहण की जाती है। अनेकों तीर्थंकरों के इतिहास में आज तक श्रमण भगवान महावीर के अतिरिक्त किसी भी तीर्थंकर की देशना में ऐसा नहीं हुआ है।

सर्व जीवों के प्रति समान भाव वाली परमात्म-देशना से असंख्यात संशयी जीवों के संशय का एक साथ विनाश होता है। परमात्मा की अचिन्त्य गुण-विभूति के कारण जीवों को परमात्मा का सर्वज्ञत्त्व का प्रत्यय प्राप्त होता है। वृष्टि का जल जैसे विविध वर्णवाले पात्रों से विविध वर्ण का दिखता है, वैसे सर्वज्ञ प्रभु की देशना सर्वभाषाओं में परिणमित होती है। इस प्रकार की देशना देते हुए अरिहंत परमात्मा भव्यात्माओं के पुण्यमय प्रदेशों में विचरते हैं। उनका उद्धार एवं निस्तार करते हैं। कई भव्यात्मा इसके लिए उत्सुक भी होते हैं। देशना परिणमित होनेपर श्रोतासाधक में तीन परिणाम प्रगट होते हैं - वह निर्मल, संकलेश रहित और परित्तसंसारी अर्थात् अल्पसंसारी होता है। देशना का यह नक्कर परिणाम हैं। परमात्मा की देशना का एक ही बार में श्रवण कर परिणाम

प्राप्त करनेवाले जंबुस्वामी ने विवाह की प्रथम रात्रि में अपने शयन कक्ष में आठ पत्नीयों को इसी देशना से प्रतिबोधित किया था। बायचान्स ही समझो भवन में चोरी करने के लिए आए हुए प्रभवआदि पाँचसो चोरों ने यह देशना सुनी परिणामत: वे सभी इस परिणाम को प्राप्त हुए। देशना का श्रवण, भावन और चिंतन अनिवार्य है।

समस्त दर्शन जिन-देशना की ही उपज हैं। अरिहंत देशना अर्थात् सुक्ष्म विचार संकलनाओं से भरा हुआ विश्व दर्शन। आत्मा है, वह नित्य है, वह कर्म का कर्ता है, वह कर्म का भोक्ता है, मोक्ष है और मोक्ष के उपाय हैं। इन षट्स्थानकों के द्वारा अरिहंत परमात्मा आत्म स्वरुप को प्रकट करते हैं। इन्हीं षट्स्थानकों में से एक को ही एकांत रुप मानकर अन्य दर्शनों की मान्यताएं सिद्ध होती है।

जिन देशना अथवा अरिहंत परमात्मा का यह झलकता हुआ परम सौभाग्य जिसका पुण्य-प्रकर्ष ही जगत् के जीवों के उद्धार का एक मात्र अवतरण है। पूर्णत: पुण्यशाली न होने से प्रत्यक्षत: हम उनकी इस परमार्थिकी जिन देशना का श्रवण-मनन-चिंतन या आत्म-स्पर्शन नहीं कर पाते हैं परंतु किसी अंशात्मक पुण्य-प्रताप से अन्य आत्मार्थी जनों द्वारा ग्रन्थित उस दिव्य देशना को अरिहंत के कृपा बल से आज प्राप्त कर रहे हैं। यह देशना एक योजनतक पहुंचानेवाले मालकोशराग में अर्धमागधी भाषा में होती है।

ऐसी देशना प्रथम पोरसी और अंतिम पोरसी में होती है। श्रमण भगवान महावीर ने अंतिम देशना सोलह प्रहर तक दी थी। अंतिम समय में इतने घंटेतक देशना का चालु रहना संभव हो भी सकता हैं क्योंकि परमात्मा की देशना का उदेश्य तीर्थंकर नामकर्म के विपाकोदय होने से भाषा वर्गणा के जितने पुद्गल खिरने होते हैं उतनी देशना होती है। परमात्मा स्वयं देशना की इच्छा संकल्पादी नहीं करते हैं। देशना के लिए समय मर्यादा व्यवस्था मात्र हैं। बाकी तो जनसमुदाय के पुण्य और आवश्यकता देशना का विशेष हेतु है। देशना का हेतु स्पष्ट करते हुए शास्त्र में दो कारण बताए हैं - **सव्वजगजीव रक्खणट्ठयाए दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं -** जगत् के सभी जीवों की दया और रक्षा हेतु भगवान देशना देते हैं। जीव का पुण्योदय और आवश्यकता होनेपर तिर्यंचों को भी स्वयं या माध्यमों के द्वारा देशना या संदेशना देते रहे। भगवान मुनीसुव्रत स्वामी एक अश्व को प्रतिबोधित करने एक रात में २४० कोश का विहार करके पहुंचे थे। हालिक किसान को प्रतिबोधित करने के लिए भगवान महावीर ने प्रथम गणधर गौतमस्वामी को खेत में भेजा था जहाँ वह खेती कर रहा था। मोक्ष प्राप्ति तक निरंतर दो प्रहर स्वयं देशना देते है और प्रतिदेशना के बाद एक एक प्रहर अर्थात् दो प्रहर पर्यंत गणधर देशना देते हैं। दिन में केवल तीसरा प्रहर ही बिना देशना का होता है।

जहाँ आत्मा के विकारमय होने का अनंतांश भी शेष नहीं रहा है ऐसे परमात्मा के शुद्ध स्फटिक और चंद्र से उज्ज्वल शुक्लध्यान की श्रेणी से प्रवाहित अरिहंत देशना को हमारे अनंत अनंत नमन हो। धर्म देशना देनेवाले को हम अपना समस्त अर्पण कर उन्हें हमारे नेतृत्त्व के लिए आंमत्रित करते है।

नमोत्थुणं धम्मदेसयाणं ।।
नमोत्थुणं धम्मदेसयाणं ।।
नमोत्थुणं धम्मदेसयाणं ।।

नमोत्थुणं - धम्मनायगाणं

जो धर्म को जानते हैं वे धर्मज्ञायक कहलाते हैं ।
जो धर्म को देते हैं वे धर्मदायक कहलाते हैं ।
जो धर्म की देशना करते हैं वे धर्मदेशक कहलाते हैं ।
जो धर्ममार्ग का नेतृत्त्व करते हैं वे धर्मनायक कहलाते हैं ।
धर्म श्वास हैं। धर्म देशना विश्वास हैं। धर्मनायक अहसास हैं।
धर्म फिल्ड हैं। धर्म देशना फिल्डींग हैं। धर्मनायक फीलींग हैं

फिल्ड अर्थात स्थान, जगह, क्षेत्र, खेत। धर्मदेशना अर्थात् खेती। धर्मनायक अर्थात् खेती करनेवाला, परिणाम प्रगट करनेवाला। अन्यों में परिणाम की परिणती उत्पन्न करनेवाला। जो दुर्गति से बचाकर सद्गति में सहाय करता हैं वह धर्म हैं। परमात्मा धर्म देते है। धर्मदेशना देते हैं और धर्म का नेतृत्त्व करते हैं। धर्म और धर्मदेशना का देना तो समझ में आता है पर उसका नेतृत्त्व कैसे हो सकता है? धारे वह धर्म इस दृष्टि से दुर्गति गिरते हुए को धर ले, बचा ले और सद्गति की ओर ले जाए उसे धर्म का नेतृत्त्व करना कहते हैं। इस नेतृत्त्व के लिए परमात्मा जो धर्म देते उसे अनुष्ठान धर्म कहते हैं। केवल प्रवृत्तिरुप अनुष्ठान नहीं परंतु परिणति रुप अनुष्ठान का नेतृत्त्व करते है। परिणतिरुप धर्म प्राप्त करने हेतु पहले तो प्रवृत्तिरुप अनुष्ठान ही होता है इसीलिए कहा हैं - **अट्ठभवाउ चरित्ते** निरंतर धर्म की प्राप्ति कराने का काम प्रवृत्ति का है। निरंतर आठ भव पर्यंत चरित्र की आराधना नहीं चलती हैं। बीच में देवाधिभव छोड भी दो तो आठवें भव में चारित्र्य लेकर मोक्ष प्राप्त होता है। प्रवृति धर्म को परिणतीरुप धर्म बनाने के लिए कहा हैं - **भवे भवे तुम्ह चलणाणं** हे परमात्मा ! भवोभव मुझे आपके चरणकमल की उपासना प्राप्त हो। क्योंकि आपके चरण मोक्ष का नेतृत्त्व करते हैं। हेतु, स्वरुप और फल सुंदर होने से परमात्मा का नेतृत्त्व मोक्षगामी हो सकता है।

धर्म का चिंतन करते समय बडी उलझने आती है। प्रत्येक धर्मवाले अपने अपने धर्म को श्रेष्ठ मानते हैं। कौनसा धर्म श्रेष्ठ हैं इसका निर्णय अनिवार्य है। धर्मदान और धर्म देशना के बाद धर्म का नेतृत्त्व इस समस्या का समाधान हैं। परमात्मा का यह नेतृत्त्व हमारे व्यक्तित्त्वपर, अस्तित्त्वपर या वस्तुत्त्वपर ? व्यक्तित्त्वपर नेतृत्त्व करनेवाले नेता कहलाते है। वस्तुत्त्वपर नेतृत्त्व करनेवाले राजा, शेठ या स्वामी होते हैं। परमात्मा न व्यक्तिपर न वस्तुपर नेतृत्त्व करते हैं। उनका नेतृत्त्व अस्तित्त्व के साथ संलग्न है। अस्तित्त्व का नेतृत्त्व स्वामीत्त्व की तरह नहीं होता हैं। अस्तित्त्व स्वयं एक स्वतंत्र अवस्था हैं। उस अवस्था की अनुभूति की व्यवस्था परमात्मा करते हैं। जीव स्वयं के अस्तित्त्व को जाने पहचाने समझे और शास्वत का अनुभव करे। स्वायत्त सत्ता सदा सर्वदा स्वाधीन रही हैं। परमात्मा का नायकपना सत्ता से अनभिज्ञ जीवों को सत्ता का मूल्यांकन समझाने का हैं। किसी के उपर नेतृत्त्व या स्वामीत्त्व का आशय नहीं हैं।

समस्त विश्व में तीर्थंकर का नायकपना विशिष्ट अद्भुत असीम और अतुलनीय रहा है। इस विशिष्टता को चार भागों में बांटा गया है - वशीकरण, उपलब्धिकरण, सफलीकरण और संयोगीकरण। जो वश में होता हैं वह आधीन होता हैं। धर्म परमात्मा के वश में होने से परमात्मा धर्म के स्वामी होते हैं। धर्म को प्रभु ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव संबधीत विधि के साथ और आयोजन के साथ प्राप्त किया हैं। विधिपूर्वक ग्रहण करने के बाद स्वस्थ चित्त, स्फूर्ति, जागृतीपूर्वक और निरतिचार रुप से उसका पालन किया हैं। धर्म वश में होने के कारण ही परमात्मा ने उसका दान दिया है। जो हमारा अपना होता हैं, जिसके उपर हमारा अधिकार होता हैं उसे ही हम अन्य को दे सकते हैं। यहीं कारण हैं कि परमात्मा धर्म को निरपेक्ष भाव से दे सकते हैं। धर्मदान या व्रतदान करते समय परमात्मा को कोई अपेक्षा नहीं रहती हैं।

धर्म की पूर्णतया उपलब्धि यह भी परमात्मा की नायकपना का दूसरा कारण बताया गया हैं। धर्म की उपलब्धि जैसी तीर्थंकरों को हैं वैसी अन्य के पास उपलब्ध नहीं हो सकती। तीर्थ कर तीर्थंकर होते हैं। तीर्थत्त्व धर्मशासन का विशिष्ट आलंबन हैं। धर्मोपलब्धि का मुख्य कारण परमात्मा का अनुपम विश्व वात्सल्य हैं। अन्य जीवों के हित का संपादन करना परमात्मा की स्वाभाविकता हैं। सूर्य जैसे संपूर्ण विश्व को और वनसृष्टि को प्रतिदिन नवस्फूर्ति देता है। उसी तरह परमात्मा भव्य जीवों में नवीन चेतना प्रेरीत करते हैं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म पाप निवृत्तिरुप और तप स्वाध्याय आदि धर्म प्रवृत्तिरुप कल्याणपथ का संपादन कर अन्य जीवों में धर्मोपलब्धि का परमकारण भी बनते हैं। हीनजीवों के प्रति भी परमात्मा की उपकार वृत्ति रहती हैं। देव और मनुष्य ही नहीं तिर्यंच जीवों को भी धर्मदान करते रहे हैं। चाहे धर्मनाथ भगवान चूहा हो या मुनिसंवर्त स्वामी का अश्व हो। चाहे चंडकौशिकसर्प हो। भगवान का तथाभव्यत्त्व इतना उत्तम होता हैं अन्य जीवों के प्रति असाधारण निमित्त बन जाते हैं।

जो सफल होता हैं वही तो नायक होता है। परमात्मा उपमातीत हैं। उत्तम समृद्धि से युक्त हैं। सकलपुण्य के प्रकर्ष स्वामी हैं। परमात्मा का आभामंडल अत्यंत फलदायी होने के कारण अन्यजीवों को उसमें तीन भूतकाल के, तीन भविष्यकाल और एक वर्तमान काल का ऐसे सात भव दिखाई देते हैं। उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति स्वरुप तीर्थंकर नामकर्म का विपाकोदय होने से उससे संलग्न यश नामकर्म, आदेयनामकर्म, सौभाग्यनामकर्म आदि समग्र पुण्य प्रकृतियाँ समग्रता के साथ धर्मोपार्जन में उत्कृष्टता दर्शाती हैं। उत्कृष्टधर्म फल का आधिपत्य भी उत्कृष्ट होता हैं।

उत्तम धर्मफल के सद्भाव और संयोग के कारण उनमें धर्मफल के विघात का अभाव होता हैं। धर्मफल उपभोग के कारण सहज और स्वाभाविक होते हैं। धर्मफल के प्राप्ति के योग्य पुण्य अवंध्य होता हैं। पुण्यसंयोग इतना प्रबल होता हैं कि उनको विघात पहुंचाने का सामर्थ्य किसी में नहीं होता। आदेयनामकर्म के कारण सिंह और मृग एक साथ प्रभु के सान्निध्य में रहते हैं। सौभाग्य नामकर्म के कारण वृक्ष भी नमस्कार करते हैं। लाभांतराय, भोगांतराय आदि विघ्नकर्ता पापकर्म का सर्वथाक्षय हो जाने के कारण किसी प्रकार का व्याघात नहीं होता हैं। **धर्म यह आत्मा का सहजस्वरुप हैं।** इस सिद्धांत का संयोग अन्य जीवों को साहजिकता से करना परमात्मा की स्वाभाविकता हैं।

पूर्ण धर्मोपलब्धि के कारण परमात्मा ग्रंथातीत अर्थात् निर्ग्रंथ होते हैं। उनकी देशना जीवों की ग्रंथि खोलने में आलंबन रुप होती हैं। ग्रंथियों को खोली जाती हैं तोडी नहीं जाती। मेरे महान उपकारी गुरुमाता कईबार ऐसे संकेत देती थी। कभी कभी साधारण काम में आनेवाली डोरी उलझ जाती हैं। समय के आभाव में इसको सुलझाने के बजाय काट डालना शॉर्टकट लगता था। पर वे काँटने नहीं देते थे। वे कहते थे यदि डोरी की गाँठे नहीं सुलझा पाओगे तो जीवन की गुत्थियाँ कैसे सुलझाओगे ? और यदि उसे नहीं सुलटा पाए तो ग्रंथिभेद कर श्रेणी का आरोहण कैसे करोगे? ग्रंथिभेद की स्वाभाविकता परमात्मा का गुणधर्म हैं। अन्यों में भी ग्रंथिभेद का सामर्थ्य उत्पन्न हो ऐसा प्रवचन करते हैं। इसीलिए परमात्मा की देशना को न्याययुक्त नेतृत्त्व करनेवाली देशना माना जाता हैं। देशना के सात प्रकारो में न्याययुक्त नेतृत्त्व पाँचवा प्रकार हैं।

स्वयं निर्ग्रंथ होकर अन्य को भी निर्ग्रंथ बनानेवाले ग्रंथातीत परमात्मा की देशना के गुणसप्तक चिंतनीय हैं। कैसे होते हैं परमात्मा के प्रवचन जानते हो - **सच्चमणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं नेयाउयं संशुद्धं सलकत्तणं -** ये सात लक्षण युक्त परमात्मा के प्रवचन होते हैं। देशना का पहला लक्षण सच्चं हैं। सच्चं अर्थात् सत्य कितना अजीब लगता हैं यह कथन। भगवान के वचन सत्य होते हैं ये कहने की बात हैं क्या? भगवान के वचन सत्य होते हैं इसलिए हम सुनते हैं। सत्य सबको प्रिय होता हैं परंतु सत्य का प्रवर्तन दुर्लभ होता हैं। कई लोग कईबार ऐसे कहते सुनाई देते हैं कि मुझे कोई झूठ बोलता हैं तो सहन नहीं होता, मुझे झूठ से सख्त नफरत हैं। कोई झूठ बोलता हैं तो मुझे गुस्सा आता हैं। ऐसे कई कथन आपको सुनाई देते होंगे तो कभी आप खुद इसका प्रयोग करते होंगे। ऐसे हम स्वयं को सत्यप्रिय मानते हैं। वास्तव में सब ऐसा कहते हैं परंतु सत्य बहुत महान हैं। शास्त्र में कहा हैं - **सच्चं खलु भगवया ।** सत्य ही भगवान हैं। भगवान ही सत्य है। भगवान स्वयं सत्य स्वरुप हैं। इसीलिए भगवान संसार में सत्य प्रगट कर सकते हैं।

ऐसे सत्य स्वरुप होने के कारण परमात्मा अनुत्तर कहलाते हैं। स्वयं अनुत्तर होते हैं और उनकी देशना भी अनुत्तर होती हैं। अनुत्तर अर्थात् श्रेष्ठ। उत्तर अर्थात् जवाब समाधान। भगवान की अंतिम देशना जो सोलह प्रहर तक चली थी उसका नाम उत्तराध्ययन सूत्र हैं। उत्तर का अध्ययन अर्थात् उत्तराध्यन। यह ऐसा शास्त्र हैं जिसमें सारे समाधान भरे हुए हैं। कोई भी प्रश्न हो इसमें उत्तर आवश्यक हैं। उत्तर का अन्य अर्थ दूसरा भी होता हैं। जैसे उत्तरासन के पहले पूर्वासन होता है। इसीतरह उत्तरक्रिया के पहले पूर्वक्रिया होती है। मृत्यु के बाद की जानेवाली क्रिया को उत्तरक्रिया कहा जाता हैं। जीवन में की जानेवाली क्रिया पूर्वक्रिया है। विवाहादि कार्यक्रम में कंधे के उपर रखे जानेवाले वस्त्र का नाम उत्तरीय वस्त्र है। सामायिक सूत्र में एक सूत्र का नाम **तस्स उत्तरीकरणेणं** हैं। इसमें तस्स शब्द इर्यावहिया सूत्र का पूर्वीकरण का सूचन है। जो भी पूर्वदोष है उसका उत्तरीकरण करने स्वरुप यह विधानसूत्र है। सारे उत्तर समा जाए उसे अनुत्तर कहते है। अनुत्तर का अर्थ हैं जिसके बाद अब किसी ओर के कथन की आवश्यकता नहीं हैं। देशना के उपरांत अन्य परमवचन कोई नही होता। देशना के शब्द मंत्र माने जाते है। जो शब्द परमशब्द बन जाते हैं वे शब्द अनुत्तर हो जाते है। पुच्छिसुणं में परमात्मा के धर्म को अनुत्तर धर्म कहा गया हैं।

परमात्मा धर्म की देशना देते हैं, नेतृत्त्व करते है उसके साथ साथ उनकी उदीरणा करते हैं। हम सुनते हैं तो हमारे कर्म की निर्जरा होती है। धर्म प्रभु का और कर्म की देशना हमारी ऐसा जिनेश्वर के सिवा और किस के साथ हो सकता है। इसीकारण परमात्मा को धम्मनायगाणं कहा हैं। एकबार श्रावस्ती नगरी में परमात्मा महावीर पधारे। तब नगरी के धर्मिष्ठ, धनाढ्य और धेर्यवान शंख-पोखली आदि श्रावक प्रभु के दर्शनार्थ पधारे। दूसरे दिन पाक्षिक अमावस्यापर पौषधादि अनुष्ठान करना चाहिए ऐसा प्रभु का संदेश सुनकर सभी मित्रोंने पौषध करने का निर्णय किया। शंख श्रावक ने पौषध से पूर्व अच्छे भोजन के लिए सबको एक साथ भोजन का निमंत्रण दिया और कहा अच्छा आहार कर के हम सब कल पौषध करके धम्म जागरणकर अपना समय सफल करेंगे। शंख की बात सबको जच गई। भोजन तैयार हुआ। सब एकत्रित होकर शंख की प्रतीक्षा करते थे। पौषध के लिए आतुर शंख के मन में भगवान महावीर का पुष्टिकरणं पौषधं का चिंतन चल रहा था। पौषध आत्मपुष्टि के लिए होता हैं और भोजन देहपुष्टि के लिए होता है। आत्मपुष्टि के लिए देहपुष्टि को पुष्ट करना या उत्तेजित करना और आरंभ-समारंभ पूर्वक भोजन करना अनुचित हैं। ऐसा विचार कर पत्नी को सूचना देकर वे पौषधशाला में चले गए।

शंख के भोजन में नहीं पहुंचनेपर पोखली श्रावक उनके घर पहुंचे। पत्नी उत्पला से शंख के बारे में पूछा। सत्य बात का पता लगनेपर उसके मन में शंख के प्रति उलाहना के भाव प्रगट हुए। प्रात:काल शंख जब प्रभु के समवसरण में पहुंचे अचानक वहाँ पोखली भी पहुंचा। सभी मित्रों ने मिलकर भगवान से कहा प्रभु ! शंखने हमारे साथ धोखा किया है। अत: वह निंदनीय हैं। प्रभु ने कहा वत्स ! शंख निंदनीय नहीं अनुमोदनीय हैं। उसने प्रमाद निद्रा का त्याग कर रात्रि में धर्म जागरणा की हैं। सुदृष्ट जागरिका नाम का जागरण किया है। यह जागरण कपटमयी नहीं धर्ममय था। परमात्मा का कथन सुनकर शंख श्रावक से सभी मित्रों ने क्षमा याचना की

तब गौतम प्रभु ने पूछा, भगवन ! सुदृष्ट जागारिका किसे कहते हैं? प्रभु ने कहा गौतम ! जागरिका तीन प्रकार की होती है बुद्ध जागरिका, अबुद्ध जागरिका और सुदृष्ट जागरिका। केवलज्ञानी भगवंतों की बुद्ध जागरिका (अप्रमत्तता) कहलाती है। शेष असर्वज्ञ मुनियों की अप्रमत्तता अबुद्ध जागरिका तथा तत्त्वज्ञ श्रावक का धर्मचिंतन सुदृष्ट (सुदर्शन) होने से सुदृष्ट जागरिका कहलाती है।गौतम स्वामी ने प्रभु से आगे पूछा, भगवान ! शंख आपके पास साधु बनेगा? तब प्रभु ने कहा, नहीं बनेगा। यहाँ से प्रथम स्वर्ग में जाएगा और वहां से महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर मोक्ष जाएगा। यह है प्रभु के नेतृत्त्व का प्रभाव ।

आपने कभी अनुभव किया होगा कि मेले आदि में माँ बच्चे का हाथ पकडकर घुमती है। तब बच्चा माँ की उँगली नहीं पकडता हैं पर माँ बच्चे की पकडती हैं। पकड जोरदार होते हुए भी अधिक गर्दी के समय में खींच कर भी बच्चे को आगे लेती हैं। इसे कहते हैं नेतृत्त्व। नेतागीरीवाला नेतृत्त्व नहीं हैं यह। यह हैं जिम्मेदारी पूर्वक आगे बढाना। **नि नयति** अर्थात् जिम्मेवारी पूर्वक ले जाना। गुजराती में दोरना कहते हैं। गुजराती में कहावत भी हैं, **दिकरी ने गाय दोरे त्यां जाय** । जैसे गाय और बेटी स्नेह और संरक्षण के साथ दोरी जाती है वैसे ही समर्पित साधक को मोक्षतक परमात्मा ले जाते हैं।

सिद्धिगईनामधेयं ठाणं संपत्ताणं। जबतक सिद्धि गति प्राप्त न हो, जब तक मोक्ष की अवस्था प्रगट न हो तब तक परमात्मा हमें मार्ग सहायता प्रदान करते हैं।

आपको एक कथा का ध्यान होगा कि एक देव ने एकबार भगवान की देशना सुनकर पूछा था कि भगवान मृत्यु के बाद मेरी कौनसी गति होगी? भगवान ने कहा, वत्स! तुम यहाँ से मरकर बंदर का अवतार लोगे। उत्तर सुनकर देव उस भव को सार्थक करने का चिंतन करने लगा। देव ने जंगल के प्रत्येक पत्थरपर **नमो अरिहंताणं धम्मनायगाणं** मंत्र का आलेखन करवाया। आयु पूर्ण करके जंगल में बंदर बना हुआ वह इतस्ततः यहाँ वहाँ घूमता रहा। ऐसा करते हुए उसकी नजर पत्थरोंपर लिखे हुए अक्षरोंपर गयी। लिपि तो पढ नहीं सकता था परंतु पूर्व जन्म के संस्कार जागृत हो गए। शब्द के अक्षरों की लिपि नहीं पढ सकने वाला बंदर आत्मा की अक्षर लिपि को पढने लगा। तुरंत ही पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। देवभव और उसके पूर्वभव की चंचल वृत्ति को याद करते ही उसने बंदर वृत्ति का त्याग कर अनशन के साथ मंत्र स्मरण पूर्वक परमतत्त्व को नेतृत्त्व करने के लिए **नमो अरिहंताणं धम्मनायगाणं मंत्र** का स्मरण करते हुए आयुष्य पूर्णकर मनुष्य जन्म पाया। वहाँ धम्मनायगाणं का प्रत्यक्ष प्रतिबोध प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त किया।

लोकालोक में रहते हुए जीवंत श्रृष्टि में इसतरह के ऐसे कइ उदाहरण प्राप्त होते हैं जिसमें जिनवचन, जिनाज्ञा, जिनेश्वर का सान्निध्य आदि नेतृत्त्व स्वरुप बनकर जीव को प्रोत्साहित और प्रतिबोधित करते हैं।

नमोत्थुणं धम्मनायगाणं

नमोत्थुणं धम्मनायगाणं

नमोत्थुणं धम्मनायगाणं

नमोत्थुणं - धम्मसारहीणं

जो साथ रहकर स्थिरता तक साथ निभाते हैं उन्हें सारथि कहते हैं।
जो धर्म के सार को हित के साथ प्रदान करते हैं उन्हें धर्म सारथि कहते हैं।

तीर्थ की स्थापना कर परमात्मा नायकत्त्व निभाते हैं। तीर्थ देकर नायक बनते हैं। तीर्थ में तत्त्व देकर प्रभु सारथि बनते हैं। तत्त्व रथ हैं उसे धर्म सारथि चला सकते हैं। सारथि पाच प्रकार से काम करते हैं। चालन, पालन, पोषण, रक्षण और नियंत्रण। गाडी चलाते समय ड्रायव्हर जैसे गाडी को चलाता है। चालन की इस प्रक्रिया में वह उसका पालन करता है। पोषण करता है। रक्षण करता है और जब आवश्यकता रहती हैं तब ब्रेक लगाता हैं अर्थात् नियंत्रण करता हैं रोकता है।

आपको पता हैं माहाराजा श्रीपाल जन्म से और कर्म से राजकुमार थे। कुछ ऐसा चालन हुआ अचानक सबकुछ बदल गया। जमीन, जायदाद, राज्य, परिवार सबकुछ छूट गया। केवल मात्र माँ के साथ जंगल में भटकना पडा। पर उन्हें वहाँ मिले परमात्मा। कर्म का चालन और परमात्मा का चालन और पालन साथ साथ चलने लगे। जंगल में भी वे मंगल का अनुभव पा रहे थे। कुष्ठ रोग में भी समाधि भोग रहे थे। बिना राज्य-घर-परिवार के भी राजकुमारी से शादी हो रही थी। धवल शेठ के द्वारा बार बार मारने के प्रयोग में भी रक्षण हो रहा था। इतिहास में ऐसे कई उदाहरण हैं जो इस बात का दावा करते हैं कि जिनकी गाडी के सारथी परमात्मा होते हैं उनका जीवनरथ निरंतर प्रशस्त रहता हैं।

इसके लिए सर्वथा समर्पण जरुरी हैं। केवल मात्र कुछ पैसे खर्च कर आप रेल, प्लेन या टेक्सी की टिकट लेते हैं तो भी अपने अमूल्य जिंदगी को ड्राईव्हर के भरोसे कर देते हैं। सारी जिम्मेवारी ड्राईव्हर के उपर होती हैं। इसीलिए गुरुदेव दीक्षा के समय दीक्षार्थी को कहते हैं कि शासन में तुम्हें ड्राइव्हर बनकर जिना हैं। बस में पच्चास प्रवासी हो और वे सो रहे हो तो चलता हैं पर एक ड्राइव्हर को जगना जरुरी होता हैं। ड्राइव्हर जाग्रत हैं तो प्रवासी सुरक्षित हैं। इसीतरह शासन को जाग्रत रखने के लिए तुम्हें हंमेशा जागते रहना होगा।

संयम जीवन की प्रथम रात में विचलीत हुए मेघमुनि ने जब संसार में वापस लौटना सोचा तब समस्त साधना मंडप में उन्होंने देखा तो करीब करीब संतमुनि जग रहे थे। कोई स्वाध्याय करता था तो कई ध्यान और चिंतन में लीन थे। उन्हें तुरंत याद आया दीक्षा के समय गुरु गौतम ने उन्हें कहा था वत्स! जितना अधिक जग सको आपको जगना हैं। जगत् को जगाना हैं। आप आज नूतन दीक्षित हैं इसलिए आपको विश्राम करने की इजाजत हैं। पर मुझे कहाँ निंद आती हैं। आएगी भी कहाँ से? संथारा पतला और परिभ्रमण करते हुए मुनिराजों की चरणरज से संस्लिष्ट हैं। मुझे आदत भी तो नहीं हैं जीवनभर यह सब सहना बहुत मुश्किल हैं। कहाँ जानते थे मेघमुनि कि जीवन की जिस नई गाडी में आज वे बैठे हैं उस गाडी के सारथि स्वयं भगवान महावीर हैं। गाडी में बैठने के बाद गाडी कैसी चलानी, कितनी तेज चलानी आदि सब ड्राइव्हर के हाथ में होता हैं।

जंयती श्राविका ने एकबार भगवान महावीर से पूछा था प्रभु ! जीव का सुप्त रहना अच्छा या जाग्रत रहना अच्छा? परमात्मा ने कहा, जो व्यक्ति धर्मनिष्ठ हैं, बलवान हैं, उद्यमि हैं उनका जाग्रत रहना अच्छा हैं। क्योंकि वे जाग्रत रहेंगे तो अन्य को भी जाग्रत, उद्यमि और धर्मनिष्ठ बनाएंगे। चालन अर्थात चलाते रहना। पालन अर्थात् पालते रहना। जैसे माँ बच्चे का पालन-पोषण करती हैं। जैसे गर्दभाली मुनि ने संभ्रांत एवं भयभीत मृगों की पालना प्रतिपालना करके उन्हें आरक्षित किए थे। भगवान महावीर ने चंडकौशिक की पालना कर उसे सर्प में से देव बनाया था। मार्ग से पतित होने का पता होनेपर भी नंदीषेण को दीक्षा देकर आत्मा को संयम से पुष्ट किया था। राजकुमारी पद से च्युत होनेपर दासी आदि बनी हुई चंदना के अंतरभावों का चालन करने में पवित्रता की पालना करने में पुण्यभावों की पुष्टि करने में राजमार्ग का रक्षण कर शासन की प्रथम स्वामीनी बना दी।

शास्त्रकार कहते हैं, धर्म सारथि आकाशवत् निर्लिप्त होते है, अलिप्त रहते हैं। जैसे आकाश में कोई प्रतिक्रिया नहीं होती वह निरंतर निर्लिप्त रहता है। चाहे बिजली चमके, चाहे इन्द्रधनुष्य निर्मित हो, सूर्य चमको या बादल छा जाए आकाश सदा शुद्ध रहता है। आप सोचते होंगे निर्लिप्तता का क्या अर्थ होता हैं? घर, परिवार, राज्य आदि तो दीक्षा के समय ही वे छोड चुके होते हैं। अब धर्म शासन प्रवर्तना में निर्लिप्तता अलग क्या हैं? परमात्मा के निर्लिप्तता जाननेवाली, माननेवाली और अनुभव करनेवाली होती हैं। संसार में कोई भी व्यक्ति कुछ निर्माण करते हैं तो उसे वे अपना मानते हैं। संस्था, शास्त्र, शिष्यसंपदा आदि को अपना मानते है। तीर्थंकर प्रभु तीर्थ की रचना करके यह तीर्थ मेरा हैं इसलिए मुझे इसपर शासन अनुशासन करना हैं। इसमें प्रकाश और विकास करना हैं। ऐसे कोई विकल्प नहीं करते हैं। माली जैसे किसी उपवन को सजाता संवारता हैं परंतु उसे वह कभी अपनी मालिकी का नहीं मानता हैं। किसी शेठ ने पाँच पंद्रह लाख की गाडी खारिदी हो, स्वयं को गाडी चलाना न आता हो तब पाँच पंद्रह हजार की तनखाह देकर ड्राईव्हर रखता हैं। हमेशा गाडी चलाते रहनेपर भी ड्राइव्हर गाडी को कभी अपनी नहीं मानता हैं। व्यवहार का यह उदाहरण हमें प्रश्न का उत्तर समझा देता हैं बाकी तो परमात्मा की महिमा अपरंपार हैं। उनका निर्लेपभाव अतिउत्तम कोटी का होता हैं।

शास्त्रों में कथित चार रेखांकनों का आपको पता होगा पत्थर पर रेखा अंकित करनेपर उसे मिटाने में हजार वर्ष लगते हैं। रेतपर किया गया रेखांकन पवन के झोंके से मिट जाता है। पानी में की गई रेखा का करते करते अस्तित्त्व मिट जाता हैं। परंतु आकाश में रेखा होती ही नहीं अत: मिटाने का सवाल ही नहीं उठता। परमात्मा की चेतना समस्त संक्रमणों के प्रभाव से रहित होती हैं। इसीकारण वे अनंत चेतनाओं के जीवन के रथ के सारथि बनकर मोक्ष मार्गतक पहुंचाने में सफल रहते हैं।

यात्रा का प्रारंभ गुरु से होता हैं। गुरुपद हमारे एकदम करीब होता हैं। यह पद प्रथम होते हुए भी अंतिम पडाव तक साथ रहता हैं। गुरु के साथ की यह यात्रा अप्रतिबंधित होती हैं। हम स्वयं कितने भारी हैं या हमारे साथ कितना भार लदा हैं इसके बारे में हमारे साथ कोई विवाद नहीं। एकदम प्रेम से स्वीकारा गया यह संबंध इतना गहन भी होता हैं कि हमारी जटिल हरकतो से होनेवाली गाडी या यात्रा में होनेवाली मुसीबतों में भी वे पूर्ण साथ देते हुए

यात्रा को आगे खेंचते हैं। समय बीतने पर समस्याएँ जब बढ जाती हैं या यात्रा बोझिल और भारी भरकम हो जाती हैं तब यात्रा का वहन उपाध्याय के हाथों में आता हैं। स्वाध्याय और शिक्षा दीक्षा द्वारा यात्रा को सहज बनाने की कला उपाध्याय के हाथों में होती हैं। बोझिल यात्रा को उपाध्याय सहज तो कर देते हैं परंतु कभी कभी भार तकलीफ देता ही हैं। ऐसे में अनुशासन लेकर आते हैं आचार्य। अनुशासन समाचारी आदि अनेक अनुष्ठानों के द्वारा वे पहले तो बोझा हलका करा देते हैं। इससे यात्रा काफी सुलभ हो जाती हैं। परंतु निर्वाण स्थितितक पहुंचने के लिए परमपुरुष की खोज जारी रहती हैं। यात्रियों की योग्यता और पारिणामिकता देखते हुए अरिहंत परमात्मा गाडी की बागडोर अपने हाथ में लेकर धीरे धीरे यात्रा को गतिमान करते हुए प्रगति के पथ पर आगे बढाते हैं। इन भावों को व्यक्त करती हुई एक गुजराती गीत की कडी हमें यहाँपर सक्रिय करती हैं।

हरि हळवे हळवे हंकारे मारु गाडु भरेल भारे।
हो मारु गाडु भरेल भारे।।

जब तक हमें सिद्धत्त्व प्राप्त न हो तब तक अरिहंत परमात्मा हमारी इस अध्यात्म यात्रा में यात्रा का वहन करते हैं।

धर्म सारथि को समझने और पहचनाने के लिए हमें स्वयं का सारथि के साथ संबंध जोडना होगा। इस संबंध योजना में हमें पाँच प्रणाली को अजमाना पडेगा। १. जिस रथ को प्रभु चला रहे हैं उसमें आरुढ होने के लिए हम कितने तत्पर हैं तैयार हैं। २. कहाँपर खडे रहकर रथ की प्रतिक्षा कर रहे हो? जैसे रेल पकडने के लिए रेल्वे स्टेशनपर और बस पकडने के लिए बसस्टॉप पर जाना पडता हैं। कोई भी बस या ट्रेन प्रवासी को लेने घर पर नहीं आती। हमें भी अपना साधना का स्थान नक्की कर लेना चाहिए। ३. प्रतिप्रवास के साधनों की समयसूचकता निर्धारित होती है। उसी तरह हमें भी समयसूचकता के साथ बरतना चाहिए। कहीं ऐसा न हो हमारे आलस प्रमाद और उपेक्षा से अनभिज्ञ हो और स्टँडपर पहुंचने के पहले ही गाडी चल चुकी हो। ४. जहाँपर हमें जाना हैं क्या उसकी योग्यता अर्हता और सामर्थ्य के लिए हम तैयार हैं? कही ऐसा तो नहीं हैं कि हमें अपने गंतव्यका ही पता न हो। ५. यदि हम रथपर सवार हो चुके हैं तो हमें सारथीपर पुरा भरोसा हैं न ? हम अपनी यात्रा का पूरा आनंद ले रहे हैं या नहीं? साधारण यात्रा में कुछ लोग अपनी सीटपर आरुढ होकर सो जाते हैं। जब उनका निश्चित स्थान आता हैं तब आसपास के लोग उन्हें जगाकर स्टेशन आने जाने की सूचना देते हैं। इसतरह इन पाँच बातोंपर चिंतन करने से हमें अपने और सारथी के बारे में पहचान होगी और दोनों के बीच में संबंध भी स्थापित होगा।

आज हम पूर्ण जागृति पूर्वक इस अध्यात्मयात्रा में सामील होकर शासन की संयोजना में शासनपती सारथी की संगत में अपनेआप को जोड लेते हैं। उपरोक्त पांचों बातों का ध्यान रखते हुए अनुभूतिपरक यात्रा का आनंद लेते हैं। सारथि की बात आती हैं तब हमें हालिक किसान याद आ जाता हैं। एकबार भगवान महावीर ने अंतेवासी गौतमस्वामी को एक किसान को प्रतिबोधित करने के लिए भेजे थे। भगवान का मेसेज लेकर वहाँ पहुंच गए। किसान हल चला रहा था। कुछ न कहते हुए सिर्फ टिकटिकी लगाकर पृथ्वी, हल और किसान को देखते रहे। बस देखते ही रहे। किसान का भी ध्यान गौतमस्वामी की ओर गया। कभी न देखा हो वैसा अद्भुत रुप वात्सल्य झरती सौम्य मुद्रा जैसे कोई अति परिचीत भवांतर से संबंधित हितचिंतक भगवत् स्वरुप मुनिपुंगव को देखकर

किसान हालिक हिल गया। हल रुक गया। साक्षात पुण्य सामने खडा है। मैं जो कर रहा हूँ वो पाप क्रिया है ऐसा अनुभव उसे होने लगा। अपलक नेत्रों से वह गौतमस्वामी को देखने लगा। मधुर स्वर में गौतमस्वामी ने कहा, **संबुज्झमाणे, आयाणीयं समुट्ठाए ... उम्मुच्चपासं इह मच्चिएही आरंभजीवी उभयाणुपस्सी।** भद्र ! इस लोक के सारे बंधनों को त्याग दो शारीरिक और मानसिक दोनों दु:खदायी इस आरंभ को छोड दो वत्स ! यह त्यागने का आपका अवसर आ चुका हैं। स्वयं भगवान महावीर ने इस जागरण का तुम्हें संदेश भेजा हैं। परमात्मा की शक्ति और स्वयं के सत्त्व के साथ निकले गौतम स्वामी के इन शब्दों के प्रभाव ने अपना स्वभाव प्रगट किया और गौतमस्वामी के आत्मवैभव से मुग्ध हालिक ने हलादि शस्त्रों को फेंक दिया। झुक गया श्री सद्गुरु के चरणों में। स्वयं को भाग्यशाली मानने लगा। बोध का स्वीकार किया अबोध टुट गया। संबोध जग गया। गौतमस्वामी ने कहा वत्स ! **अहियाए अबोहिए।** अबोध अहित का कारण हैं। स्वयं लोगहियाणं आपको जाग्रत कर रहे हैं अत: **आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभयं।** भद्र इस आज्ञा को समझकर भय से मुक्त हो जाओ।

परमात्मा के चरणों में नमस्कृत होकर पवित्र होने के लिए चल पडा प्रभु महावीर की शरण में। अब देखिए कथा कैसा मोड ले रही है। सद्गुरु के साथ हालिक चला सत्स्वरुप के पास। दोनों पहुंचे जहाँ भगवन् बिराज रहे थे दूर से ही प्रभु को बिराजीत देखकर गौतम स्वामी ने निर्देश किया देखो ये हैं मेरे भगवान और तुम्हारे गुरु। प्रभु को देखकर निश्चल होने के बजाय विचलित हो गया हालिक। विव्हलता से गौतम स्वामी के समक्ष देखकर पूछा क्या यही हैं तुम्हारे गुरु? जिनके बारे में आप इतना कथन कर रहे थे। यदि ऐसा ही हैं तो मुझे न चाहिए तुम्हारा आदेश और उपदेश । न चाहिए तुम्हारा मार्ग और मोक्ष। वह सब सामान वहाँ छोडकर तेजी से भग गया। अचरज से गमगीन बने गौतम स्वामी प्रभु महावीर को प्रश्न करते हैं, प्रभु ! ऐसा क्यों हुआ, अब कैसे होगा इसका कल्याण ?

परमात्मा इस उहापोह को जानते थे। भूत, भविष्य और वर्तमान घटीत घटना के सारे संबंध प्रभु की नजर के समक्ष थे। आश्चर्य तो इस बात का हैं कि जानते हुए भी प्रभु ने गौतम स्वामी को प्रतिबोधित करने क्यों भेजा ? इसका उत्तर भी भगवान ने गौतम स्वामी को दे दिया। वत्स ! तुम्हारी प्रतिध्वनि, प्रतिबोध और प्रतिक्रमण निरर्थक नहीं हुआ है। आकर लौटा हुआ हालिक सम्यक दर्शन पाकर गिरे हुए उस हालिक का संसार अर्धपुद्गल परावर्त काल के अंदर का हो गया। अत: गौतम निश्चिंत रहो। कर्मपरिणती विचित्र हैं, विविध हैं और विषम हैं। गौतम स्वामी ने प्रभु से पुछा प्रभु ! ऐसा क्यों ? परमात्मा ने कहा इसमें हमारे पूर्वजन्म की आत्मकथा का रहस्य हैं । नवभव के पूर्व मैं त्रिपुष्ठ वासुदेव था। तू मेरे रथ का सारथि था। एक बीहड वन में शिकार को गए थे। एक सिंह को मैंने जबडे से फाड डाला था। तडपते हुए सिंह की आँखों में आँसू थे। मरते हुए सिंह को रोता हुआ देखकर तुम सारथि ने उसे पहचान लिया था कि ये सिंह के अहं को ठेस पहुंची हैं। तब तुमने उसे आश्वासन दिया हे सिंह! चिंता न करो। तुम्हारा शिकार किसी सामान्य प्राणी से नहीं मानव सिंह से हुआ हैं। शिकार करनेवाला राजा त्रिपुष्ठ वासुदेव हैं। भवांतर करता हुआ वही सिंह आज हालिक बनकर सामने आया था। तुम से आश्वस्त वह सिंह आज हालिक बनकर तुमसे प्रतिबोधित हुआ और मुझे देखकर पुन: प्रत्यारोपित हो गया पर जाते जाते वह समकित पा गया। इसके जीवन रथ के तुम सारथि हो मैं धर्मसारथि हूँ। अत: यह समयांतर में सिद्धत्त्व को प्राप्त करेगा।

एकबार परमात्मा के चरणों में समर्पण करके तो देखो हमारे अपूर्ण होते हुए भी पूर्ण परमात्मा हमें पूर्ण प्रेम नजर से देख रहे हैं। किसतरह हमें सिद्धत्त्व प्राप्त हो उसकी पूर्ण जिम्मेवारी अपनेपर लेते हैं। महाभारत के युद्ध की एक घटना आपको याद होगी। युद्ध विराम के बाद श्रीकृष्ण दोनों पक्षों की छावणी में जाते थे। एकबार उन्होंने शाम को कौरव पक्ष में देखा की भिष्म पितामह ने यह प्रतिज्ञा ली कि कल के युद्ध में या तो मैं नहीं रहूँगा या तो अर्जुन नहीं रहेगा। शिघ्र ही श्री कृष्ण अर्जुन के पास पहुंचे जो आराम से सो रहे थे। उन्हें जाते ही जाग अर्जुन जाग कहकर अर्जुन को उठाया। घबराया हुआ अर्जुन उठा और बोला प्रभु क्या हुआ? सब घटना बताते हुए श्री कृष्ण ने कहा शत्रु पक्ष में सब जग रहे हैं। कल के युद्ध की योजनाए बन रही हैं और तुम निश्चिंत होकर सो रहे हो। तब अर्जुन ने कहा प्रभु! आप जग रहे हो न। मुझे जगा भी रहे हो। भक्त सोता हैं तो चलता हैं क्योंकि भगवान सदा जगते रहते हैं। भक्त की गाडी चलाते रहते हैं। एक बार भगवान को अपनी इस भव भवांतरों की जीवन यात्रा के सारथि के रुप में स्वीकारलो। यह स्वीकारना ही समकित हैं। सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु तक वे आपका साथ देंगे।

नमोत्थुणं यह इस गाडी का रिर्झवेशन है। नमस्कृत्य को नमस्कार करना, नमोत्थुणं की स्तुति करने से सारथि के साथ के संबंध बनते हैं। नमस्कृत्य को नमस्कार करना समकित हैं और नहीं करना मिथ्यात्त्व हैं। इसतरह जो नमस्कृत्य नहीं हैं उनको नमस्कार करना मिथ्या हैं। इस मिथ्या का परिणाम वनस्पति में परिभ्रमण हैं। वनस्पतिकाय का मस्तक नीचे और पाँव उँचे होते हैं। उनका स्पायनल कोड उलटा होता है। ज्ञानी के साथ या परमतत्त्व के साथ वक्रता से नहीं बरतना चाहिए। इससे तिर्यंच गति में गमन होता हैं। आप तिर्यंचों को देखो उनका स्पायनल टेढा होता हैं। सरलता और समर्पण का परिणाम मनुष्य जन्म है। मनुष्य का माथा उपर और पाँव नीचे होता है। उसका स्पायनल कोड एकदम सीधा होता है। मनुष्य स्वयं टेढा मेढा बैठकर, खडे रहकर या चलकर अपने स्पायनल को टेढा करता है। उँची सोच उँचे विचार परम के साथ का अनुसंधान यह सब सीधेस्पायनल का परिणाम है। इन्हीं सब कारणों से सभी गतियों में मनुष्य गति श्रेष्ठ हैं।

हम अपूर्ण हैं फिर भी हमें पूर्णत: देखनेवाले भगवान पूर्ण हैं। ऐसा जानकर हम प्रसन्न है। अन्य हमें जिस दृष्टि से देखते है हम वैसे ही होते हैं। हम जिस दृष्टि से दूसरों को देखते हैं वह वैसा बनता है। इसिलिए गुणानुरागी बनना चाहिए। अरिहंत परमात्मा हमें पूर्ण दृष्टि से देखते हैं। अन्य सर्व हमें अपूर्ण देखते हैं। जो अपूर्ण है वे हमारे कर्म बंधन के कारणरुप है। संसार बढाने में और कर्मवृद्धि में निरंतर सहाय करते है। सारहिणं शब्द के दो अर्थ होते है। पहला अर्थ होता हैं **सारथि** अर्थात् चलानेवाला। दूसरा अर्थ होता है स्वार्थी। स्वार्थ शब्द के दो अर्थ हैं - इसमे दो शब्द निहित है **स्व + अर्थ** । अर्थ शब्द के दो अर्थ होते है। अर्थ अर्थात् संपत्ति, धन, वैभव। दूसरा अर्थ **के लिए।** स्व के लिए स्वार्थ और पर के लिए परमार्थ। स्वयं के लिए और दूसरों के लिए। परमात्मा पर के लिए स्व की चेतना का विस्तार करते हैं। इसलिए परमात्मा का स्वार्थ परमार्थ में परिणमित हो जाता है। स्व + अर्थ = स्वार्थ में जब व्यक्ति स्वयं के परमार्थ के लिए प्रयास करता है तब विकास की यात्रा का प्रारंभ होता हैं। इसे कर्मक्षय की यात्रा कहते है। इससे अतिरिक्त स्व + अर्थ = स्वार्थ अर्थात् दूसरों का नुकसान करके स्वयं का लाभ करना। धन

संपत्ति वैभव के लिए उचित अनुचित जो भी करना पडे सदा तत्पर रहना स्वार्थ है। ऐसे व्यक्तियों को कम्मसारहिणं कहेंगे।

धम्मसारहिणं हमें कम्मसारहिणं से बचाकर हमारी धर्म यात्रा का धारण, पालन, चालन करते है, संचालन करते है। मोक्षतक की यात्रा का वहन करते है। आज उन्हें नमस्कार करके विनंती करते हैं। प्रभु आज तेरे इस धर्मरथ पर आरुढ हो रहा हूँ। मैं बहुत भरा हुआ हूँ। बहुत भारी हूँ। तू अगुरुलघु स्वभाव वाला है। फिर भी हमें इस रथपर आरुढ होने का अवसर दिया, आज्ञा दी इसलिए आभार मानते है। रथपर आरुढ होकर हम अपने आपको, आसपास के वातावरण को और हमारे रथ के उन सारथि को जिन्होंने हमारी इस कठिन यात्रा की ज़िम्मेवारी ली हैं उन्हें हम ऐंजॉय करते हैं। निरंतर उनके साथ रहने का सुअवसर और सौभाग्य प्राप्त हुआ है उसका पूर्णत: लाभ लेते हैं। पूर्ण जागृति पूर्वक अपनी इस अध्यात्म यात्रा में शामिल होकर शासन की संयोजना में शासनपति सारथि के साथ संयुक्त हो जाते हैं। अनुभूतिपरक यात्रा का आनंद लेते हुए आइए चतुष्पथ पर पहुंचते हैं। चारों ओर से पूर्णत: सर्वत:भद्र का आनंद लेते हुए नमोत्थुणं धम्मसारहिणं का कीर्तन करते हैं।

नमोत्थुणं धम्मसारहिणं... नमोत्थुणं धम्मसारहिणं... नमोत्थुणं धम्मसारहिणं...

नमोत्थुणं -धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं

धम्मदयाणं में परमात्मा धर्म का दान करते हैं। दान व्यवस्था में दाता देकर छूट जाता हैं।
धम्मदेसियाणं में परमात्मा देशना देकर आत्मा के देश-प्रदेश तक पहुंचकर शुद्ध करते हैं।
धम्मनायगाणं में परमात्मा नेतृत्त्व करते हैं। चलाते हैं। गलती करनेपर सुधारते हैं।
धम्मसारहिणं में परमात्मा प्रेम से चलाते हैं। थकते हैं तो रथ में बैठाकर मोक्ष तक पहुंचाते हैं।
धमवरचाउरंतचक्कवट्टीणं में परमात्मा आत्मसमृद्धि से भर देते हैं और चार कषाय-गति आदि का अंत करने में सहायता करते हैं।

यह संसार अस्तित्त्व और अनुभवों का अनवरत चक्र है। यह निरंतर चलता ही रहता है। इसी कारण यहाँ जीवन कभी न रुकता है न कभी हारता है बल्कि निरंतर चलता ही रहता है। अचल तो है सिद्धचक्र। जो करता है चारोंगतियों का अंत। जो है अनंत। करता अनंत। देता अनंत। अनंत का न कभी अंत अत: उन्हें कहते है भगवंत । अनंत की इस यात्रा में अनादि काल से कुछ ऐसे घटक हैं जो हमें अनंत तक पहुंचने में रोकते हैं। अनंत को प्राप्त करने उनका अंत आवश्यक हैं। वे मुख्य घटक चार हैं। चारगतियों में अनादिकाल से जीव परिभ्रमण करता है। इनके अंत का परिणाम अनंत निर्वाण है। चारों गति में परिभ्रमण करानेवाले कर्म चार घाती और चार अघाती हैं। आनंदघनजी ने घातीकर्मों को पर्वत की उपमा दी हैं। पर्वत के उस पार मोक्ष है। उन्होंने कहा हैं - **घाती डुंगर आडा अति घणा रे... तुझ दरसण जगनाथ।**

सारथि बनकर हमारा धर्मरथ परमात्मा चला रहे हैं। इस धर्म रथ में प्रवेश पाने के पूर्व हम अनेक गाडियों में प्रवास कर चुके हैं। आँखे बंदकर ड्राईव्हर पर भरोसा कर हम संसार में परिभ्रमण करते रहे। बताइए कौन देखता हैं ड्राइव्हरों का लायसन्स, कौन कन्फर्म करता है कि ड्राइव्हर कैसा है? इतने अकस्मात होने पर भी आँख मुंदकर प्रवास करनेवाले प्रवासियों की संख्या कितनी हैं? अनादि काल से परिभ्रमण करते हुए हमें ऐसा धर्मसारथि पुण्य से प्राप्त हुआ। धर्मरथ को चलानेवाले को सारथि के रुप में पहचाननेपर गाडी का मालिक ओर कोई हैं पर आज हम कुछ आगे बढ रहे हैं। सारथि को पहचान लेनेपर हमें अनुभव हुआ कि गाडी का कोई ड्राइव्हर नहीं परंतु स्वयं गाडी के मालिक गाडी चला रहे हैं। जिन्हें हम सारथि समझ रहे हैं वे स्वयं चक्रवर्ती हैं। वे जो अपनी अपार समृद्धि के साथ अनंत ऐश्वर्य के साथ चारों ओर अपनी शासन सत्ता का स्वामित्त्व भुगत रहे हैं। ये चक्रवर्ती वे है जो शासन के स्वामी हैं, सबके अंतर्यामी हैं।

चतुरंत अर्थात् चार अंत, चार सीमाएँ। भरतक्षेत्र के चक्रवर्ती का साम्राज्य भरतखंड की पृथ्वी के चारों सीमाओंतक फैला हुआ होता है। तीनों ओर लवणसमुद्र तक और उत्तर की ओर हिमवंत पर्वत तक। इस तरह भरतक्षेत्र के चारों सीमाओं के अंततक जिनका स्वामित्त्व और शासन होता हैं वे चातुरंत चक्रवर्ती कहलाते हैं। चाउ अर्थात् चार। इस चाउ से ही चातुर शब्द बना है। इसपर से ही चातुर्मास शब्द बना है। वर्षभर में तीन चातुर्मास होते हैं। अषाढ पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक एक चातुर्मास। कार्तिक पूर्णिमा से फाल्गुन पूर्णिमा तक दूसरा चातुर्मास

और फाल्गुण पूणिमा से अषाढ पूर्णिमा तक तीसरा चातुर्मास। चार का अंत अर्थात् जीव की पुनः पुनः प्राप्त होनेवाली नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवता। इन चारों गति और अवस्थाओं का हमेशा के लिए अंत कर देना। धर्मचक्रवर्ती में ये सामर्थ्य हैं और इस सामर्थ्य का कारण है उनका धर्मचक्र। इस अंत में दान, शील, तप आदि धर्मचक्र के द्वारा अंत सहायभूत होते हैं। दान का धर्म परिग्रह संज्ञा का, शीलधर्म इन्द्रियोंकी विषयसंज्ञा का, तप आहारसंज्ञा का और भावनाधर्म कषाय आदि प्रमादसंज्ञा का अंत करने में सहायभूत होते हैं।

धर्म परमात्मा का हृदय हैं। धर्म का प्रारंभ दुष्कृत की गर्हा और सुकृत की अनुमोदना से होता है। सुकृत की अनुमोदना में तीनों लोक के धर्म का अनुमोदन है। सुकृत की अनुमोदना से कही भी होनेवाला सुकृत हमारा सुकृत बन जाता हैं। **नमो अरिहंताणं** मंत्र से सर्वकाल के सर्वक्षेत्रों के तीर्थंकरों के सुकृत की अनुमोदना होती हैं। धर्म स्वयं के करने से होता हैं, करवाने से भी होता हैं और धर्मसुकृत की अनुमोदना से अनेक जन्म के निरर्थक पाप समाप्त होते हैं। अनादिकाल से परिभ्रमण का कारण और क्रम बताता है वह धर्म है। देह में रहकर देहातीत होने की प्रक्रिया प्रदान करे वह धर्म है। भगवान भक्त को कहे तु शुद्ध आत्मा हैं, सिद्ध आत्मा हैं, तू मेरे जैसे ही सहज स्वरुपवाला है। पुरुषार्थ और पराक्रम कर तेरे भीतर छीपा हुआ परमात्मतत्त्व प्रगट हो जाएगा।

एक दिन राजा चक्रायुध ने अपनी पुत्री राजकुमारी प्रभंजना के लिए सुयोग्य राजकुमार हेतु स्वयंवर का कार्यक्रम रखा। स्वयंवर में प्रवेश करने के पूर्व प्रभंजना साध्वी सुव्रता के श्रीमुख से मांगलिक श्रमण करने हेतु उपाश्रय में गयी। साध्वी श्री ने मांगलिक के साथ नमोत्थुणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं का मंत्र दान भी किया। मंत्र का स्मरण और चिंतन करतें हुए प्रभंजना स्वयंवर और धम्मवर पर चिंतन करते हुए चारों गतियों का अंत करनेवाले धर्मचक्रवर्ती का स्मरण करने लगी। स्वयंवर का प्रारंभ हुआ। चारों ओर राजकुमारों को देखती हुई प्रभंजना निरंतर संसार के बारे में सोचने लगी। यह स्वयंवर चर्तुगति के भवरुप है। परमात्मा मेरे भावरुप उपास्य है। चर्तुगित का अंत करनेवाले धर्मचक्रवर्ती की देशना की स्पर्शना मुझे निरंतर संसार विराम का और भव के पूर्णविराम का संदेश देती है। ऐसा सोचते सोचते राजकुमारी प्रभंजना को स्वयंवर मंडप में ही केवलज्ञान की प्राप्ती हो गयी। स्वयंवर का कार्यक्रम धर्मदेशना में रुपांतरीत हो गया। इस पद का अद्भुत प्रभाव है।

धर्म यह चक्रवर्ती के चक्र की तरह एक चक्र है। चक्रवर्ती का चक्र जिसतरह शत्रुओं की शत्रुता का अंत करता है उसी तरह यह धर्मरुपी चक्र आत्मा के अति भयंकर भावशत्रु अर्थात् आंतरिक शत्रुओं को समाप्त करता है। चक्र के अनेक प्रकार हैं। चक्र वह है जो निरंतर घूमता रहता है।

औचित्य से जो चक्र के साथ वर्तते हैं उन्हें चक्रवर्ती कहते हैं। तथाभव्यत्त्व के बलपर वर बोधि से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक वे वैसे ही वर्तते हैं। वे निरंतर धर्मचक्र से संपन्न होते हैं। आप जानते हो न भगवान महावीर साधना के दूसरे वर्ष में थूणाक सन्निवेश में ध्यान कर रहे थे। उस समय गंगा तटपर उस समय का प्रसिद्ध सामुद्रिक पुष्य पहुंचा था। घूमते घूमते तट पर उसने अंकित चरण चिन्ह देखे और आश्चर्य विभोर हो गया। उसका सामुद्रिक ज्ञान उसे बार-बार प्रश्न कर रहा था कि ये चिन्ह किसी साधारण राजा के नहीं हैं परंतु चक्रवर्ती के होने चाहिए। चक्रवर्ती

और अकेला यह कैसे? चक्रवर्ती और पदयात्री यह कैसे ? चक्रवर्ती और नंगे पैर यह कैसे? यह सब कैसे संभव हो पाता है? गहरे चिंतन के साथ वह सोचता रहा। यदि सामुद्रिक शास्त्र सच्चा हैं तो यह चिन्ह चक्रवर्ती के होने चाहिए। यदि वह चक्रवर्ती नहीं है तो मेरा शास्त्र झूठा है। मैं इस झूठे के साथ समझौता नहीं कर सकता हूँ। इस ज्ञान के द्वारा मैं अपना जीवन यापन नहीं कर सकता हूँ। ऐसा सोचकर वह अपने शास्त्र पानी में डालने लगा। अचानक किसी ने शास्त्रों के साथ उठाया हुआ उसका हाथ पकड लिया। **ठहर जा !! तेरा शास्त्रीयज्ञान अधूरा और अनुभव विहीन हैं। चल मेरे साथ भीतर थूणाक सन्निवेश में। वहाँ तूझे चक्रवर्ती का मिलन करा देता हूँ।** पुष्य मन ही मन प्रसन्न हो गया। चक्रवर्ती और अकेला किसी कारण से आ भी गया तो मैं उसको साथ दूँगा। उसकी सेवा करु ताकि भविष्य में जब इसे चक्रवर्ती पद मिले तो मेरे भी भाग्य खुल जाए। ऐसा सोचकर वह थूणाक सन्निवेश की ओर चलने लगा। थूणाक के परिसर में पहुंचते ही उसने देखा एक भिक्षु राजमहल के अलावा उद्यान में खडा हैं। चक्रवर्ती के स्थानपर एक नग्न भिक्षु को देखकर उसे आश्चर्य हुआ। शरीर के चिन्हों से उसे दृढ विश्वास हो गया कि ये लक्षण सूचित कर रहे हैं कि ये चक्रवर्ती सम्राट है। किंतु समझ नहीं पा रहा हूँ कि चक्रवर्ती श्रमण कैसे? चक्रवर्ती और एकाकी ! नग्न शरीर ! मुंडित सिर ! पुष्य बडी उलझन में फँस गया।

उसी समय भगवान महावीर के दर्शनार्थ आया हुआ इन्द्रराज ने पुष्य से कहा कि, "भाग्य को मत कोस, तेरे शास्त्र सत्य हैं। तेरा सामुद्रिक शास्त्र भी सत्य हैं। पुष्य ! तुमने भगवान को पहचाना नहीं। ये महावीर है। चक्रवर्तियों के चक्रवर्ती हैं। तुम्हारा चक्रवर्ती तो सिर्फ पृथ्वीतक सीमित है। ये तो तीन लोक के चक्रवर्ती है, धर्म चक्रवर्ती है। इनका दिव्य भव्य मुख मंडल तो देख देहांकित १००८ शुभ लक्षणों को भी देख। खोल तेरे ज्ञान चक्षु।" यह सुनकर पुष्य हर्षित हुआ और अपनी अंतश्चेतना से महावीर को देखने लगा।

"इन्द्रराज ! सचमुच, मैं भगवान को पहचान नहीं पाया। चक्रवर्ती केवल छह खंडपर शासन करता हैं। धर्मचक्रवर्ती समस्त मानव जाति का रक्षण करते हैं। चक्रवर्ती सिर्फ षट्खंड पूजित होता है। धर्मचक्रवर्ती त्रैलोक्य पूजित होते है। इस आर्यावर्त में इनके जैसा धर्म चक्रवर्ती कोई नहीं है। आज प्रभु के दर्शन से मैं धन्य हो गया। इनके महाकठिन तप-त्याग, ध्यान साधना की चर्चा सुनी है। आज प्रत्यक्ष दर्शन हुए।" उसने श्रद्धा से नमन किया और अपने भाग्य को संवारता हुआ पुष्य गंगा के दूसरे तट की ओर चला गया।

धर्मचक्र चार गतियों का अंत करने के लिए एक ऐसा सूत्र देता हैं जिसमें जीव स्वयं के बारे में सोचना सुरु करता है। वह सूत्र हैं - "केऽहं आसि के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ।" धर्मचक्र के इस सूत्र में चार प्रश्न समाए हुए हैं। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जानेवाला हूँ? और मेरा मोक्ष कब होगा? ये चार प्रश्न चारों दिशाओं में झंकृत होने लगते हैं। अपने आत्मस्वरुप के लिए जीव जब आगमन के बारे में सोचता है तो वह भी दिशाओं का क्रम इसतरह सोचता है जैसा कि भगवान महावीर ने अपनी पहली सभा में अपने धर्मचक्र का पहला संदेश यही दिया था कि जीव यह नहीं जानता हैं कि वह पूर्व दिशा से आया, दक्षिण दिशा से आया, पश्चिम दिशा से आया, या उत्तर दिशा से आया? संसार के परिभ्रमण का यह चक्र हैं। चैतन्य आत्मा दिशाओं के बंधन से मुक्त

है। दिशाएं एक अखंडता को खंडित करके बनती है। आत्मा अविभाज्य सत्ता होते हुए भी विभाजित क्रमों में परिभ्रमण करता है।

चक्र अनेक हैं। जो वृत्त में चलता हैं अर्थात् गोल गोल घूमता है। संसार में प्रत्येक जगह चक्र हैं। पंखा, गाडी, सायकल, गॅस सब चक्र से ही चलते हैं। संसार भी एक चक्र हैं। ध्वज के बीच में अशोकचक्र हैं। हमारे भीतर मूलाधार आदि सात चक्र हैं। सुबह शाम कालचक्र हैं। श्री कृष्ण के हाथ में सुदर्शन चक्र हैं। चक्रवर्ती की आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न होता हैं। सूर्य, चंद्र आदि ज्योतिषचक्र है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि कर्मचक्र हैं। परमात्मा के आगे जो चलता हैं वह धर्मचक्र हैं। मोक्षदायी महामंत्र सिद्धचक्र हैं। ऐसे अनेक चक्र हैं। जो आवर्तन अर्थात् फिराकर चलाते हैं उन्हें चक्रवर्ती कहते हैं।

आप सोचोगे छह खंड के विजेता चक्रवर्ती में और धर्म तीर्थंकर चक्रवर्ती में क्या अंतर है? चक्रवर्ती में आवेश होता है, आवेग होता हैं और उत्तेजना होती हैं। तीर्थंकर आवेश शून्य, आवेग रहित और अनुत्तेजित होते हैं। चक्रवर्ती दुःख का दमन कर सुख प्राप्ति के प्रयास करता है। तीर्थंकर दुःख का विसर्जन कर आनंद की प्राप्ति करते हैं। चक्रवर्ती की कृपा हो जाए तो दुःख का अंत नहीं करते हैं, दुःख को सुख में बदल देते है। तीर्थंकर दुःख का अंत करते हैं और शाश्वत सुख की प्राप्ति कराते हैं। चक्रवर्ती दारिद्र्य तत्काल अंत नहीं करते, तात्परक समाधान करते हैं। तीर्थंकर दारिद्र्य का अंत कर शाश्वत समृद्धि प्रगट करते हैं। चक्रवर्ती दुर्भाग्य को केवलकर्म फल बता देते है। तीर्थंकर कहते हैं, भाग्य को मत कोस। तू स्वयं भगवान हैं। इसे समझ ले। इस बोध को प्राप्त कर। चक्रवर्ती स्वयं भी जागृत न हो तो दुर्गति में जा सकते हैं। तीर्थंकर भगवान दुर्गति में जाने के कारण समझाते हैं और चारों गतियों का अंत करनेवाले धर्मचक्र की प्रतिष्ठा करते हैं।

तीर्थंकरों के क्रमबद्ध स्मरण को जिनचक्र कहते हैं। आपने सर्वतोभद्र यंत्र के बारे में सुना होगा। जिसमें १७० तीर्थंकर भगवान की उपासना का क्रम हैं। यह तिजयपहुत्त स्तोत्र से संयोजित हैं। साधना में से चारों तरफ से उपासा जाता हैं। तब साधक गर्भस्थ शिशु की तरह ६८० तीर्थंकरों के मध्यम स्थान में सुरक्षित और आरक्षित हो जाता है। ऐसी महान साधनाएं धर्मचक्र से उपजती हैं। इस सूत्र से प्रदत्त एक अत्यंत आवश्यक आदेश प्राप्त होते हैं। धर्ममार्ग में प्रवेश करते हुए हमें कहा जाता हैं **जयं विहारी** वत्स ! यतना पूर्वक स्थानपर विचरण कर। दूसरा यात्रा और विश्राम दोनों में तेरा **चित्तणिवाती** चित्तनिपात रखना। चित्तनिपात पूर्वक किया जानेवाला अनुष्ठान चैत्यवंदन हो जाता हैं। तीसरा हैं **पंथनिज्जाति** अर्थात् पथदर्शन कर मार्ग में आनेवाले वातावरण और परिस्थितियों का अवलोकन कर। केवल अवलोकन कर, दर्शन कर उसमें व्यामूढ मत हो जा। प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति या वातावरण को अपना या शाश्वत मत समझ लेना। चौथा है **पलिबाहरे** स्वयं की गली से बाहर आते ही **पासिय पाणे गच्छेजा** अन्य प्राणियों को देख उनमें भी तेरे जैसी ही चेतना है। उनमें भी सिद्धत्त्व है। समस्त जीव सृष्टि में भगवत्सत्ता है ऐसा अनुभव करता हुआ आगे बढ। तेरा सिद्धत्त्व तेरी चेतना का साक्षी है। सिद्धत्त्व स्थान नहीं अवस्था है। उसे तुझे पाना है। प्रगट करना है। साक्षीमय हो जाना है।

धर्मचक्रवर्ती धर्म को सानुबंधसत्ता कहते हैं। जो परंपरा से मोक्ष का परिणाम प्रगट करती है। किसी भी सत्ता या प्रवृत्ति का फल अनिवार्य होता है और वह उसके स्वभावपर निर्भर होता है। जैसे ईख, आम और केला ये तीन फल हैं। तीनों का स्वभाव अलग अलग हैं। ईख को फल नहीं आता। आम बार बार फलता हैं और केले को एकबार फल आता है। धर्म अनुबंध के द्वारा बार बार फल देता है। हम तो पानी जैसे हैं। पानी को जिस बरतन में डालते हैं वह उस आकार का हो जाता है। उसमे शक्कर डालो तो मीठा हो जाता हैं और नमक डालो तो नमकीन हो जाता हैं। हमारा जीवन रुपरंग के साथ पानी की तरह एकरुप हो जाता है। आत्मा शाश्वत है परंतु जीवन की पर्यायें बदलती रहती हैं।

धर्मरथ का उत्तरदायित्त्व धर्मचक्रवर्ती के उपर डालकर हम आगे बढ रहे हैं। धर्म संपदा का यह अंतिम पद हमें नई यात्रा के लिए अग्रसर करता है और वह है **दिवोताणं सरणगइपइट्ठाणं**। कल हम अपने रक्षण और शरण के नये आयाम की ओर आगे बढते हुए धर्मचक्र और धर्मचक्रवर्ती के चरणों में नमस्कार करते हैं।

नमोत्थुणं -धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं
नमोत्थुणं -धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं
नमोत्थुणं -धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं

नमोत्थुणं दीवोताणं सरणगइपइट्ठाणं

जो दूर से दिखाइ देकर रक्षण करता हैं उसे द्वीप कहते हैं।
जो करीब आकर रक्षण करता हैं उसे शरण कहते हैं।
जो रक्षण और शरण के द्वारा आगे बढाता हैं उसे गति कहते हैं।
गति में वेग देकर मंजिल तक पहुंचा देता हैं उसे प्रतिष्ठान कहते हैं।
द्वीप आधाररुप हैं, गति शरणरुप हैं और प्रतिष्ठान प्राप्तिरुप हैं।

धर्मचक्रवर्ती के चक्र से चल रहे रथ के द्वारा स्थल का चक्रमण करते करते अब हम जलमार्ग का संक्रमण करते है।
चक्र चलता हैं द्वीप स्थिर रहता हैं। चक्र चलकर मार्गदर्शन करता हैं और द्वीप स्थिर रहकर मंजिल दिखाता हैं।
चक्र गति का प्रतीक हैं और द्वीप स्थिति का प्रतीक हैं।
चक्र चार का अंत करता हैं। द्वीप रक्षण, शरण, गति और प्रतिष्ठा का प्रारंभ करता हैं।
चक्र विघ्न का अंत करता है। द्वीप मंगल की आदि करता हैं।

इस पद में पाँच शब्दों का प्रयोग हुआ हैं। दीवो + ताणं + सरण + गइ + पइट्ठाणं। दीवो शब्द के दीप और द्वीप ऐसे दो अर्थ होते हैं। यहाँपर द्वीप अर्थ ग्राह्य हैं। अगाध समुद्र में डुबते हुए मनुष्य, मगरमच्छ आदि अनेक जलचर जीवों से भरे हुए जल प्रवाह के मध्य में द्वीप होता है इसे बेट भी कहते हैं। चारों ओर पानी हो और मध्यस्थान में सभी प्राणियों के लिए आश्रयस्थानरुप द्वीप होता है। द्वीप के मध्यस्थान में एक स्तंभ होता है। इसे दीवादांडी कहते है। उस दीवादांडी में दूर से दिखाई दे ऐसे प्रकाश की व्यवस्था की जाती है। इस व्यवस्था के कारण प्रवासियों को अपनी गंतव्यदिशा का बोध होता है। मार्ग से सशंकित यात्री इस प्रकाश के माध्यम से आगे बढते है। माध्यम बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। आवश्यक नहीं कि नौका दीवादांडी का स्पर्श करे तब उसे दिशा का बोध हो। द्वीप तक पहुच जाने के बाद तो उसे आसरा चाहिए, रक्षण चाहिए, शरण चाहिए। द्वीप का मुख्य काम दूर से मार्गदर्शन करना है।

द्वीप के बाद समानअर्थी दो शब्द हैं ताणं और शरणं। ताणं अर्थात् रक्षण। आचारांग में इन दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग किया गया हैं। जिसमें यह स्पष्ट रुप से समझाया गया हैं कि रोग या मृत्यु के समय संगीसाथी सहोदर सहयोगी आदि कोई भी **णालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा।** तुम्हारा न तो रक्षण करेंगे न तुम्हे शरण देंगे। आप सोचोगे कि वे हमें शरण रक्षण नहीं देंगे परंतु हम तो उनका रक्षण कर शरण दे सकते हैं परंतु ज्ञानी भगवन कहते हैं - **तुमंपि तेसिं णालं ताणाए वा, सरणाए वा।** तुम भी उनका न तो रक्षण कर सकते हैं न तो शरण दे सकते हैं। केवल परमात्मा ही रक्षण करने में और शरण देने में समर्थ हैं।

जैसे विशाल जल से आप्लावीत स्थान में द्वीप आलंबनभूत होता है, वैसे परमात्मा जलस्थान में डूबते हुए जीवों के लिए रक्षणरुप और शरणरुप हैं। यहाँ हमें दो क्रियाएं समझनी हैं। रक्षण करना और शरण पाना। डूबता हुआ प्राणी सहारा ढूँढता हैं।आलंबन ढूँढता हैं। द्वीप दूर से दिखाइ देता है। उसकी अपनी एक अलग पहचान होती है। पहचाना जाता हैं दिखायी देता हैं। देखते ही डूबता हुआ प्राणी क्या सोचेगा ? खुश हो जाएगा ? या सोचेगा कि यह द्वीप कितना बडा होगा ? उसका क्या नाम होगा ? कौन उसका रक्षक होगा? वहाँ कैसी व्यवस्था होगी। क्या

वह इन सब के बारे मे सोचेगा ? एक बात ध्यान में रखना डूबते हुए व्यक्ति को जब बचने की व्यवस्था मिलती हैं तब वह स्थान की व्यवस्था के बारे में नहीं सोचता हैं। इसलिए कहा हैं - **जहा से दीवे असंदीणे, एवं से भवइ सरणं महामुणी।**

इस पद को पाँच विभागों में बाँटा जाता है - १. द्वीप, २. त्राण, ३. शरण, ४. गति और ५. प्रतिष्ठान। एक तरह से परमात्मा हमें इन पाँच स्वरुप में पंचपरमेष्ठि रुप में प्राप्त होते है। द्वीप का दूर से दिखाइ देना द्वीप का वास्तव्य है। परमात्मा भी हमारे लिए दूर है फिर भी द्वीप की तरह हमारा रक्षण करते हैं। भक्तामर स्तोत्र में इस तथ्य को अच्छी तरह समझाया है। वह पंक्ति आपको याद है - **दूरे सहस्त्र किरणः कुरुते प्रभैवः, पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि।** दूर रहे हुए सूर्य की किरणे पकडी नहीं जाती उठाकर डिब्बी में डाली नहीं जाती। फिर भी दूर रहा हुआ सूर्य किरणों के माध्यम से यत्र-तत्र-सर्वत्र अपने अस्तित्त्व का बोध कराता है। सूर्य उगते ही, किरण आते ही कमल खिलने लगता है। उसीतरह परमात्मा चाहे कितने ही दूर हो हमारे आत्मकमल को खिला देते है। दूर रहा हुआ द्वीप खोये हुए यात्री को दूर से ही दर्शन देता है, मार्गदर्शन करता है। अपनी ओर आमंत्रित करता है। आरक्षित करता है। उसी तरह परमात्मा अनादिकाल से भटके हुए, खोए हुए साधक को श्रुतदर्शन देते है। मार्गदर्शन करते है। मोक्षमार्ग की ओर आमंत्रित करते है। शासन में शरण देते है।

पानी में रहते हुए भी द्वीप पानी की बाधाओं से रहित असंदीन होता है। आचारांग में कहा है, **जहा से दीवे असंदीणे** अर्थात् द्वीप जैसे रहता है पानी में ही परंतु भीतर पानी से संबंधित कोई भी समस्या नहीं होती है उसीतरह देव,गुरु,धर्म संसाररुप सागर के रुप में द्वीप की तरह होते है। जो स्वयं के आत्मा की असातना नहीं करते है और अन्य की भी असातना नहीं करते। यह कथन बहुत बडी बात करता हैं। द्वीप में जैसे कोई कभी भी कहीं से भी आ सकता है उसीतरह संसार में भी सभी जीव कहीं से भी आते रहते है। यहाँ स्वयं की स्वयं कैसे असातना कर सकता है। विचित्र नहीं लगता आपको यह कथन ? अन्य को कोई कभी भी बाधा पहुंचा सकता हैं परंतु स्वयं को कैसे पीडित कर सकता है? शास्त्रकार ने इस बात को स्पष्ट करने के लिए आगे अन्य प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को असंदीनद्वीप की तरह शरण देना कहा है। द्वीप भी दो तरह के होते हैं संदीन और असंदीन। संदीन द्वीप वह हैं जो कभी पानी में डूबा हुआ होता हैं कभी नही। असंदीन द्वीप हैं जो कभी पानी में नहीं डूबता हैं। आचारांग सूत्र के छट्ठे अध्ययन के तीसरे और पाँचवे दो उद्देशकों में असंदीन द्वीप की चर्चा हैं।

असातना के यहाँ दो प्रकार बताएं हैं। स्वयं की असातना और अन्य की असातना। अन्य को मन-वचन-काया से असातना पहुंचा सकना समझ में आता हैं परंतु जीव स्वयं की असातना कैसे कर सकता हैं? आप में से कोई इस प्रश्न का उत्तर दे सकता हैं? इसका उत्तर नहीं दे सकना, इस उत्तर के प्रति मौन रहना या इसके उपेक्षा करना स्वयं के प्रति अपराध हैं। अन्य किसी के भी बारे में हम अज्ञात रह सकते हैं परंतु स्वयं के प्रति अबोध रहना अन्याय है। इस उत्तर के प्रति की हमारी खामोशी भी हमारी अपनी असातना है। क्या कुछ समय दिया जाए तो इसका उत्तर संभव हैं ? इतनी बडी सभा में आप में से कोई कुछ समय के बाद भी इसका उत्तर देने का सामर्थ्य नहीं

जता रहे हैं। यह तो आप मानते हैं कि आत्मा अनंत गुण संपन्न हैं। आप यह भी मानते हो कि आत्मा के इतने गुण होते हुए भी वे सारे गुण प्रकट नहीं हैं। इन गुणों को आवरण में कौन रखता है? गुणों की घात कौन करता हैं। अनादि काल से ऐसा होता रहा हैं। कौन करता हैं यह? क्या अन्य कोई हमारे भीतर ऐसा कर सकता हैं? अधिकार आदि की बात छोडो यहाँ बात अधिकार की नहीं सामर्थ्य की हैं। गणधर भगवंत आश्वासन देते हैं कि आवरणों को खोलने में परमपुरुष की आराधना का आलंबन ले सकता है परंतु बंधन में अन्य कौन समर्थ हो सकता हैं? जीव स्वयं ही यह सब करता है। जीव स्वयं ही बंधन बाँधता हैं और स्वयं ही बंधन तोडता हैं । अर्थात् स्वयं की असातना स्वयं ही करता हैं।

मजे की बात तो यह हैं कि जीव स्वयं कभी भी अपने आपको इस बात का जिम्मेवार नहीं ठहराता है। इसके लिए वह अन्य को ही दोष देता हैं। आत्मगुण तो बहुत गहरी बात हैं पर छोटे छोटे अपराध के प्रति भी जीव अन्य को जिम्मेवार ठहराता हैं। जैसे एक घर में गोचरी गई, पात्रे खोले, आहार देनवाली बहनने सब्जी की पतीली खोली और बंद कर दी। उसमें तोरु की सब्जी थी। बनी बनायी सब्जी प्रासुक होती हैं फिर भी उसने पतीली बंद कर दी। आहार लेनेवालों को इस बारे में मौन रखना चाहिए, कौतुहल रहित रहना चाहिए, कारण जानने के प्रति उपेक्षित रहना चाहिए और प्रश्नरहित रहना चाहिए ऐसी भगवान की आज्ञा हैं। मैंने वैसा ही किया। कुछ पूछा नहीं कि यह सब्जी क्यों नहीं बहेराइ। इन्सान का स्वभाव स्वयं ही स्वयं को खोलता हैं। बहन एकदम कहने लगी सब्जी हैं पर उसमें नमक ज्यादा पड गया इसलिए मैं आपको नहीं बहेरा रही। तब भी मैं मौन थी। उसने आगे बोलना शुरु किया। क्या हुआ, मैं सब्जी बना रही थी और मेरी ननंद का फोन आ गया। उसका स्वभाव इतना खराब हैं कि मइके में किसी से नहीं पटती पर ससुराल में भी किसीसे नहीं पटती है। मेरे को इतने ताने मार रही थी कि . . . . । मैं ने सोचा अब भगो यहाँ से यह दास्तान कभी पूरी नहीं होगी। पर बात खतम कैसे करु? इसके लिए मुझे कुछ बोलना जरुरी था। मैंने कहा बहन यह बात मुझे समझ में आयी कि आपकी ननंद का फोन आया, उसका स्वभाव खराब हैं आदि आदि परंतु यह नहीं समझ में आया कि उसने फोन में आपको सब्जी में अधिक नमक डालने का क्यों कहा? ननंद खराब हैं पर आप बहुत समझदार हैं आपने उसकी फोन में दी हुई बात को मानकर सब्जी नमक अधिक क्यों डाला? एकदम कहने लगी नहीं नहीं उसने नहीं कहा परंतु इस रामायण में मेरा ही दिमाग खराब हो गया कुछ समझ में नहीं आ रहा था। मैंने अधिक नमक डाल दिया। सब्जी में नमक अधिक गिरने में फोन खराब हैं, ननंद खराब हैं इस बार में मैं सोचु इसके पहले उसने कहा कि मेरा दिमाग खराब हो गया। इसतरह अनेक घटनाए हैं। चैतन्य ही नहीं पर पदार्थ या पुद्गल के साथ भी जीव ऐसा करता हैं। अनंत गुण संपन्न आत्मा जड पदार्थ को दोषित बना देता हैं। एक भाई ऑफिस पहुंचे। आफिस की चाबी घरपर भूल गए। मित्र ने पूछा ध्यान क्यों नहीं रखते हो? पता है आपको उत्तर में उसने किसको दोषित ठहराया? स्वयं को नहीं पत्नी को दोषित ठहराया।

जीव स्वयं को कही भी दोषित नहीं ठहराता। कहीं अपना अपराध स्वीकार नहीं करता। स्वयं के अस्तित्त्व के प्रति साक्षीमय नहीं रहता। ये दोष ही आत्मा के गुणों का घात करते हैं। इसीकारण दोष मुक्त होने के सूत्र में

अप्पाणं वोसिरामि शब्द का प्रयोग हुआ है। सामायिक सूत्र में आप इर्यापथिकीका पाठ बोलते है। यह आलोचना का सूत्र हैं। आलोचना अर्थात् आत्मा के लोचन अर्थात् भीतर की आँखों से देखना। असातना के जो प्रकार बताए हैं **अभिहया, वत्तिया** आदि जो भी दोष हैं वे किस के प्रति हैं ? हमारे प्रति या अन्य किसी के प्रति? आज दिनतक हमारी धारणा अन्य के प्रति लगे दोषों की आलोचना की रही हैं। कहते हैं हम **एगिंदिया...पंचिंदिया...** प्रस्तुत कथित दोष पंचिंदिया में कैसे उपयुक्त होते हैं।

गहराई से सोचनेपर ये दोष अन्यों के प्रति तो हैं परंतु स्वयं के प्रति भी हैं। हमने सूत्र के माध्यम से केवल अन्यों की असातना के बारें में ही सोचा हैं। आचारांग का यह सूत्र हमें स्वयं के प्रति किए जानेवाले दोषों के प्रति जाग्रत करता हैं। जैसे अभिहया अर्थात् जो सामने से आया हो अभिमुख हुआ हो उसे रोकना, बाधा पहुंचाना आदि आदि। ऐसा कईबार होता है कि आत्मा की अनुकूल और प्रतिकूल दोनों स्थिति एकसाथ आती हैं। आत्मा की अनुकूलता में स्वयं का लाभ होता है और प्रतिकूलता में अन्य का इसे सरल तरीके से समझना हो तो भरतचक्रवर्ती की घटनाओं का स्मरण करें। एकबार उन्हें तीन सुखदायी संदेश प्राप्त हुए थे। अंत:पुर से पुत्ररत्न उत्पन्न होने का संदेश, आयुधशाला में चक्ररत्न का संदेश और आयोध्यापुरी में केवलि भगवान ऋषभदेव के आगमन का संदेश। भगवान का आगमन आत्मलाभ और आत्महित से संबंधित संदेश था। आत्महित के बारे में सोचा इसलिए अन्य संदेशों को गौण कर आप उद्यान में गए। यदि आप परिवार को महत्त्व देते तो प्रथम पुत्रजन्मोत्सव मनाते है। यदि चक्रवर्तीपद को महत्त्व देते तो आयुधशाला में जाते परंतु आत्महित के प्रति संदेश देने आए भगवान को महत्त्वपूर्ण मानकर वे भगवान आदिनाथ के समवसरण में पधारे। श्रीमद्जीने एक काव्य में बहुत अच्छा कहा है, **परवस्तुमां नहीं मुंझवो एनी दया मुझने रही। ऐ त्यागवा सिद्धांत के पश्चात् दु:ख ते सुख नहीं।** बाद में दु:खदायी प्राथमिक सुखों को सुख नहीं मानना चाहिए। यह विषय बहुत गहन हैं।

सूरदास का वह कथन आपने पढा होगा,

मेरा मन अनत (अन्यत्र) कहाँ सुख पावे ?
जैसे उडी जहाज को पंखी फिर जहाज पे आवे...

यहाँ बात हैं द्वीप और जहाज की। यहाँ कथन हैं नमोत्थुणं और परम पाप्ति का। जब तक परम प्राप्त नहीं होता तब तक नमोत्थुणं से मन हट नहीं सकता। जब तक द्वीप न मिले जहाज का चलते रहना जरुरी हैं। अमेरिका की खोज करनेवाले कोलंबस ने अपनी यात्रा का प्रारंभ किया था। १५/२० दिन होने के बाद भी जब यात्रा चलती रही और परिस्थिति विकट होती गई। खाने के पदार्थ और पानी समाप्त होने की स्थिति पे आ गए। साथी लोग भी थक गए। चारों ओर सिर्फ पानी ही पानी दिख रहा था। सबको लगता था कि अब धरती आवे तो अच्छा हैं। द्वीप मिले तो काम होगा। जहाज यात्री अपने साथ कबूतर ले जाते है। जब ऐसी विकट स्थिति लगे तब वे सुबह सुबह कबूतरों को छोड देते हैं। यदि नजदीक में कहीं द्वीप न हो तो कबूतर शाम को वापस लौट आते हैं। कोलंबस ने वैसा ही किया। कोलंबस के कबूतर भी शाम को वापस लौट आए। दो-चार दिन के प्रयास के बाद कोलंबस ने कहा कि आज हम

अंतिम प्रयास करते हैं और कबूतरों को पुन: उडाते हैं। वैसा ही किया। शाम हुई, सूर्य ढला, अनाज पानी पूरी तरह खत्म हो चूके थे। साथी धेर्य खो बैठे थे। पर कोलंबस बस अपने लक्ष्य की ओर आरुढ थे। शाम गुजर गई पर कबूतर न लौटे। ठहाका मारकर उन्होंने साथियों को उठाया, धेर्य न खोओ, सुबह तक हम किसी अच्छे पडाव तक पहुंचेंगे।

और वही हुआ। भूखे प्यासे यात्री सुबह होते होते अपने को एक अच्छे द्वीप की ओर पहुंचते अनुभव करने लगे। वह भूखंड था अमेरिका। ऐसी यात्राओं में कबूतरों को इसलिए छोडा जाते हैं कि वे नजदीक द्वीप हो तो चुग्गा लेकर वहींपर बसेरा कर लेते हैं। यदि कोई द्वीप न मिले तो वे उड उडकर जहाजपर वापस लौट आते हैं। नमोत्थुणं जहाज़ हैं। परमात्मा द्वीप हैं।पहुंचना द्वीप पर हैं। द्वीप से तटपर पहुंचना हैं। द्वीप से तटपर पहुंचाने का उत्तरदायित्व द्वीप का है। तट मोक्ष हैं। जब तक द्वीप नहीं मिलता हैं तब तक जहाज को नहीं छोडना चाहिए। यहाँतक की कुछ कथाओं में आपने सुना होगा कि आँधी तूफान में जहाज कभी चट्टानों से टकरा भी सकता हैं। टूट भी सकता हैं। प्रज्ञा संपन्न यात्रि तब भी जहाज को नहीं छोडते। जहाज का टूटा हुआ हिस्सा भी उसे द्वीप तक पहुंचा सकता हैं। इस विश्वास के साथ वह अपनी यात्रा को आगे बढाता हैं। नमोत्थुणंरुप जहाज से हमें परम के द्वीप तक पहुंचना हैं। मुक्तितट को पाना हैं। कर्मों के चट्टानों से टकराकर कभी मंत्र बिखर भी गया तब भी मंत्र का सामर्थ्य अकबंध हैं। आपने सुना होगा कि एक शेठ ने अपने नौकर को उसकी इच्छा से नमो अरिहंताणं मंत्र सिखाया था। वह मंत्र भूल गया उसने नमो अरिहंताणं की स्थान पर **आणु टाणु काय न जाणु शेठवचन परमाणु।** उसे आणं आणं याद आ रहा था। उसने सोचा आणु टाणु कुछ पता नहीं जो शेठ ने कहा वही वचन प्रमाण हैं। वही मंत्र हैं। इतने स्मरण मात्र से उसका कल्याण हो गया। मंत्रों में शब्द के साथ भावों का भी महत्त्व होता हैं और भावों के साथ परिणाम हेतु धैर्य भी आवश्यक हैं। प्रतिष्ठानपर पहुंचने तक धेर्य रखना होगा। कभी न कभी हम अपने द्वीप को पा सकते हैं। प्रतिष्ठान में प्रतिष्ठा पा सकते हैं। साधना के कबूतर से हमें अपनी यात्रा की दुरी का अनुभव हो सकता हैं। प्रभु सत्ता का सीधा स्पर्श द्वीप से जुडा हुआ हैं। अनंत की यात्रा में आस्था के साथ आगे बढते रहना चाहिए।

उत्तराध्ययन सूत्र में इसे स्पष्ट करते हुए कहा है, जीव संसार में जन्म मृत्यु के वेग में बहता चला जा रहा हैं। इस वेग में बचने के लिए उसे धर्मरुप द्वीप प्राप्त हो जाए तो उसे वह द्वीप गतिरुप, उत्तमशरणभूत और प्रतिष्ठानरुप परिणमित होता है। गौतमस्वामी के द्वारा केशीश्रमण को दिया हुआ यह कथन इसी सूत्र की व्याख्या हैं। बहुत प्रेम से समझाते हुए उन्होंने कहा हैं कि उछलते कूदते विशाल जल प्रवाह में एक महाद्वीप हैं। जल प्रवाह की गति उस महाद्वीप में कभी नहीं हो सकती है। **महाउदगवेगस्स, गई तत्थ ण विज्जइ** उस विशाल महाद्वीप में महावेगवान जलप्रवाह का कभी प्रवेश नहीं हो सकता।

द्वीप तक पहुंचने के पाँच प्रयास साधना में बताए हैं।

१) **अज्झत्थिए** अर्थात् सर्व प्रथम अध्यवसाय उत्पन्न होना चाहिए।

२) **चिंतिए** अध्यवसाय के बाद चिंतन आता हैं । जो अध्यवसाय चिंतन में परिणमित होता हैं तभी वह आगे का क्रम बनाता है और

३) **पत्थए** पर आगे बढता हैं। पत्थए अर्थात् प्राप्त करने की अभिलाषा, प्रार्थना, इच्छा।

४) **मणोगए** अर्थात् भाव जब उपरोक्त तीनों रुपों में परिणमित हो जाते हैं तब वह मनोगत होना कहलाता हैं।

५) **संकप्पे** अर्थात् संकल्प और दृढता के साथ यात्रा में आगे बढा जा सकता है।

संकल्प हमारे भीतर की दशा हैं। संसार बाहर होता हैं। विभाव भी बाहर होता हैं। स्वभाव केवल भीतर हैं। वहाँतक हमें पहुंचना होता हैं। अज्झत्थिए से शुरु होती हुई यह यात्रा संकल्प द्वारा प्रतिष्ठान तक ले जाती हैं।

अंत में गणधर भगवंत के अनुग्रह से हमें अपना परमात्मारुप द्वीप दिखाई देता हैं तब हम प्रभु चरणों में नमस्कार करते है। प्रभु कहते हैं, वत्स ! तू स्वयं द्वीप हैं। तू स्वयं का और अन्य का रक्षण करने में समर्थ हैं। तू स्वयं को जान ले। पहचान ले। तेरे सामर्थ्य को समझले। अन्य भी कई जीवों का रक्षण करने में और शरण देने में तू समर्थ हैं। तेरी शाश्वत सत्ता को प्रगट कर। सिद्धत्त्व की अनुभूति कर।

द्वीप की साधना से जो शांति के परिणाम प्रगट होते हैं उस आनंद की अनिर्वचनियता व्यक्त करना अशक्य है। गणधर भगवंत कहते हैं द्वीप रक्षण करता हैं। शरण देता है और प्रतिष्ठान तक ले जाता हैं। पहुंचते पहुंचते वह एक अप्रतिहत ज्ञान दर्शन का धारक बन जाता है। कल हम मिलते हैं अप्रतिहत ज्ञानीदर्शनी से और उनके आत्मानुभव का आनंद लेते है।

नमोत्थुणं दीवोताणं सरणगइपइट्ठाणं ..
नमोत्थुणं दीवोताणं सरणगइपइट्ठाणं ...
नमोत्थुणं दीवोताणं सरणगइपइट्ठाणं ....

नमोत्थुणं
अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं - वियट्टछउमाणं

जो हमें जानते हैं देखते स्वयं के जैसे मानते हैं वे अप्रतिहत ज्ञानदर्शन के धारक हैं।
जो हमें स्वयं के जैसा जानते और मानते हैं वे अप्रतिहत ज्ञानदर्शन के धारक हैं।
हम उन्हें जाने या न जाने पर वे हमें हमेशा जानते हैं वे अप्रतिहत ज्ञानदर्शन के धारक हैं।

ज्ञानदर्शन के धारक इस शब्द के पूर्व अप्रतिहतवर शब्द का प्रयोग है। अप्रतिहत अर्थात् शाश्वत, चिरंतन, त्रिकाल से अबाधित। ऐसा ज्ञान है केवलज्ञान। केवलज्ञान अर्थात् एकमात्र, अद्वितीय, अखंड, शाश्वत, परिपूर्ण आदि। केवलज्ञान अर्थात् केवल ज्ञान। जिसकी बरोबरी में कोई अन्य ज्ञान नहीं होता है। वह अपने आप में परिपूर्ण है। उसमें कोई अधूरापन नहीं हैं। केवलज्ञानियों के केवलज्ञान में कोई अंतर या उतार-चढाव नहीं होता है। सर्व केवलज्ञानी एकसमान होते हैं। जाति, संप्रदाय, काल, देश आदि से भी अबाधित होता है। अष्टापद पर्वतपर तप करनेवाले १५०० तापसों की तपश्चर्या में आपसी तरतमता थी परंतु परमगुरु गौतमस्वामी के द्वारा दीक्षित होकर समवसरण तक पहुंचतेही केवलज्ञान हो जानेपर उनके ज्ञान में कोई अंतर नहीं था। सर्व केवली समान ज्ञान से परिपूर्ण थे।

जो जन्म से ही तीन ज्ञान के धारक होते हैं तीन भव पूर्व तीर्थंकर नामकर्म का निकाचन हुआ हो ऐसे प्रभु निरंतर आत्मज्ञान, आत्मदर्शन और आत्मआनंद की अनुभूति में लीन होते हैं। ज्ञान की अखंड धारा में संपूर्ण विश्व लयबद्ध होकर झलकता रहता है। उनके भाव का प्रभाव अचिंत्य होता है। कभी सोचो तो सही अनंत अनंत तीर्थंकर हो गए। सभी तीर्थंकरों ने हमारे लिए शुभ चिंतन किया। हमें परम सुखी बनाने का सर्वोत्कृष्टभाव बहाया। वे पवित्र संवेंदन, निर्मल उर्जा उनकी वह विल्लसित विद्युत हमारी आत्मा के विकास के हेतु और कारण बन गए। संसार में जरा सी दहशत हो जाए कि किसी ने हमारे बारे में अशुभ चिंतन किया है हम उन्हें कितना दोषित मानते है ? अनादिकाल से अनंत अनंत तीर्थंकर हो गए सभी ने हमारे लिए शुभ भावों का चिंतन किया। इन भावों को हमने जाना या नहीं जाना परंतु वह धारा अखंड बहती रही। परमतत्त्व के साथ का हमारा यह संबंध असामान्य है। व्यवहार राशी में आकर क्या किया था हमने? सीधी सामायिक थोडी ही कीथी। फिर भी आत्मविकास का प्रारंभ हो चुका। यह तो बहुत बडे भाव की बात है। परंतु छोटे छोटे जीवों के शुभ और प्रबल भाव कितना काम कर लेते हैं।

मेघमुनि की आत्मा ने हाथी के भव में खरगोश की रक्षा की थी। खरगोश ने क्या किया था हाथी का? सामान्यत: हम यही कहते हैं कि खरगोश ने हाथी की शरण ली थी। हाथी को उसने देना क्या था? क्या था उसके पास ? इतिहास प्रश्न देता है, एहसास उत्तर देता हैं। दावानल में हाथी की शरण लेकर पाँव के नीचे से सरकते हुए खरगोश ने जाते जाते हाथी भाई का आभार माना। हाथी ने ढाई दिन तक खरगोश को शरण में रखने हेतु पाँव को

अधर रखा था। खरगोश ने ढाई दिन तक हाथी के प्रति शुभ भावों को अप्रतिहत रखा था। अकडा हुआ पाँव जमीन पर रखते रखते हाथी के भावों में हलका सा अकडापन तब आया जब वह गिर पडा। शरीर भी गिरा भाव भी गिरा। उसने पुन: भाव को सम्हाल लिया। खरगोश वनमंडल के और हाथी के देह मंडल से बाहर निकला दूर भी गया परंतु उसका भाव मंडल अविरल अखंड रहा। भावों ने हाथी को पुन: झकजोरा। हाथी में की गई दया अनुकंपामें बदल गई। हाथी के अनुकंपा भाव और खरगोश का शुभभावोंने मिलकर हाथी को भव दिया। भव काटने का अनुभाव दिया। अब सोचिए कि हाथी ने खरगोश पर अधिक उपकार किया कि खरगोश ने हाथीपर? प्रश्न का उत्तर आपके आत्म भावों में भाओगे तो आप भी भाव पाओगे और अनुभाव का अनुभव करोगे।

ज्ञानी पुरुषों को विश्व के समस्त जीवों के जीवत्त्व में छीपे हुए अनंत गुण दिखाइ देते हैं। सभी जीवों के प्रति सक्रिय हितभाव यहीं महापुरुषों के ज्ञान की विश्व को अपूर्व भेंट है। पूर्णज्ञान दर्शन के धारक होने के कारण परमात्मा स्वयं उपाधि रहित होते हैं और अन्य जीवों को भी उपाधि रहित करते हैं। आचारांग सूत्र में प्रश्न पूछा गया हैं कि **किमत्थ उवाहि पासगस्स? णत्थि** क्या द्रष्टा को कोई चिंता, उपाधि होती हैं? उत्तर में कहा हैं, नहीं होती हैं। केवलज्ञान से पूर्व राज्य का त्याग करके चित्त के प्रसन्नभाव में ज्ञाताद्रष्टाभाव का स्वीकार कर प्रसन्नचंद्र राजा दीक्षित हो गए। क्या करते थे ध्यान में? कौनसी प्रक्रिया थी ध्यान की ? क्या माध्यम था? स्वयं ही स्वयं के माध्यम थे। स्वयं में स्वयं से स्वयं की पक्रिया थी स्वयं में रहने की। स्वयं ही करते थे स्वयं का ध्यान। अचानक ही स्वयं का बोध हट गया। स्व से हटते ही अन्य प्रगट हो जाता है। अन्य जब भी स्व में आता है स्व का अन्य के साथ युद्ध प्रारंभ हो जाता है। ऐसा यह युद्ध था प्रसन्नचंद्र राजर्षी के साथ। श्रेणीक के पूछनेपर भगवान महावीर ने कहा कि यदि इस समय इसका आयुष्य पूर्ण हो तो यह नरक में जाएगा। परंतु राजर्षि को अचानक अन्य की उपस्थिति का बोध हो गया। अन्य को हटाकर पुन: स्व में लौटे। त्वरीत परिणाम उत्पन्न हो गया। पूर्णज्ञान दर्शन प्रगट हो गया। राजा आश्चर्य से प्रभु की ओर देखने लगा। भगवान ने कहा, प्रसन्न का भीतर शुद्ध हो गया अत: वह बुद्ध हो गया। पर्यायोंपर से भाव हट गए। शुद्ध आत्म द्रव्य स्वतंत्र और शाश्वत है। उसका बोध हो गया। आत्मा विशुद्ध हो गया। कर्मदल हट गए और ज्ञान दर्शन प्रगट हो गए।

अप्रतिहतज्ञान - दर्शन केवलज्ञान के पास चौदहपूर्व का ज्ञान बिंदु समान हैं। वैसे ही चौदहपूर्व का ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। केवलि भगवान भी श्रुतज्ञान के बल से उपदेश देते हैं।। श्रुतज्ञान के बल से लोकालोक को देखते हैं। पर केवलज्ञान हेतु भीतर आना पडता है। केलज्ञान आत्मा का स्वभाव है और वह आवरण हटने से होता है। उसके साधन दो होते हैं ज्ञान और ज्ञानी। साडेनव पूर्व के साधक अभव्य होने के कारण एकेन्द्रिय हो गए। अनपढ ऐसे मासतुसमुनि ज्ञानी के सानिध्यसे और ज्ञान की जिज्ञासा होने से केवलज्ञानी हो गए।

अब हम केवलज्ञान की स्थिति के बारे में सोचते हैं। घातीकर्मों के क्षय से केवलज्ञान और केवलदर्शन होता है। विश्व में रहे हुए रुपी अरुपी सर्व पदार्थ जिस ज्ञान से जाने जाते हैं उसे केवलज्ञान कहते हैं और आत्मा के द्वारा इन सब पदार्थों का होनेवाला दर्शन केवलदर्शन हैं। अप्रतिहत शब्द तीन शब्द का समूह है। अ + प्रति + हत =

अप्रतिहत। हत अर्थात् चोट लगना, टकराना। हत शब्द का प्रयोग आप कईबार करते हैं। बच्चा जब गिर जाता हैं तब वह जोर से रोता है। उसके पास जाकर आप यह नहीं देखते कि उसे कहाँ लगा हैं, क्या लगा है, कितना लगा है? परंतु आप जाते ही वहाँ के टेबल या फर्शपर हाथ पटककर हत कहते हैं। आप बच्चे की स्थिति को जानते हो कि वह दो ही कारण से गिरता या रोता है। एक तो नया नया चलना सिखा हो, गति में संतुलन न हो और दूसरा माँ के व्यस्त रहनेपर उसे अपनी ओर इंगित करने के लिए गिरने और रोने का नाटक करता है। हम जानते हैं कि हत करने से टेबल फर्श को नहीं लगता पर हमारे हाथों को लगता है। हत शब्द के पूर्व प्रति शब्द लगने से प्रतिहत शब्द बनता है। प्रतिहत अर्थात् गिरना। जो गिरता है उसे लगता है एकबार परमात्मा के चरणों में झुक जानेपर गिरना और लगना सब बंद हो जाता है। प्रतिहत के पूर्व अ शब्द लगनेपर न गिरना, न लगना।

पूर्णज्ञान, केवलज्ञान को अप्रतिहत कहा गया। जिसका कभी अंत नहीं होता वह अनंत है। आत्मा के उपर लगे हुए कर्म के आवरणों के हट जानेपर वे आवरण पुन: आक्रमण नहीं करते हैं। आत्मा की पूर्णत: निरावरण स्थिति शुद्ध स्वरुप अक्षय अव्याबाध स्थिति प्रगट हो जाती है। कभी वापस नहीं लौटने के कारण वह अप्रतिहत कहलाता है। इसे अप्रतिपाति भी कहते हैं। ऐसे उत्तम ज्ञान और दर्शन के धारक परमात्मा को इस पद के द्वारा नमस्कार किए जाते हैं। केवलज्ञाँन अर्थात् पूर्णज्ञान, संपूर्णज्ञान, परिपूर्णज्ञान। इस पूर्णज्ञान के प्रगट होनेपर केवलिप्रभु केवलज्ञान के प्रभाव से साक्षात् आत्मा द्वारा पाँच इद्रिंय और मन की सहायता लिए बिना एकसाथ अक्रम से तीनों काल के रुपी अरुपी सर्व पदार्थ और उनकी सभी पर्यायों को बिना प्रयास, बिना प्रयोग और बिना उपयोग के एक साथ जानते और देखते हैं।

मोक्ष प्राप्ति हेतु केवलज्ञान, केवलदर्शन धारण करना आवश्यक है। भगवती सूत्र में भगवान महावीर ने कहा है, भूत, भविष्य और वर्तमान में जो भी जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाणपद को प्राप्त हुए है, जिन्होंने समस्त दु:खों का अंत किया है और जो समस्त कर्मोंका अंत करनेवाले चरमशरीरी हुए हैं उन सर्व ने केवलज्ञान को प्राप्त कर सर्वदु:खों का अंत किया है, करते हैं और करेंगे। इसतरह केवलज्ञान मोक्ष में ले जानेवाला आवश्यक तत्त्व है।

आठ कर्मों में चार घाती कर्म हैं, चार अघाती कर्म हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय ये चार कर्म आत्मा के अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतचारित्र और अनंतवीर्यगुण का घात करते है अत: इन्हे घातीकर्म कहते हैं। घातीकर्म का अर्थ है जो आत्मा के निजगुणों में हानि पहुंचाते हैं इसके दो प्रकार है - सर्वघाती और देशघाती। जो कर्म प्रकृति ज्ञानादिगुणों का सर्वांश से घात करता है उसे सर्वघाती कहते हैं। जो कर्म प्रकृति ज्ञानादि गुणोंका आंशिक घात करते हैं उन्हें देशघाती कहते हैं। जो कर्म आत्मा के ज्ञानादिगुणों का घात नहीं करते हैं उन्हें अघातीकर्म कहते हैं। वेदनीय, आयुष्य, नाम और गौत्रकर्म अघाती कहलाते हैं।

जिस तरह सूर्य का प्रकाश और आतप दोनों साथ साथ रहते हैं। वैसे ही केवलज्ञान और केवलदर्शन साथ साथ रहते हैं। कर्मक्षय की दृष्टि से पहले मोहनीयकर्म का संपूर्ण नाश होता है। बाद में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय का एकसाथ नाश होता है। ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञानशक्ति में बाधा पहुंचाता है।

दर्शनावरणीय दर्शनशक्ति का आवरण करता है। मोहनीय कर्म आत्मा के सम्यकदर्शन और चारित्र्य शक्ति का घात करता है। अंतरायकर्म आत्मा की वीर्यशक्ति को बाधित करता है। इन चारों घातिकर्मों का पूर्णक्षय होनेपर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट होता है। तात्त्विकरुप से यह प्रक्रिया कठिन होते हुए भी शास्त्रों के उदाहरण से यह अत्यंत सहज हो जाती है। गुरुमाता के उपालंभ की अनुमोदना करते हुए मृगावती को रात्रि के कुछ ही पलों में केवलज्ञान हो गया। गुणसागर विवाह के मंडप में बैठे बैठे केवली हो गए। वर बनते बनते **अप्पडिहयवर** बन गये। पृथ्वीचंद्र को राजसिंहासन पर बैठे बैठे केवलज्ञान हो गया। चार चार प्रकार की हत्या करनेवाले दृढप्रहारी ने अचानक कैसे चार कर्मों का क्षय कर लिया होगा। सातवीं नरक में जाने का नक्की करते करते प्रसन्नचंद्र राजर्षि क्षणभर में केवली हो गए। देखीए दादी-पोते की जोडी। दादी को हाथी के हौदेपर और पोते को शीशमहल में केवलज्ञान होता हैं।

अप्रतिहत केवलज्ञान-दर्शन के धारक परमात्मा में दसअनुत्तर विशिष्टताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। अनुत्तर अर्थात् जो सर्वोत्कृष्ट होती है। जिससे बढकर अन्य कोई वस्तु नहीं हो सकती। ये अनुत्तरताए स्थानांग सूत्र में दस प्रकार की बताई हैं।

१) अनुत्तर ज्ञान :- ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। केवलज्ञान से बढकर दूसरा कोई ज्ञान नहीं है।

२) अनुत्तर दर्शन :- दर्शनावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से केवलदर्शन उत्पन्न होता है। केवलदर्शन से बढकर कोई दर्शन नहीं है।

३) अनुत्तर चारित्र :- चारित्रमोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से अनुत्तर चारित्र यानी यथाख्यात चारित्र उत्पन्न होता है।

४) अनुत्तर तप :- केवली के शुक्लध्यान रुप अनुत्तर तप होता है।

५) अनुत्तर वीर्य :- वीर्यान्तराय कर्म के सर्वथा क्षय से अनन्त अनुत्तर आत्मिक शक्ति प्रकट होती है।

६) अनुत्तर क्षान्ति :- मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से अनुत्तर क्षमा उत्पन्न होती है।

७) अनुत्तर मुत्ति :- उत्कृष्ट निर्लोभता का गुण मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होता है।

८) अनुत्तर मार्दव :- उत्तम मृदुता का गुण मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होता है।

९) अनुत्तर आर्जव :- उत्कृष्ट सरलता का गुण माया-कपट का सर्वथा अभाव होने से प्रकट होता है।

१०) अनुत्तर लाघव :- घाति कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण संसार का, कर्मों का या जन्म-मरणादि का बोझ नहीं रहता। मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय से अगुरूलघु गुण उत्पन्न होता है।

अब हम अप्रतिहत ज्ञान दर्शन की प्राप्ति के उपायों के बारे में सोचते हैं। कैसी होती हैं केवलज्ञान की प्रक्रिया ? इसे प्राप्त करने के लिए हमें क्या करना होता हैं? शास्त्र और उदाहण के स्तरपर यह स्पष्ट हैं कि विभिन्न उपायों के द्वारा साधकोंने मोहनीय कर्म का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया। वे साधक ज़िनका पूर्वजीवन राजकीय

सत्तावाला, विषयोंवाला, कषायोंवाला, हिंसक, हीनचारित्रवाला आदि होनेपर भी आंतरिक परिवर्तन के द्वारा अचानक रूपांतरण हो जाता है और वे मोहनीय को सर्वथा छिन्नभिन्न कर कैवल्य को प्राप्त कर लेते हैं। घातक अर्जुनमाली को सुदर्शन श्रावक ने क्या उपदेश दिया, क्या आचरण सिखाया? भीतर के परिवर्तन के अतिरिक्त पूर्ण ज्ञान कैसे संभव हो सकता है? छोटी वय में दीक्षित अतिमुक्त कुमारने साक्षीभाव में सहजता से केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। जिस में नाव तिराई उस पानी के जीव भी मेरे जैसे ही है। मैं भगवान जैसा हूँ। ऐसा सोचते सोचते वे सर्व उपाधी मुक्त होकर कैवल्य को प्राप्त हो गए।

ज्ञातादृष्टाभाव में आनेपर जीव की भीतर की परिस्थिति में बडा परिवर्तन होता है। एकबार भगवान ऋषभदेव के समवसरण में एक सुनार ने प्रश्न पूछा कि आप की इस धर्म सभा में निकट समय में केवलज्ञान पानेवाला कौन है? भगवान ऋषभदेव ने भरतचक्रवर्ती की ओर ईशारा किया। सुनार ने इस घटना को तीर्थंकर के पुत्र के मोह का कारण समझकर उसकी आलोचना की। जनजन के साथ उसने चर्चा की। छह खंड के अधिपति, विपुलभोगसामग्री के उपभोक्ता, ६४००० रानियों के स्वामी कैसे मुक्त हो सकते है? आलोचना के ये स्वर भरतचक्रवर्ती तक पहुंचे। सुनार को तुरंत बुलाया गया और कहा यह तेल का भरा कटोरा लेलो और राजधानी के हर चौराहे पर घूमकर आओ। तुम्हारे पीछे नंगी तलवार लिए सैनिक चलेंगें। अगर एक भी तेल की बूंद छलक कर गिर गई तो तुम्हारी गर्दन उडा देंगे। प्रत्येक चौराहे पर विविध गीतवाद्यनृत्य नाटक की व्यवस्था की गई थी। आदेश का पालन हुआ। सुनार सब ओर घूमकर वापस लौटा। महाराज ने पूछा, कैसा रहा राजधानी में चल रहे आमोदप्रमोद और रंगराग में मजा आया? सुनार ने कहा महाराज ! मेरा पूरा ध्यान तेल के कटोरेपर था। उसतरफ मेरा ध्यान भी कैसे जा सकता हैं ? भरतमहाराजाने परमात्मा की बात को सत्य साबीत करते हुए कहा, ऐसा ही हाल मेरा हैं। चक्रवर्तीत्त्व, भोगोपभोग की सामग्री, ६४००० रानियाँ यह सब चौराहे के आमोदप्रमोद की तरह है। आत्मा तेल के कटोरे की तरह है। पर पदार्थ में रमणता खतरा है। साक्षीभाव में रहनेपर भीतर कोई उपाधि नहीं रहती है। आप सब जानते हो एक दिन भगवान का कथन सत्य सिद्ध हुआ और भरतचक्रवर्ती केवलज्ञान के धारक हो गए।

केवलज्ञान एक ही होता हैं और उसे पाने के कई प्रकार होते हैं। प्राप्ति के प्रकार ही केवलियों के प्रकार हो जाने के कारण नव प्रकार के केवली के प्रकार शास्त्र में बताए हैं।

१) सयोगी केवली :- मनवचन काया से युक्त केवली को सयोगी या भवस्थकेवली कहा जाता है।

२) अयोगी केवली :- मनवचन काया से रहित केवली को अयोगी या सिद्धकेवली कहा जाता है।

३) अंतकृत केवली :- केवलज्ञान होने के बाद जो तुरंत सर्व कर्म का अंत करते हैं उन्हें अंतकृत केवली कहते हैं। जिस अंतिम क्रिया के बाद फिर कभी कोई अन्य क्रिया नहीं करनी पडती ऐसी मोक्षप्राप्ति की क्रिया अंत:क्रिया होती है। अंतगडसूत्र में ऐसे ९० महान आत्माओं का वर्णन है।

४) तीर्थंकर केवली :- तीर्थंकर पदवी को भोगते हुए चतुर्विधधर्म की स्थापना करते हैं उन्हें तीर्थंकर केवली कहा जाता है।

५) प्रत्येकबुद्ध केवली :- किसी एक वस्तु को देखकर उसपर अनुप्रेक्षण करके प्रतिबुद्ध होकर दीक्षित

होकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं वे प्रत्येकबुद्ध केवली हैं।

६) स्वयंबुद्ध केवली :- स्वयं के चिंतन से प्रबुद्ध होकर जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त होता है वे स्वयंबुद्ध केवली हैं।

७) बुद्धबोधित केवली :- आचार्यद्वारा प्रतिबुद्ध होकर केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले बुद्धबोधितकेवली कहलाते हैं।

८) असोच्चा केवली :- जिन्हें केवलियों के वचन सुने बिना केवलज्ञान प्राप्त हुआ हो वे असोच्चा केवली हैं।

९) सोच्चा केवली :- जो केवली भगवान से उपदेश श्रवण कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं उन्हें सोच्चा केवली कहते हैं।

ज्ञानदर्शनधराणं के बाद एक शब्द आता हैं **वियट्टछउमाणं** अर्थात् परमात्मा छद्मस्थ अवस्था से निवृत्त होते हैं। अर्थात् उनकी आत्मा कर्म बंधनों के आवरणों से अनावृत्त हो जाती हैं। छद्म अर्थात् आच्छादन, आवरण, परदा। कर्मबंधनस्वरुप आवरणों को हटाकर अनावृत्त अवस्था को प्राप्त हो जाना वियट्टछउमाणं हैं। अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं शब्द से परमात्मा को नमस्कार करते है तब परमात्मा कहते है मैं अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं के साथ वियट्टछउमाणं हूं। छउमाणं अर्थात् छद्मस्थ अवस्था। वियट्ट अर्थात् उसे खोलने वाला, उसका विमोचन करनेवाला, उसका उद्घाटन करनेवाला। तब हमें याद आता है हमने परमात्मा को **आइगराणं** कहकर आमंत्रित किए थे। हमारी परमविशुद्ध आत्मदशा का प्रारंभ करते हुए उन्होंने कहा था, धर्म आवृत्त और विवृत्त दो में प्रवृत्त है। आवृत्त अर्थात् आवरण में रहनेवाला। विवृत्त अर्थात् खोलना, विमोचन करना, आवरण हटाना। भीतर अत्यंत मूल्यवान है। समृद्ध है। जैसे गिफ्ट पेक कितना अच्छा वह औरों के लिए दिखावा मात्र था पर पेक खुलने पर अनुभव होता है कि भीतर के पदार्थ बहुमूल्य है। हमारी आत्मा अनंत ऐश्वर्य सम्पन्न है। बाह्य आवरण हटने पर भीतर प्रगट होता है। संतों का काम आवरण हटाने में साधनाद्वारा सहाय करना है । **वियट्टछउमाणं** अर्थात् केवलज्ञान प्रगट करना। भगवान कहते हैं कब तेरा वियट्टछउमाणं करु ? वियट्टछउमाणं करते ही तू अप्पडिहयवरणाणदंसणधराणं हो जाएगा। हे परमतत्त्व ! पूर्णज्ञानदर्शन के धारक परमात्मा को नमस्कार कर उनके साथ चतुष्मंगल स्वरुप में प्रवेश कर सांयोगिक संबंध की उपासना करते हैं।

॥। नमोत्थुणं अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं - वियट्टछउमाणं ।॥

नमोत्थुणं जिण्णाणं जावयाणं

एक जीत है जो जीत से होती है,
एक जीत है जो हार से होती है।

जिण्णांण अर्थात् जो जिन बन गए है। जावयाणं अर्थात् जो औरों को भी जिन बना सकते है। स्वयं भगवान जीत गए और अन्य कोभी जितने में उन्होंने योगल बल प्रस्तुत किया। सामान्यत: जो जीतता है वह दूसरों को हराकर जीतता है। एक जिनेश्वर ही हैं जो स्वयं दूसरों को हराए बिना जीतते है। गौतमादि गणधर भगवान को हराने आए थे। भगवान को हराकर उन्हें जीत चाहिए थी। प्रथम गणधर इंद्रभूति गौतम ने अनुभव किया कि सृष्टि में यह पहला अवसर हैं कि मुझे हराए बिना कोई जीत रहा है। स्वयं ही जीत नहीं रहे हैं मुझे भी जीता रहे है। इस जीत की ऐसी रीत हैं जो जिताकर प्रीत देती है।

जिनेश्वर की जीत चेतना की जीत है। संपूर्ण चेतना जाग्रत हो जाती है। कोई संघर्ष नहीं। कोई युद्ध नहीं। स्वयं ने स्वयं के साथ स्वयं को जीतना है। जब अन्य कोई आता तो संघर्ष होता है। किसी द्वंद्व के बिना चेतना का जागरण जीत बन जाता हैं। भगवती सूत्र मे कहा हैं **सव्वेणं सव्वे** हमारी चेतना असंख्य प्रदेश में व्याप्त हैं। प्रत्येक प्रदेश द्वारा आत्मा जाना जाता हैं जीता जाता है। किसी मात्र एक प्रदेश से नहीं बल्कि सभी प्रदेश से जानता हैं। भगवान महावीर को उडद के बाकुले बहेराकर चंदना ने धीरे से इतना ही कहा था प्रभु! अब मुझे तारलो। मैं इस संसार से हार गई हूँ। भगवान ने कहा, चंदन ! मुझे हारी हुई नहीं जीती हुई चंदना चाहिए। चंदना तुम चेतना में आओ। तुम्हें अनुभव होगा, तुम हारी नहीं हो जीती हो। तुम्हारी यह जीत अन्यों को पराजित कर पाई जानेवाली जीत नहीं है। यह तुम्हारी भगवत् सत्ता की जीत है। चंदन समय को जानो, स्वयं को पहचानो। शरीर नश्वर हैं ऐसा तुमने कईबार जाना परंतु आत्मा परमेश्वर हैं ऐसा समझना तुम्हारी विजय हैं। इस विजय में तुम्हें अनुभव होगा कि अब सिर्फ राजगृह का स्थान बदलना हैं, भाव से तुम स्वगृह सिद्ध स्वरुपा हो। प्रत्येक चेतन में स्वयं की चेतना को देखना तुम्हारा सर्वोत्तम पराक्रम हैं। अब दृश्य को नहीं दृष्टा को देखो। मैं को हटओ मैं से मिलो वत्सा !। यह बिना पराजय की जय है। **जिण्णाणं जावयाणं** हो जाओ।

चंदन अचरज से प्रभु की ओर देखती रही। भगवान को समझते समझते स्वयं को समझने लगी। बाहर भगवान को देखते देखते स्वयं में भगवान को देखने लगी। उसने अनुभव किया कि उडद के बाकुले के द्रव्यदान में स्वयं का समर्पणदान हो चुका है। महल के तलघर के क्षेत्र में भीतर का अतल क्षेत्रपर स्वयं का राज हो चुका है। काल की सीमाएं तूट चुकी है। कालातीत सिद्धत्त्व स्वयं अपनी समृद्धि छलका रहा है। भावातीत भगवान भीतर प्रगट हो गए। जनदृष्टि से भगवान वहाँ से लौट चुके थे। पर वास्तव में चंदना स्वयं के भीतर सदा भगवान को साथ अनुभव कर रही थी। तत्त्व श्रद्धा होते ही योग की शुद्धि होती है। दर्शन मोहनीय का अंश समाप्त हो जाता है। दर्शन मोहनीय में श्रद्धा के स्वीकार का अंश होता है और चारित्र्य मोहनीय में आचरण की हकीकत होती है।

जीत के चार प्रकार हैं - स्वप्रतिष्ठित जीत अर्थात् स्वयं की स्वयं के उपर जीत। स्वयं ने स्वयं को स्वयं के द्वारा स्वयं के लिए स्वयं के विकारोंको स्वयं से स्वयं में जीत लेना स्वप्रतिष्ठित विजय हैं। इसे षट्स्थानक विजय कहते हैं। इसमें निमित्त उपादान, प्रेरणा या उपदेश की आवश्यकता नहीं होती हैं। ऐसी विजय स्वयं संबुद्ध तीर्थंकरों को होती हैं। जन्म से ही इन में विजय के दर्शन होते हैं। चाहे वे बालक क्रीडा करते हुए वर्धमान महावीर ही क्यों न हो । आपने तीर्थंकर चरित्रों में पढा होगा चढाईकर आया हुआ दुश्मन तीर्थंकर पुत्र के जन्म के साथ भग जाते है। स्वचक्र परचक्र के भय समाप्त हो जाते है। स्वयं जीतते हैं और अन्य को भी जीताते हैं इसलिए तीर्थंकरों की इस विजय को स्वप्रतिष्ठित विजय कहते है।

दूसरा हैं परप्रतिष्ठित विजय। यह विजय पर निमित्त से प्राप्त होती है। विजय हमारी हो पर अन्य हमें सहयोग प्रदान करें। सहयोग शब्द का प्रयोग लोकप्रयुक्त शब्द है। अध्यात्म क्षेत्र की विजय में इसे अनुग्रह कहते हैं। भगवान महावीर को जीतने के लिए आए हुए गणधर स्वयं भगवान से जीते गए। बिना पराजय की यह जय दोनों पक्ष की प्रसन्नता का कारण बन जाती है। न युद्ध न पराजय फिर भी जय ऐसी यह विजय पर प्रतिष्ठित विजय हैं। महाराजा उदयन सिंधु सौवीर देश के ३६३ गाँव के स्वामी थे। जिस समय उन्हें अनुभव हुआ **सिद्ध समान सदा पट मेरो,** मेरा पट सिद्ध समान हैं। मैं सिद्ध भगवान का श्रावक हूँ। किसी संसारी पिता का पुत्र नहीं। स्वयं सिद्ध भगवान का पुत्र हूँ। पौषध शाला में पधारे। अपनी संपूर्ण राज्य समृद्धि अपने पुत्र अभिच को नहीं देते हुए अपने भानजे केशी को दिया। पुत्र को जब समकीत हुआ तब उन्होंने भावना भायी थी कि उदयन सिद्ध के सिवा अन्य सभी सिध्धों को मेरे नमस्कार हो। ऐसी भावना के कारण उन्होंने समकीत का वमन किया और मिथ्यात्त्व में आ गए। मनुष्य का आयुष्य पूर्ण कर वे असुर कुमार देव के रुप में उत्पन्न हुए। एक सिद्ध की अशातना से अनंत सिद्ध की अशातना हो जाती है। राजा का उदायन का उपादान शुद्ध था परमात्मा पूर्व प्रदेश मे थे और सिंधु सौवीर पश्चिम प्रदेश में था। भगवान महावीर को निमित्त बनकर राजा के पास आना ही पडता है। भगवान ने ज्ञान में देखा अनंतानुबंधी आदि ग्यारह प्रकृति को जीतकर राजा जग चुका है। पहला शब्द बोला **धम्मो** उसके बाद राजा को कहा स्वभाव में आ जाओ। **ऐगो में सासओ अप्पा।** निमित्तने उपदान को मार्गदर्शन किया। राजा की आत्मा ने प्रथम शुद्ध दशा और बादमें सिद्ध दशा को प्राप्त किया।

तीसरी विजय उभय प्रतिष्ठित विजय हैं। इस विजय में स्वयं के साथ अन्य का भी नैमित्तिक सहयोग निर्मित रहता है। शास्त्रों में कुछ ऐसे साधकवर्ग के सिद्धदशा प्राप्त साधकों का वर्णन मिलता है। जैसे साध्वी मृगावती को द्रव्य के रुप में भगवान महावीर, क्षेत्र के रुप में समवसरण, काल के रुप में सूर्य और चंद्र की समवसरण में एकसाथ उपस्थिति और भाव से भगवत् देशना निमित्तरुप सहयोगी बने थे। साध्वी मृगावती के भगवत् स्वरुप प्राप्त कर लेनेपर गुरुवर्या साध्वी चंदना जी के केवलज्ञान में वहीं निमित्तरुप बनी। इसीतरह साध्वी पुष्पचुला, चंडरुद्राचार्यादि आपसी सहयोग से परमविजेता बन परमेश्वरपद प्राप्त कर चुके। कईबार शब्दरुप आदि इंद्रियजन्य सहयोग भी अतिन्द्रिय सफलता में साधनरुप रहे है। जैसे इलायची कुमारने दोरी पर नृत्य करते

हुए मुनि और उनकी आहारचर्या देखते देखते भगवत् स्वरुप प्राप्त किया था। मुनि मासतुष ने मासतुष शब्द के मंत्रमात्र से केवलज्ञान पाया था। नेमिनाथ भगवान के समवसरण में महान अभिग्रहधारी ढंढणमुनि ने आहार में प्राप्त लड्डुका चूर्ण करते हुए परमपद प्राप्त किया था। नवदीक्षित गजसुकुमाल के भगवत् स्वरुप पाने में श्वसुर सोमिल ब्राह्मण निमित्त रुप बना था।

चतुर्थ अप्रतिष्ठित विजय । यह विजय किसी अन्य के द्वारा प्रतिष्ठित नहीं की जाती। स्वयं ही अनायास किसी भी सामन्य निमित्त से विजय प्राप्त कर लेते है। जैसे ऐवंतामुनिने स्वयं ही खेलते खेलते गौतम स्वामी को देखा, अंगुलि पकडकर भिक्षार्थ अपने घर ले गए, बाद में स्वयं ही परमगुरु गौतमस्वामी के साथ भगवान के समवसरण में गए, दीक्षित हुए, प्रातःकाल स्वयं ही पात्रि को पानी में तैराते हैं और स्वयं ही पश्चात्ताप कर परमविजय स्वरुप परमार्थ स्वरुप भगवत् स्वरुप पूर्णज्ञान को प्राप्त करते हैं।

आत्मा के शत्रु कषायादि को परमशत्रु और उसपर पानेवाली विजय को परमविजय बताते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में केसी श्रमण के द्वारा गौतमस्वामी को पूछा गया था कि आप हजारों शत्रुओं के बीच भी आराम से निर्भिक होकर रहते हो ऐसा मुझे अनुभव होता है। दुर्जेय उन शत्रुओं को आपने कैसे जीता, ऐसे मेरे इस संदेह का समाधान करो। गौतमस्वामी ने कहा अजेय ऐसा एक आत्मा ही महानशत्रु हैं। उसको जीत लेने से चार कषाय अर्थात् पाँच और पाँच इन्द्रिय इन दस को जीतने से हजारों शत्रु स्वयं ही जीते जाते हैं। एक को जीतने से पाँच जीते जाते है। पाँच को जीतने से दस जीते जाते है। **एगे जिए जियापंच, पंच जिए जियादस।** इसतरह एक आत्मा को जीतने से पाँच जीते जाते हैं और पाँच को जीतने से दस जीते जाते है, दस को जीतने से हजार जीते जाते है। युद्ध में हजार को जीतनेवाले ने यदि स्वयं को नहीं जीता तो वह पराजीत सा है।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ।

जिसने हजारों शत्रुओं को जीत लिया हो परंतु जिसने स्वयं को नहीं जीता वह पराजय का अनुभव करता है। हजारों हजार शत्रुओंवाले संग्राम में एक आत्मा को जीतनेवाले की सदा परमजय है। ऐसी परमजय को प्राप्त करने के लिए आनंदघन महाराजजी ने काललब्धि को महत्त्वपूर्ण बताते हुए आत्मजय का मार्ग कहा है। लब्धि के पाँच प्रकार हैं । करणलब्धि, उपशमलब्धि, क्षायिकलब्धि, देशनालब्धि और काललब्धि ।

आत्मा के ऐसे शुभ प्रभाव होते हैं कि मोहनीय कर्म की प्रकृतियों को अंतर्मुहूर्त कालतक ऐसी दबाकर रखता हैं कि तात्पर्यंत कोई भी प्रकृति उदय में नहीं आ सकती हैं उसे उपशमलब्धि कहते हैं। मिथ्यात्त्व कषायादि मोहनीय प्रकृतियों के क्षय कर देना क्षायिकलब्धि हैं। कोई महापुरुष पारिणामिक देशना प्रदान करते है तो उसे देशनालब्धि कहते है। मुनि नंदीषेण को देशनालब्धि प्राप्त थी। वैश्यागृह में रहकर रोज दश आत्माओं को देशना सुनाकर परमात्मा के पास दीक्षा दिलाते थे।

काल की परिपक्वता से जीव को धर्म प्राप्त होना काललब्धि कहलाता हैं। ८४ हजार काल बीतनेपर श्रेणीक महाराजा पद्मनाभनाम के तीर्थंकर होंगे और धर्मतीर्थ की प्रवर्तना करेंगे। जिस तीर्थ के आलंबन से अनेक

आत्मा उसी भव में मोक्ष प्राप्त करेंगे। इसे काललब्धि कहते हैं। इस काल के परिणाम ८४ हजार वर्ष के बाद परिपक्व होता है। जिसकाल में अनेक जीव केवलज्ञान और मोक्ष को प्राप्त करते है उसी काल में सभी जीव मोक्ष में जाते हैं ऐसा नहीं होता है। काल परिपक्वता के बीना चौथे आरे के काल में भी अनेकात्मा दूगर्ति को प्राप्त होते है और पंचमकाल में भी अनेक जीव मार्ग पाकर सदगति के अधिकारी बनते है। इस पंचमकाल में भी जिनेश्वर प्ररुपीत शासन की प्राप्ति जिनागम की प्राप्ति जिनप्रतिमादि का आलंबन यह सब काललब्धि की परिपक्वता हैं।

सभी द्रव्यों में परिणमन की शक्ति स्वाभाविक होती है। अन्य द्रव्य निमित्तमात्र है। सभी द्रव्य स्वयं के परिणमन के उपादान कारण है। अन्य बाहिय द्रव्य निमित्तमात्र है। जीव जब स्वयं के स्वभाव की ओर पुरुषार्थ करता है तब स्वकाल रुप निर्मल पर्याय प्रगट होती है। काललब्धि को क्षयोपसम लब्धि भी कहते है। अषाढाभूति पतित होने के बाद गुरु के पास आते है। स्वयं के विकल्प दर्शाते है। गुरु उन्हें समझाते है। अषाढभूति के आँखों में आँसु आ जाते हैं क्योंकि उनकी पतित होने की इच्छा नहीं थी। गुरु से कहते है गुरुवर ! आपका कथन त्रिकाल सत्य है फिर भी मेरे परिणाम सयंम में टिकते नहीं हैं। गुरु मौन रहे। जाते हुए अषाढाभूति गुरुदेव को पूंठ किए बिना गुरु के प्रति पूर्ण आदर और श्रद्धा के साथ जाते है। परिणाम यह हुआ कि काल के प्रभाव में पतित तो होते है परंतु ५६३ राजकुमारों को बोधान्वित कर वापस गुरुदेव के पास आते है। वे चारित्र भ्रष्ट थे पर दर्शनभ्रष्ट नहीं थे। ज्ञानी पुरुषों के मुखारविंद से उपदेश श्रवण करना देशनालब्धि है। पहले देशना सुनी हो वह स्मृति में रह जाए वर्तमान में वह स्मृति परिणाम प्रगट कर शुभ संस्कारों में कारणभूत बन जाए। उसे पूर्वभूतदेशनालब्धि कहते है।

करणलब्धि अर्थात् सूक्ष्म परिणाम। जीव जब जीवतत्त्व के विचार में सल्लीन रहता है तब करणलब्धि के परिणाम होते है। स्वतत्त्व के विचार में परिणाम इतने सूक्ष्म हो जाते हैं उन परिणामों के माध्यम से सम्यक दर्शन प्राप्त हो जाता है। करणलब्धि के अवलंबन से रागद्वेष की ग्रंथिको भेदकर मिथ्यात्त्व के उपर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसतरह के आत्मा के परिणामों को करणलब्धि कहा जाता है। यथा प्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ऐसे करणलब्धि के तीन प्रकार हैं। केवलज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति इसका काल में नहीं है पर सम्यक दर्शनादि इसकाल में प्राप्त हो सकते हैं। चार लब्धि प्राप्त हो जाने के बाद जब अंतर्मुहूर्त में सम्यक दर्शन प्राप्त होना होता है तब पाँचवी लब्धि के परिणाम अवश्य हो जाते हैं। ऐसा पाँचवी लब्धि का निमित्त नैमित्तिक संबंध हैं। चार लब्धि जीव को अनेक बार प्राप्त होती है परंतु पाँचवी लब्धि न पा सकने से वह वापस लौट जाता है। चार लब्धि भव्य-अभव्य सबको प्राप्त होती है। पाँचवी लब्धि भव्य कोही प्राप्त होती है।

स्थूलिभद्र ने रुपकोशा को कहा था आज और कल का भरोसा न करो जो करना हैं अभी करो। जीवन आज या कल में पूर्ण हो जाएगा। कामनाओं को जीतने के लिए समय को जानो और स्वयं को पहचानो। जीवन की इस विजय को पाने के लिए किसी को पराजित करने की आवश्यकता नहीं है। केवलमात्र स्वयं को जीत लो आत्मा को जीत लो। जो जीतता हैं वह जिनेंद्र कहलाता है। अनेक वर्ष जीया जाता है पर किसी विशेष क्षण में ही जीता जाता हैं।

भगवान महावीर ने कहा है स्वयं, स्वयं से ही युद्ध करो बाहर युद्ध क्यों करते हो? **अप्पणा चेव जुज्जाहि, किं ते जुज्जइ बज्जओ।** तेरे ही भीतर आत्मा के अनेक कर्म शत्रु है। उसके साथ युद्ध कर **जुद्धारिहं**

खलुदुल्लहं भाव युद्ध दुर्लभ है। साध संग्राम हैं, रात दिन जुझना जंत पर तंत का जोरभाई। जंत अर्थात् योगसाधना। साधना के समय में तंत्र अर्थात् कर्म। उसका जोर चलता है। उपवास करते हैं तो भूख लगती है, ध्यान करते हैं नींद लगती है। भीतर को भेदना है। भीतर ही भगवान है। अंदर परमरस का झरणा बहता है उसका पान करना है तो भीतर तक जाना ही है। भीतर का स्वरुप बताते हुए कहा है -

बिनुपगनिरत करो तह । बिनुकरदै तारी । बिनु नैनन छवि देखना । बिनु सरवन झणकारी ।

उस भीतर को बिना पाँव से पार कराता है। बिना हाथ दिए तारता है। आँखों के बिना दर्शन कराता है। बिना कानों के श्रवण कराता है। ऐसे ही परमस्वरुप के लिए युद्ध करना हैं। भीतर पहुंचना है, भीतर को पाना है। यही सच्चा संग्राम है।

जीव दो प्रकार के कहे है - कर्मदृष्टिवाले और आत्मदृष्टिवाले। यहाँ युद्ध का तात्पर्य शुद्धआत्मस्वाभाव को भूलकर केवल कर्मदृष्टिवाले बनकर कर्मों से लडते रहना नहीं है। यहाँ पुरुषार्थ करना हैं आत्म स्वभाव प्रगट करने का। देव गुरु धर्म और वीतरागवाणि के प्रति पूर्ण श्रद्धा के साथ रहकर इस प्रवृत्ति के रुकावट में बाध्य कर्मों के साथ युद्ध करना हैं। **बुज्झिज्जइ, तिउट्टिज्जइ** पहले आत्मा को जान कर्म को जान फिर उसे तोडने का प्रर्यत्न कर। ज्ञान को प्रज्ञाक्षिणी कहा है। प्रज्ञाक्षिणी के द्वारा कर्म और स्वभाव को जानकर प्रत्याख्यान प्रज्ञा द्वारा कर्मकषायों के उपर विजय पाना है।

कर्मों से हारकर बैठे नहीं रहना है। उससे जुझना है। मान लीजिए आपने उपवास किया है और भूख लग जाय तो क्या करना चाहिए? ध्यान या माला करते समय निंद आने लगे तो क्या करना चाहिए? भगवान महावीर को छद्मस्थ ध्यान में नींद आयी थी। तब भगवान चद्दर ओढकर सो नहीं गए पर **चंकमाणे** अर्थात् घूमने लगे। चक्कर लगाकर स्वध्यान करते रहे। जीत पाने के लिए लडना पडता है। स्थिति का स्वीकार नहीं चलता। केवल अपने घर में आए दुश्मन को बाहर निकाल देना विजय नहीं साहस है। विजय तो उसे कहते हैं दुश्मन की मर्यादा में प्रवेश कर कुछ उपलब्ध कर लेना कुछ हासील कर लेना। पश्चाताप, प्रायश्चित्त आदि द्वारा कर्मों को बहुत दूर दूर तक भगाकर उसकी मर्यादा का छेद भेद कर देना आत्मविजय है।

इसीलिए भगवान ने कहा है **अप्पणामेव जुज्झाहि** । तीर्थंकर देव स्वयं के बल से जुझते हैं। स्वयं की शक्ति से सब सहन करते हैं। जिनकी आँख की भृकुटी से इंद्र के सिहांसन प्रकंपित होते हैं। जो तीन भवन को विचलित कर सकते हैं जो समस्त विश्व का रक्षण कर सकते हैं ऐसे प्रभु स्वयं की रक्षा के लिए इसबल का प्रयोग नहीं करते हैं। भगवान महावीर को साडे बारह वर्ष में कितने उपसर्ग आये परंतु परमात्मा ने किसी भी उपसर्ग के विरोध में अपने बल का उपयोग नहीं किया। केवलमात्र कर्मक्षय कर कैवल्य प्राप्त करने के लिए अपने बल को सुरक्षित रखा। भगवती सूत्र में वरुणनाग नटुआ का वर्णन आता हैं। जो चेडा राजा के सुभट थे। वे छट्ठ छट्ठ के पारणे करते थे। महाराजा ने उन्हें दूसरे उपवास के दिन युद्ध में जाने का आदेश दिया। उन्होंने तुरंत ही तीसरा उपवास पचख लिया साथ ही उन्होंने नियम लिया जब तक शत्रु पक्ष की तरफ से मुझपर बाण नहीं आएगा तब तक मैं किसी को बाण नहीं मारुंगा। युद्ध क्षेत्र में भी वे शांत चित्त से खडे थे। वे जानते थे कि द्रव्यदृष्टि से, तत्त्वदृष्टि से,

परमाणु दृष्टि से, गुण दृष्टि से, स्वरुप दृष्टि से आत्मा शुद्ध हैं परंतु परवृत्ति के निमित्तदृष्टि से अवस्थादृष्टि से आत्मा समयमात्र के लिए मलीन भी होती है। व्यवहार में से आत्मा अशुद्ध है परंतु मैं पूर्ण शुद्ध हूँ। वर्तमान में आयी मलीनता की पर्याय को सर्वज्ञन्याय से छोडना है। युद्ध में जाते ही शत्रु पक्ष में से उसका आव्हान किया गया। उन्होंने अपना नियम दर्शाया। शत्रु ने सुनकर उपहास किया और बाण चलाया। वरुण सुभट की छाती में चार इंच गहरा बाण चुभा। युद्ध के नियम के अनुसार उसने भी शत्रु के उपर वार किया। तुरंत ही वह मर गया। मरते हुए शत्रु को भी वरुण ने समाधि करवाई। बाण दोनों को भी लगा था पर वरुण जीवीत था क्योंकि छद्मस्थ जीव को सातवे, आठवे, नववे, दसवे किंवा बारहवे गुणस्थान के स्वरुप में अखंड उपयोग स्थिर होता है तब तक मृत्यु नहीं होती हैं। वापस छट्ठे गुणस्थानक में आता हैं तब मृत्यु होती हैं। वरुण सुभट नदी के तटपर आता हैं और समाधि मरण से मृत्यु को प्राप्त होता है। एकावतरी होने से उसने सिद्ध पद की प्राप्ति का पथ पाया। अशुद्ध अवस्था का सर्वथा संपूर्ण नाश होने से आत्मा की पूर्ण पवित्र दशा का सर्वथा प्रकट हो जाना भावमोक्ष है।

भगवान ऋषभदेव ने ९८ पुत्रों से यही कहा था कि पौद्गलिक परमाणुओं से खचित राज्य का शासन क्यों मांगते हो? स्वयं को देखो स्वयं को जानो स्वयं को जीतो स्वयं के शास्वत स्वरुप पर शासन करो। लडते लडते तो तुम समाप्त हो जाएगे। सबकुछ रहेगा तुम नहीं रहोगे। युद्ध करो तो समझकर करो। जीतो तो समझकर जीतो । यदि जीत को समझा नहीं तो जीत भी हार ही होती है। जीव संसार में आता हैं तरह तरह के खेल करता हैं। हारता है जीतता हैं। जिता है मरता है चला जाता है। इसीलिए कृष्ण ने अर्जुन से पूछा था कि बोल, रथ कैसे चलाउ जिससे तेरी जीत हो? मैं तो सारथी हूँ तेरे रथ का। तू जिस दिशा में कहेगा जैसा कहेगा वैसा और वहाँ रथ ले जाऊंगा। तब अर्जुन ने कहा, महाराज! रथ जैसा चलाना हो वैसा चलाओ। जहाँ ले जाना हैं वहाँ ले जाओ। जितुंगा तो जीत आपकी, हारुंगा तो हार आपकी। जहाँ ले जाओगे, जिसके सामने खडा करोगे वह मैं लडूंगा। सोचिए आप कृष्ण ने क्या कहा होगा ? गाडी मालिक की मर्जी से चलती हैं या ड्राइव्हर की ?

परमात्मा महावीर ने देवानंदा के गर्भ में जन्म लिया परंतु उनको जन्म दिया त्रिशला माता ने। क्योंकि ब्राह्मण के यहाँ जन्म लेनेवाले को क्षत्रिय जाति जितनी जीतने की वृत्ति और क्षमता नहीं होती है। क्षत्रिय मागने के लिए तैयार नहीं होता है वह जीतकर लेने में ही खुश रहता है। वह कुछ भी पाने के लिए संघर्ष करता है परंतु किसी की मेहरबानी का इंतजार नहीं करता। देखो ना गौतम स्वामी ने कहा संघर्ष किया? बार बार भगवान के पास स्वयं के ज्ञान की और मोक्ष की याचना और चर्चा करते रहे।

आत्मा में चेतना नाम का गुण हैं। उसकी मुख्य दो शक्ति हैं। दर्शन चेतना और ज्ञान चेतना। दर्शन चेतना गुण का लक्षण है सामान्य सत्ता मात्र का अवलोकन करना। आत्मा जब स्वयं के त्रिकाली स्वरुप के सन्मुख होता है उस समय उत्कृष्टतारुप स्वभाव जिसे स्व पर का भेद रुप बोध नहीं हैं परंतु स्व स्वभाव का निर्विकल्प रुप देखता हैं। दर्शनचेतना का विषय निर्विकल्प और निराकार सामान्य हैं। ज्ञान चेतना सविकल साकार विषय है।

चेतना के स्वरुप को जानकर उसके परिणाम पाये जाते हैं। जैसे आम की गुठली कच्ची खाओ तो कटु लगती हैं। उसको बोयी जाए तो उगती हैं आम बनता हैं और वह आम पहले खट्टा फिर मीठा होता है। उसी गुठली

को यदि बोयी नहीं और सेकली तो उसकी कटुता टलती हैं और अपना भिन्न स्वाद प्रस्तूत करती है। **अत्थि ते अत्थि तं परिणति, नत्थि ते नत्थि तं परिणमति।** जो जिसमें होता हैं वहीं उसमें से प्रगट होता है। जो जिसमें नहीं हैं वह उसमें नहीं परिणमता है। **जिण्णाणं जावयाणं** पद स्वयं को जितकर अन्य को जिताने का सामर्थ्य रखता है । इसे चतुष्पदी पद हैं। इसका अन्य तीन पद से संबंध हैं -

प्रेम की अभिव्यक्ति जीत हैं,
शांति की अभिव्यक्ति तीर्ण हैं।
आनंद की अभिव्यक्ति बोध की प्राप्ति हैं,
आत्मा की अभिव्यक्ति मुक्ति हैं ।

जितने के लिए युक्ति चाहिए, तिरने के लिए शक्ति चाहिए।
बोध पाने के लिए पूर्ति चाहिए, सिद्ध होने के लिए मुक्ति चाहिए।

व्यवहार में कहा जाता है -

जवानी में जीत लो, व्यवहार और व्यापार में तीर जाओ।
प्रौढावस्था में बोध पामो और मृत्यु के पहले मोक्ष पाओ।
अंत में एक सिख साथ में रखो सदा - हारे ते हरि नहीं, हरि ते हारे नहीं।
यदि हरि हमारे साथ हैं तो जीवन में हमारी कभी हार नहीं और जीवन कोई भार नहीं।

ऐसे जिणाणं जावयाणं से विजयपद लेते हुए तिरने के लिए स्वयं को भव समुद्र में समर्पित कर समंदर तिर्ण करने के लिए तैयार हो जाओ।

/// जिण्णाणं जावयाणं ///
/// जिण्णाणं जावयाणं ///
/// जिण्णाणं जावयाणं ///

नमोत्थुणं तिण्णाणं-तारयाणं

तिरजाना उनकी साहजिकता है। तारलेना उनकी स्वाभाविकता है। इस सहजता और स्वाभाविकता से उनकी स्व-पर व्यवसाय करुणा हमारे कल्याण का कारण बनती है । तारना उनका स्वभाव है पर किसको तारना ? कुछ जीव मछली जैसे है जो उसे ही जीवन मान बैठे हैं । उन्हें तो समुद्र से बाहर भी नहीं निकाला जाता है । पहले यह तय करों कि तिरना चाहते हो ? स्वयं को डूबा हुआ मानते हो ? डूबने से ऊबे हो क्या ?

तारना परमात्मा का स्वभाव है पर, उनको वे तारते है ; तिरना जिसका स्वभाव है । डूबने से जो ऊबा हुआ है । विश्वास करो वे अवश्य तारलेंगे जिन्हे डूबने का अहसास हो। जो डूबडूबकर ऊबा हुआ है । जो बचना चाहता हो । जो तिरना चाहता हो जो तारनेवाले की तीव्र प्रतीक्षा करता हो । तारनेवाले पर विश्वास करता हो । पूर्ण समर्पण । बस फिर कुछ बचना नही है । उनसे कुछ छीपता नहीं है । पुण्य पाप का हिसाब । जन्म-मृत्यु की किताब । रागद्वेष के सब करतब । सबकुछ उनके साथ । सब कुछ उनके पास । अलग अब कुछ नहीं। इस जन्म से यात्रा का प्रारंभ हो रहा है । अंतिम पडाव मोक्ष है । आप क्या सोच रहे यह सब होता रहता है । वह तारता है हम पुन: गिरते हैं। वह बचाता है हम फिर वही करते हैं जो हमारी अनंत जन्मों की आदत है । बचाना उनका स्वभाव है । गिरना हमारा स्वभाव हो गया है। स्वभाव नहीं है पर आदत है । मजबूरी मानते है पर यह हमारी कमजोरी है ।

नमोत्थुणं से जुड जाओ । **"तिण्णाणं तारयाणं"** मंत्र से जुड जाओ । अनंत गणधरों के योगबल से जुड जाओ । दुनिया की कोई चीज अपको विकास यात्रा में नहीं रोक पाएगी। आप स्वयं अपनी इस भाव-यात्रा में स्वयं को भगवान महसूस करोगे । अपको अनुभूति होगी कि आप पार्यायबोध के कारण डूब रहे हो । आप शास्वत चैतन्य अनंतदर्शी आत्मा हो । गणधर भगवंत आपकी रक्षा कर रहे है । बच्चे को माँ उठाती है वैसे गणधर भगवंत उठाते हैं । परम करुणा निधान अपनी गोदी में हमें प्रस्थापित करते हैं ।

याद रखना अनंत जन्मों की आदत हैं। वह तारता हैं हम पुन: पुन: गिरते हैं। वह बचाता हैं हम फिर वही करते हैं। जो हमारी जन्मोंजन्म की आदत है। फिर भी जब एकबार उनको सोंप दिया वह अवश्य तारता हैं। सवाल हैं समर्पण का। स्वयं को तारने के लिए संकल्प का। अब यदि इस बात का स्वीकार है तो आइए जुड जाइए इस यात्रा में। जीवन बदल जाएगा। पर्याय सफल होगी। सीधा मोक्ष तो नहीं होगा परंतु आगामी भवयात्रा पवित्र होगी। अब सब कुछ उनकी नजरों से हो गुजरे गा। अनुभव होगा कि मैं इस पर्याय से अलग हूँ। परमपुण्य से नमोत्थुणं द्वारा परमतत्त्व का संयोग मिला है। संकल्प करो कि मुझे तीरना हैं तो परमतत्त्व से हमें कुछ नहीं चाहिए।

केवल पात्र को पानी में छोडकर मै तिरता हूँ , मेरी पात्री तैरती है,कहनेवाले अतिमुक्त कुमार की इस प्रक्रिया के बारें में स्थविरमुनियों के द्वारा परमात्मा को ऐसा पूछा जानेपर कि **"भगवन् ! आपका शिष्य**

अतिमुक्त कुमार श्रमण कितने भव करने के बाद सिद्ध होगा ?" परमात्मा ने कहा, संसार समुद्र है, शरीर नौका है, जीव नाविक है, महर्षिलोक इसे पार कर लेते है ।

सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चई नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ।।

आर्यो ! यह अतिमुक्त मुनि प्रारंभ में ही आत्मस्थिति को भली भाँति जान चुके है । पूर्वजनित कर्मो के कारण इनकी यह बाल चेष्टा है । प्रथम मुलाकात में ही इन्होंने गणधर गौतम स्वामी को **"के णं भंते तुब्भे ? किं वा अडह ? कहि णं भंते ! तुब्भे परिवसह ?"** आप कौन है ? किसलिए घूम रहे हो ? आप कहां रहते है ? प्रश्न सुनकर मुनि गौतम ने अतिमुक्त की आंखों में झाँका था यह सोचकर कि ऐसा प्रश्न मुझे कौन पूछ सकता है । मेरी आत्मा या मेरे परमात्मा । मै कौन हूँ ? इसी प्रश्न का उत्तर पाने के लिए मैने प्रभु की शरण ली है । मै यही तो ढूंढ रहा हूं । अनादि काल से इस संसार में परिभ्रमण करने वाला मै यही तो नहीं जानता हूँ कि मै कौन हूँ ? क्यों परिभ्रमण कर रहा हूँ ? इन्हीं प्रश्नोंने मुझे झकझोरा है । **"कोऽहं नाऽहं सोऽहं"** ये मेरे साधना सूत्र है । परमात्मा के द्वारा प्रदत्त त्रिपदि से निर्मित आचारांग सूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम उेशक में ही **"सोऽहं"** की साधना का मंगलाचरण हुआ है ।

गौतम स्वामी के साथ के इस सत्संग में अतिमुक्त के जीवन में मोक्ष का मंगलाचरण हो गया । इसी मिलन में अतिमुक्त के सिद्धत्त्व का शिलान्यास हो गया । यही खेल की नौका अतिमुक्त के लिए **"तिण्णाणं तारयाणं"** का साधन बन गयी। साधक के तीन शाश्वत प्रश्नों के उत्तर अतिमुक्त के लिए वरदान बन गए।

हमारा कल का विषय था जिण्णाणं -जावयाणं। जीतनेवाले और जितानेवाले परमात्मा ने कहा तू एक को जीतले। एक को जानले, स्वयं को जानले, स्वयं को जीतले। परमात्मा का यह संदेश सुनकर हम स्वयं को जानने लगे। स्वयं को देखने लगे। स्वयं मे खो गए। स्वयं मे लीन हो गए। गहराई मे चले गए। सागर वर गंभीरा..... अहा! हा ! समुद्र की तरह गंभीर हो गए। बस! इतने में ही किसीने धक्का दिया। गिर पडे नीचे अथाह समुद्र में। हमें कौन धक्का दे सकता है ? हमें किसने धक्का दिया ? जिनेश्वर के ध्यान में बैठे हुए हमें कौन धक्का दे सकता है ? धक्का दिया जाता है या धक्का मारा जाता है ? गुरु शिष्य को संसार में से धक्का देता हैं। शत्रु शत्रु को शत्रु समझकर धक्का मारता है। धवल शेठने श्रीपाल को धक्का मारा था क्योंकि धवल श्रीपाल का गुरु या परमात्मा नहीं दुश्मन था।

आप में से कई लोगोंने स्वीमींगपूल की प्रेक्टिस की होगी। प्रेक्टिस नहीं भी की होगी तो भी पता होगा कि, पहली बार देखा जाता है हमें अनुभव होता है कि हम इस प्रक्रिया से अनभिज्ञ और अनजान है। दूसरी बार जाना जाता है। तीसरी बार सीखा जाता है और अंत में किया जाता है। देखना तो आसान है। देखने में कोई प्रतिक्रिया नहीं

होती है। जानने में कोई सक्रिय प्रयास नहीं परंतु बौद्धिक अनुप्रास होता है। सीखनें में कला का अविष्कार होता है। अंतिम करनेवाली प्रक्रिया अजीब होती है। एक बडा मचान होता है। स्विमिंग करनेवाले उसपर से छलांग लगाकर पानी में गिरते हैं देखना आसान है। लगता है कुछ खास बात नहीं। सीखते समय स्वीमिंग सीखाने वाले गुरु हमें मचानपर ले जाते हैं। तैरते हुए तैराकियों को दिखाते हैं। तैरते समय हाथ पांव कैसे हिलाने चाहिए ऐसा सीखाते हैं। जब तक कि हम इस बारे में कुछ सोचे, समझे, जाने, देखे तबतक तो गुरु हमें धक्का लगाकर पानी में फेंक देते हैं। पानी में गिरते ही स्वयं का ज्ञान प्रकट हो जाता है। थियरी से ध्यान हटकर प्रेक्टिकल सुरु हो जाता है।

पहली क्षण कितना अजीब लगता है। यही तो अंतर है माँ और गुरु में। माँ मचानपर ही चढने नहीं देती कही मचानपर से बच्चा गिर न पडे। गुरु प्रेम से मचान पर चढाते हैं और दुगुने प्रेम से धक्का लगाते हैं। "आत्मार्थी गुरुदेव मोहनऋषीजी म. सा. कहते थे, तैरने के लिए डूबना पडेगा, और डूबना हो तो मत पूछना पानी कितना गहरा है। तैरने के लिए पानी की गहराई जानने की जरुरत नहीं है। किनारे को जान लो। देखो कि अपना हौसला कितना है। उमंग और उत्साह कितना है। इसे ध्यान में लो। दीक्षा लेना अर्थात संसार समुद्र को तीर जाना है । यह मत पूछना कि मार्ग कितना कठिन है। कितना लंबा है। ऐसा सोचने से तो मार्ग बोझील बनता है। संयम को बोझील नहीं मोझील बनाओ।"

गुरु से धक्का लेकर पानी में गिरते ही हम कुशलता से दूर निकल जाते हैं। कभी कोई कुशल शिष्य गुरु की नजरों से ओझल भी हो जाता है। हमें अपनी कुशलता का और प्रवीणता का अहं हो जाता है। हमें लगता है हम पूर्ण पारदर्शी हो रहे है। अब तो हम कुशल तैराकी एवॉर्ड भी ले सकते हैं। इतनें मे तो एक ऐसी तरंग आती है। जो हमें विह्वल कर देती है। वातावरण में विप्लव मचा देती है। गुरु अब दूर लगते हैं। अब याद आते हैं **तिणाणं तारयाणं**। अब तो केवल मात्र परमात्मा ही तार सकते है। परतमात्मा की तारने की विधि दो प्रकार की है -

१) तीर्थ के जहाज में स्थान देकर पार उतारते हैं।

२) परमात्मा समुद्र को सोंख लेते हैं।

भक्तामर स्तोत्र में मुनि मानतुंगाचार्य कहते हैं, परमात्मा ! संसार के कुछ लोग ऐसे हैं जो पानी से ही डरते हैं। तीरना है पर तैरने की हिम्मत नहीं है। प्रभु ! उनको तारने के लिए आपकी उस कला को नमस्कार है।

तुभ्यं नमो जिनभवोदधि शोषणाय।

भवसमुद्र का शोषण करनेवाले हे परमात्मा ! आपको नमस्कार है। घर छोडने के बाद अकेली मीरा को देखकर किसीने पूछा कि, इस तरह अकेले आप कैसे भवसागर पार करेगी? तब मीरा ने बहुत अच्छा कहा, मेरे भगवान ने मेरे भवसागर का शोषण कर लिया है अब चिंता किस बात की।

भवसागर सब सूख गयो है, फिकर नहीं मोहे तरनन की.....

प्रारंभ करो आज से ही। सुबह उठो तो एक ही भाव के साथ उठो कि इस गहरे संसार से परमात्मा मुझे तार

रहे हैं। प्रात:काल उठते ही पूर्ण तरोताजा होकर स्वस्थ हो जाओ। गहरे गहरे सांस लेकर स्वयं को हलका महसूस करो। रातभर के विश्राम के बाद यह आपकी अपनी प्रभात है। आप का चित्त निर्मल और निर्विकार है। आपके चिदाकास में अब कोई बादल नहीं है। निद्रा खुलने के तुरंत बाद आँखे खोलने से पहले ही कुछ समय ऐसे ही पडे रहो। स्वयं के अगुरुलघु स्वभाव का अनुभव करो। हमारा चित्त अत्यंत संवदेनशील है। आँख खोलते ही हमे संसार को देखकर संसारी हो जाते है। इसी लिए चेतना को परम चेतना में संलग्न होने दो। ज्ञातादृष्टा बनकर स्वयं को जान और परम को देख। कही ऐसा न हो कि हम किसी तट पर पहुंच कर भी समुद्र न छोड रहे हो। परमात्मा उनको संबोधन कर कहते है, वत्स! बस हो गया। कितनी बार समुद्र में गिरा कितनी बार बाहर आया। अब छोड ये गैलगम्मत। इसके लिये शास्त्र में बहुत सूंदर गाथा है -

तिण्णोहुसि अण्णवं महं, किं पुणचिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुरपारं गमित्तए, समयं गोयम मा पमायए।।

वत्स ! अब छोड दे तट पर नाचना। अब समुद्र पार करके बाहर आजा। बहोत शीघ्रता से आजा। क्षणिक मात्र का प्रमाद किये बिना बाहर आजा। मरजीवा की तरह कितनी बार गहरे समुद्र में जाकर रत्न लाकर भक्तों को खुश करता रहेगा? तट पर रहना खतरा है। तू खतरे से बाहर हो जा। समुद्र की एकाद लहर भी तूफान भरी होगी तो पुनः तुझे गहरे समुद्र तक ले जा सकता है। संसार समुद्र है। संयम तट है। तट को ही सबकुछ न मानलो। तट से भी आगे एक मार्ग है। जिसपर तुम्हारी मंजील है। वत्स! अभितुर अर्थात् शिघ्र ही बिना प्रमाद किये तू पार कर ले। संसार की गहराई अतल है अमाप है। वत्स! जो भारी हैं वह डूबता है। जो हलका है वह तिरता है।

तूने कितना भी ज्ञान प्राप्त किया हो परंतु तैरकर पार हो जाने का ज्ञान, विद्या, कला नहीं जानता है तो सब व्यर्थ होता है। जैसे एक बार एक विद्वान नौका में बैठा था। सामने तट पर आयोजित एक विद्वत्सभा में उसे जाना था। नाविक अपनी स्वाभाविक गति से नौका चला रहा था। यात्रिक गति में शिघ्रता और त्वरितता चाहता था। बारबार कलाई पर लगी घडी और सामने तट से नौका तक का फासला देखता रहता था। साथ ही नाविक को शिघ्रता से नौका चलाने का आग्रह भी करता था। एक बार उसने अपनी कलाई की घडी को दिखाते हुए कहाँ, देखो घडी में कितने बजे है, मुझे छह बजे आयोजन में पहुंचना है। नाविक ने कहा बाबूजी! हमें घडी देखना कहाँ आवे ? हम तो बस आप जैसे यात्रियों को इस तट से उस तट तक सुरक्षित कैसे पहुचाना यही जानते हैं। यात्री ने कहाँ, यदि घडी देखना न आवे तो तुम्हारी जिंदगी का पांव (१/४) हिस्सा पानी में गया। अच्छा घडी देखना नहीं आता है। पर तुम कितना पढे हो ये तो बताओ ? उसने कहा, बाबूजी ! पढना लिखना कहा जाने ? हम तो सिर्फ नौका की गति, प्रकृति का हवामान और समुंदर और किश्ती का संबंध जानता हूँ। विद्वान ने कहा फिर तो तेरी आधी जिंदगी पानी में गयी।

यह भी एक संसार का आश्चर्य है कि किसीकी जिंदगी का हिसाब किताब कोई कैसे कर सकता है ? जो न तो गुरु है न ज्योतिषी और न तो नाविक ने अपने जीवन के हिसाब की जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा व्यक्त की है । यात्री ने तीसरा प्रश्न पूछा कि, तुम बार-बार ऊपर आकाश की ओर क्यों देख रहे हो ? नाविक ने कहा हवा कि लहरों में तूफान नजर आता है, इसलिए मै आकाश की स्थिति को देखता हूं । विद्वान ने कहा इसका मतलब तुम्हें भूगोलशास्त्र और खगोलशास्त्र का ज्ञान है? बाबूजी ! आपको मैंने कहा न कि मै पढा लिखा नहीं हूं । नाविक का यह वाक्य सुनकर यात्रि जोर से हँस पडा और कहने लगा फिर तो तुम्हारी ७५ % जिंदगी पानी में गयी । नाविक ने कहा सही है बाबूजी ! यू तो बचपन से अभीतक सारी जिंदगी पानी में ही बितायी है । सुबह से उठकर शाम तक नौका में ही समय बीताता हू । कभी रात भी हो जाती है । इन्हीं समुंदर की लहरों से प्यार करता हूं । कभी तूफान आने पर इन्ही लहरों को सहलाता हूं , स्वयं को संभालता हूं और घर लौटने पर भगवान का आभार मानता हूं । नाविक का उत्तर सुनकर विद्वान कुछ प्रश्न करे उससे पहले ही समुंदर में भयंकर तूफान की शुरुआत हो गयी । समुंदर का मायावी रुप देखकर विद्वान का हौसला टूटने लगा । नाविक ने कहा बाबूजी ! संभाल लीजिए स्वयं को । तूफान का कोई भरोसा नहीं है । मै आपको सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयत्न करता हूं परंतु तूफान बेकाबू हो जाए तो नौका नियंत्रण से रहित हो सकती है । अच्छा, तो आप यह बताइए कि आपको तैरना तो आता है न ? गुस्से में आकर घबराते हुए विद्वान ने कहा, बेवकूफ ! यदि मुझे तैरना आता तो तेरी नौका में क्यों बैठता ? नाविक ने कहा, माफ करना बाबूजी ! मेरी तो पौनी जिंदगी पानी में गयी आपको तो घडी देखना आता है । आप पढे लिखे हो । भूगोल-खगोल जानते हो परंतु सिर्फ तैरना नहीं आता तो आपकी पूरी जिंदगी पानी में गयी कहकर ठहाका मारकर हंसने लगा । गुस्से में आकर विद्वान ने कहा, तुम्हें मजाक सुझती है, यहाँ मेरी जिंदगी के साथ खिलवाड हो रहा है । इतने में नाविक ने लहर के उपर जोर से थपाटा मारके नौका को इस तरह से घुमाया कि नौका यात्री समेत उछलकर तूफान से बाहर होकर सीधी तट तक पहुंच गयी। घबराए हुये विद्वान को हाथ पकडकर प्रेम से नौका से बाहर उतारा। क्या मात्र पानी में तैरना या तैरना आ जाने को ही कला कहते है ? तैरना तो मछली को भी आता है। पूरी जिंदगी तैरती ही रहती है पर बिचारी तट से ही डरती है।

ज्ञानी पुरुष हमें अवश्य तारते हैं पर हम तट से ही डरते हैं। तिण्णाणं तारयाणं के हाथों से खिसक कर पुन: पुन: पानी में चले जाते हैं। बस हमें तो तैरते ही रहना है। बाहर निकलना ही नहीं है। पानी की विशालता और समुद्र की गहराई हमें रास आ गई है । आज से ही नहीं भंवातरों से हम ऐसा ही करते रहे हैं। परमात्मा ने हमें एक नहीं दो नहीं चार-चार नावे दी हैं। जिनको तीरना है उन्हें कहीं उलझने के आवश्यकता नहीं। कूद पडो किसी भी एक नाव में। दो नाव के यात्री कभी मत बनना। दो नाव में पांव रखोगे तो पार नहीं उतर पाओगे। फिर कही डूबने की आशंका रहेगी। पथ विशाल है। साधन अनेक है। स्वयं को सामर्थ्य विहीन न समझो। भूजा से नहीं तैर सकते हो तो यहाँ

परमात्मा ने चार तरह की नावे रखी हैं साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका। व्यवहार भाषा में इनका महत्त्व बोटों के नाम से समझने में आसान होगा।

१) मोटर बोट : इसे यांत्रिक बोट कहते हैं।

२) सैलबोट : जो सढ से चलती है।

३) रौ-बोट : जप पतवार से चलती है।

४) पैडल बोट : जो पाँव से दबाकर चलती है।

चारों नौका के प्रकार अलग हैं, गति अलग है, पद्धति अलग है पर सभी नांव समंदर पार कर तटपर अवश्य पहुंचाती है।

संसार समुद्र है। तटपर से सुहावना लगता है परंतु कभी भयंकर हो सकता है। तिण्णाणं तारयाणं हमें सह्मालकर शासन की नौका में बैठाकर तटपर लाते हैं। तीर्थ में सुरक्षित करते हैं। बोध देकर मोक्ष तक ले जाते हैं। आज हम तिण्णाणं तारयाणं का जापकर ऐसा अनुभव करें कि हम तटपर पहुंचकर बुद्धाणं बोहयाणं से प्रार्थना करते हैं कि हमें बोध दो और मोक्ष प्राप्त कराओ।

नमोत्थुणं तिण्णाणं-तारयाणं
नमोत्थुणं तिण्णाणं-तारयाणं
नमोत्थुणं तिण्णाणं-तारयाणं

नमोत्थुणं
बुद्धाणं बोहयाणं

स्वयं में संबुद्ध हैं अतः परमात्मा सयंसंबुद्धाणं हैं।
अन्य में बोधि प्रगट करते हैं इसलिए बोहिदयाणं हैं।
स्वयं बुद्ध हैं और अन्य में बोध प्रगट करते हैं अतः बुद्धाणं बोहयाणं है।

परमात्मा देते हैं उसे बोध कहते हैं।
हम लेते हैं उसे बोधि कहते हैं।
जो हममें परिणमता है उसे संबोधि कहते हैं।

जीवदयाणं अर्थात् अस्तित्त्व में आना।
बोहिदयाणं अर्थात् अस्तित्त्व की अनुभूति में आना।
बुद्धाणं बोहयाणं अर्थात् अस्तित्त्वमय हो जाना।

बुद्धत्त्व का बोध तीन तरह से प्रगट होता है।
आदेश, उपदेश और संदेश।

इन सबका अनुप्रास क्रमबद्ध देखकर हम इसकी गहराई को छूकर अनुभव पाऐंगे।

सयंसंबुद्धाणं उपदेश (बोध)देते हैं।
बोहिदयाणं आदेश (बोधि) देते हैं।
बुद्धाणं बोहयाणं संदेश (संबोधि) देते हैं।

समस्त नमोत्थुणं सूत्र में बोध के ये तीन सूत्र प्रस्तुत हैं। तीनों का आपस में संबंध होते हुए भी तीन मंगल के रुप में सूत्र में प्रस्तुत हैं। सयंसंबुद्धाणं आद्य मंगल है। बोहिदयाणं मध्यमंगल है और बुद्धाणं बोहयाणं अंतिम मंगल है। हमारी चेतना मुख्य दो अवस्थाओं में परिणमित होती है - प्रसुप्त और प्रबुद्ध। ज्ञानी पुरुषों की चेतना के परिणाम के अनुसार बुद्ध पुरुषों के तीन प्रकार के होते है। प्रत्येक बुद्ध, बुद्धबोधित और स्वयंसंबुद्ध। प्रत्येक बुद्ध अर्थात् किसी निमित्त अर्थात् संसार के पदार्थ प्रसंगपर से बैराग्य प्राप्त कर बुद्धत्त्व प्राप्त कर लेना। जैसे स्त्रियों के हाथों के कंकण उतार लेनेपर एक एक चुडी रखने से होनेवाली शांति से बुद्धत्त्व पाया। बुद्ध बोधित अर्थात् गुरु से प्रतिबोधित होकर बुद्धत्त्व प्राप्त करना। स्वयंसंबुद्ध अर्थात् किसी भी निमित्त अथवा गुरु उपदेश के बिना स्वयं प्रतिबुद्ध होना जैसे तीर्थंकर। सिद्ध के पंदरह प्रकारों में स्वयंबुद्ध सिद्ध, प्रत्येक बुद्धसिद्ध और बुद्ध बोधित सिद्ध के प्रकार मिलते है।

बोध में तत्त्व है। बोधि में सत्त्व है और संबोधि में सर्वस्व हैं जो सिद्धि के लिए आवश्यक है। भगवान ऋषभदेव ने ९८ पुत्रों को बोध द्वारा उपदेश देकर तत्त्व प्रदान किया था। ब्राह्मी और सुंदरी को बोधि द्वारा संदेश पहुंचाने का आदेश देकर उनमें सत्त्व प्रगट किया था। बाहुबली को ऐसी संबोधि थी जिसमें संदेश आदेश बन गया और बाहुबली का सर्वस्व प्रगट हो गया। इसमें करना था भगवान ऋषभदेव ने और वह भी बाहुबली के प्रति। ब्राह्मी सुंदरी सिर्फ माध्यम मात्र थी। संदेश वाहक के रुप में अनायास पहुंच गयी थी। भगवान ने संदेश वाहक का सत्त्व प्रगट कर दिया। दोनों बहनें स्वयं के प्रति कुछ पाने के लिए नहीं आयी थी। वे तो आयी थी भाई को मिलने के लिए। बाहुबली जी के दीक्षा की प्रथम एनिवर्सरी मनाने। क्या कुछ पा लिया होगा वर्षभर में उस साधना को प्रणाम करने आयी थी।

एनिवर्सरी शब्द सुनकर आपको विचित्र लगा होगा। यह आज का शब्द है। आज साधु साध्वी एनिवर्सरी मनाते हैं। संसारियों को देखकर संयम की २५ वर्ष की सिलवर ज्युबिली मानाइ जाती है। जिस संयम की प्राप्ति सुवर्ण सिद्धि की अमूल्य तक माना जाता है। आचारांग में इसके बारे में बहुत अच्छा कहा है, **जहेत्थ मए संधि जोसिए भवति, एवं अनत्थ संधि दुज्झोसिए भवति।** जैसा सुवर्ण अवसर मुझे प्राप्त हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कइ भवों के संचित पुण्य हो तब ऐसा सुवर्ण अवसर प्राप्त होता है। जिस पथ की प्रतिक्षणें सुवर्णमय हो उस के २५ वर्ष को रजतमय मानकर महोत्सव करना कैसे उचित है? बिचारे संसारी जिनके जीवन के २५ वर्ष अनेक संघर्षों में बीते हो वे २५ वर्ष तक या ५० वर्ष तक संबंधों के टीके रहने के अवसर को महोत्सव के रुप में मनाए उचित भी है।

चलो जो भी हो हम तो चले उन बहनों के साथ जो अपने भगवंत बनने वाले संत मुनि के पास प्रभु का संदेश पहुंचाने गइ थी। परमात्मा की कोई भी सेवा निरर्थक नहीं होती। परमात्मा का कोई भी आदेश व्यर्थ नहीं होता। वही सार्थकता सत्त्व बनकर सार्थक हो गई। परमात्मा ने कहा तुम्हारा भाई हाथी की अंबाडी पर चढ कर बैठा हुआ है उसे उतारो पहले नीचे। बस मेरा यह संदेश उन्हें पहुंचा दो। अचरज से देख रही है दोनों बहनें। दीक्षितभाई कैसे हाथी की अंबाडी पर बैठा होगा। प्रभु से कहा हम आपकी बात समझे नहीं। भगवान ने कहा आपसे बात नहीं कही संदेश दिया है। संदेश समझने के लिए नहीं सुनाने के लिए होता है। जिनको संदेश दिया जाता है उन्होंने इसे समझना है। संदेश उनको दिया जाता है जिन्होंने उपदेश सुना हो और आदेश धारण किया हो। आप तो पर्वत की टोच पर हाथी के उपर अवरुढ आपके भाई को संदेश दो कि वह गज से नीचे उतर जाए। परमात्मा का संदेश लेकर दोनों बहनें पर्वत की तलहटी पहुंची पर्वत के उपर चढने का मार्ग देखती हुइ प्रदक्षिणा देने लगी। कोई रास्ता न मिलनेपर वे सोचने लगी क्या किया जाय? जहाँ हम नहीं पहुच सकते वहाँ मन जा सकता है। मन को पवन ले जाता है, पवन को वचन ले जाता है। ऐसा सोचकर उन्होंने दीर्घ श्वास के साथ बाहुबलि जी को संदेश सुनाया और वापस लौट गई।

थोडीसी गहराई में जाइए। मुनिश्री जहाँ ध्यान में खडे थे। पर्वत की टोक, बेल बल्लरी से लिपटी हुई काया, पक्षियों ने जिसपर घोसलें बनाए हो ऐसे अंग उपांग, सिंह की गर्जना और हाथी के चिंघाडों को काटती हुई

दो साध्वियों की मधुरस्वरलहरी वहाँ कैसे पहुंच सकती हैं? यहाँ महत्त्व शब्द का नहीं भाव का है। भाव को लेकर आयी हुई बहनों के स्वभाव का है। यहाँ महत्त्व है परमात्मा के प्रभाव का। परमात्मा के प्रभाविक और पारिणामिक पुण्य परमाणु सहज अपना मार्ग बनाने लगे। उँचाई, नीचाई, गोलाई आदि परिणाम भौगोलिक परिस्थिति के होते हैं। आत्मभावों का परिणाम अपूर्व होता है। ऐसे अनुभवों की आनंदलहरी में दोनों बहनें वापस लौटकर पहुंचने लगी प्रभु के पास । सोच रही थी जाते ही प्रभु को कहते हैं कि हम ऊपर नहीं चढ पाए पर आपके भाव और प्रभाव भाई म.सा. को पहुंचा दिए। सोच रही थी इतने में दुंदुभियां बजने लगी। अचरज से सोचने लगी दुंदुभी क्यों बजा ? परमात्मा के पास पहुंचते ही उन्होंने धन्यवाद देते हुए कहा तुम्हारा संदेश पहुंचाना सार्थक हो गया। अभी जो दुंदुंभीनाद सुन रही हो वह तुम्हारे बंधुमुनि के भगवत् प्राप्ति का नाद है। जिनके पर्वतपर बिराजनेसे प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो पाए वे बाहुबलि अब केवलि हो गए। तुम्हारे और जगत् के तीनों काल के सभी पर्यायों को वे जानते और देखते हैं। तुम्हारे सारे मानसिक विचार और आत्मभाव उनके ज्ञान में प्रगट हो गए है। हमारा तुम्हारा बाहुबलि का सांसारिक ऋणानुबंध आज संपन्न हुआ।

जिस संदेश के बारे में हम बहुत गहराई में चले गए उस संदेश में शक्ति किसमें अधिक थी। परमात्मा की जिन्होंने संदेश भेजा था? बाहुबलि की जिनके प्रति संदेश भेजा गया था? या उन भगिनी युगल की जिन्हें संदेश वहन का आदेश मिला था। परमात्मा का निमित्त बलवान था, बाहुबलि का उपदान विशुद्ध था और ब्राह्मी सुंदरी का उपयोग उत्तम था। यह संदेश नि:शब्द संदेश था। जहाँ शब्द नहीं पहुंचते हैं वहाँ नि:शब्दता पहुंच जाती है। बोध के दो प्रकारों में वाचिकबोध और मौनबोध ऐसे दो बोध प्रसिद्ध हैं जैसे कि भगवान महावीर ने चंदना को वाचिक और संगम को मौनबोध दिया था। बाहुबलि ने उपदेश सुनकर वैराग्य पाया। आदेश सुनकर दीक्षा ली और संदेश पाकर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। आत्मसिद्धि में इसकी और स्पष्टता होती है। अनंत कर्मों के प्रकारों में आठ कर्म मुख्य हैं और आठ कर्मों में मोहनीय कर्म मुख्य है। मोहनीय कर्म के दो भेद है - दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। वीतरागता से चारित्रमोहनीय का और बोध से दर्शनमोहनीय का क्षय होता है। दर्शन मोहनीय के कारण अटका हुआ बाहुबलि जी का केवलज्ञान परमात्मा के बोध से प्रगट हो गया।

बोध के कई प्रकार मिलते हैं जैसे आनंदघनजी ने शब्दबोध और वासितबोध बताया। इसके अतिरिक्त भी स्वबोध, संबोध, परबोध, परमबोध, वरबोध, प्रतिबोध आदि अनेक प्रकार मिलते है। आचारांग सूत्र में ये सभी बोध तीन बोध में समा जाते है -

सहसम्मुइयाए, परवागरणेणं, अन्नेसिं वा अंतिएसोच्चा ।

सहसम्मुयाइयाए अर्थात् स्वमति याने अपनी बुद्धि के माध्यम से गहरा चिंतन करते हुए जातिस्मरणज्ञान से पूर्वजन्म का बोध हो जाना। जैसे राजा जितशत्रु ने अपने पुत्र के साथ तापसी दीक्षा ली थी। एक दिन उनके गुरु ने उन्हें आदेश दिया कि, "कल अमावस्या हैं अत: अनाकुट्टि है। कल के लिए आज ही जंगल से फल, फूल एवं कंदमूल ले आना।" अनाकुट्टि अर्थात् कंदमूल ग्रहण नहीं करना। यह सुनकर तापस पुत्र के मन में विचार आया

कि फल, फूल एवं कंदमूल के उपभोग में दोष है तभी तो अमावस्या के दिन उपभोग नहीं किया जाता तो उसकी अगले दिन व्यवस्था करना भी तो दोष हो सकता है। अनायास दूसरे दिन कुछ श्रमण विहार करते हुए तपोवन मार्ग से निकल रहे थे। उन्हें देखकर तापसपुत्र ने कहा, "क्या आज अमावस्या के दिन भी आपकी अनाकुट्टि नहीं है, जो आप वन में जा रहे हो?" उत्तर में श्रमणों ने कहा, "हमारे लिए सदा ही अनाकुट्टि है।" इन वचनों को सुनकर तापसपुत्र सोचने लगे सदा अनाकुट्टि रहना श्रेष्ठ है। सोचते सोचते उसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ। पूर्व जन्म में मैं देवगति में था। उससे पूर्वभव मैं श्रमण था। सदा अनाकुट्टि रहा था। अब भी मुझे अनाकुट्टि रहना है और आत्मशोधन करना है। अत: मैं तापसवृत्ति छोडकर श्रमणवृत्ति अपनाता हूँ। यह स्वमति परबोध कहलाता है।

दूसरा बोध है, तीर्थंकर के उपदेश से होनेवाला आत्मबोध। जैसे मेघमुनि को परमात्मा महावीर की देशना से बोध हुआ था। देशना सुनकर वैराग्य आया और देशना सुनकर बोध पाया। संयम में विचलित होनेपर महावीर के कथन से जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। पूर्व जन्म में किए गए दया धर्म के प्रभाव से इस जन्म में संयम का स्वभाव प्रगट हुआ। यह है उपदेश से होनेवाला आत्मबोध।

तीसरा बोध है, अन्यों के समीप रहकर उपदेश सुनकर होनेवाला बोध। अवधिज्ञानी, मन:पर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी के उपदेश से प्राप्त होनेवाला परमबोध जैसे मल्लिराजकुमारी ने अवधिज्ञान के बल से अपने विवाह के लिए आए हुए छह राजकुमारों को उपदेश दिया था। उपदेश के द्वारा पूर्वजन्मों की घटना का स्मरण कराते हुए कहा था कि, पूर्व जन्म में हम सब ने एक साथ दीक्षा ली थी और एक साथ साधना की थी। इन वचनों के बलपर छहों राजकुमारों को आत्मपरिबोध स्वरुप जातिस्मरणज्ञान हुआ था।

इन तीनों बोधों के स्वरुप से यह स्पष्ट है कि शुभ परिणामों के प्रगट होने के लिए उपदेश का आदेशमय और आदेश का संदेशमय होना चाहिए। कमठ की लकडियों में से निकले साँप के जोडे को धरणेंद्र पद्मावती का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसमें पार्श्वकुमार मंत्र के द्वारा बोध प्रगट करते है। बोधि के सिवा - **एगो धम्मो न लभइ** अर्थात् धर्मलाभ नहीं हो सकता हैं। धर्मलाभ, बोधिलाभ, समाधिलाभ और सिद्धिलाभ ये चारोंलाभ परमात्मा के बोध से प्राप्त होते है। परमात्मा का बोध जब देशना के रुप में प्रगट होता है तब ऐसा लगता है यह बोध सिर्फ मेरे लिए ही दिया गया है। स्वयं के अप्रगट दोष अपने बोध में प्रगट हो जाते है। अन्य किसी को इसका कोई अनुभव नहीं होता है। ऐसा प्रभु बोध का परमप्रभाव होते हुए भी परमात्मा किसी को जबरदस्ती बोध नहीं देते हैं। चाहे वे अपने पुत्र-पुत्री भाई आदि क्यों न हो। सुननेवाले की भवितव्यता मुख्य होती है।

नमोत्थुणं सूत्र द्वारा हम परमात्मा से संपर्क करते है। एक तरह से ऐसा समझो कि नमोत्थुणं परमात्मा का संपर्क सूत्र हैं। प्रश्न होता हैं कि हम तो नमोत्थुणं के द्वारा परमात्मा का संपर्क करते हैं पर वे हमारा संपर्क कैसे करते हैं? गणधर भगवंत इसका उत्तर देते हैं। ये चार सूत्र - जिणाणं जावयाणं, तिण्णाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं, मुत्ताणं मोयगाणं ये चार सूत्र आपसी संपर्क सूत्र हैं। जिताते उनको हैं जो खेलना चाहता है, जो लडना चाहते हैं स्वयं से। हार हो या जीत हमें परमात्मा चाहिए। तारते उनको हैं एक उनको जो पार तो कर गए पर तटपर आकर बैठ गए। दूसरे वे जिनका तिरना बाकी है। तिसरा उनको जो पानी से ही डरते है। उन्हें परमात्मा तीर्थ के जहाज से पार उतारते

हैं। भगवान को केवलज्ञान होते ही समवसरण लगता हैं। समवसरण में पधारते ही गणधर नामकर्म वालों को त्रीपदी दान करते हैं। सुंदर, शुभ, शुद्ध वातावरण देखकर हम वहाँ पहुंच जाते हैं तब प्रभु हमें कभी नहीं कहते हैं कि यह गणधरों की सभा हैं। शिघ्र ही चतुर्विध संघ का आयोजन कर हमारे बुद्धत्त्व को प्रगट करने की योजना बनाते हैं।

इस अनंत सृष्टि में पूर्व में जो तीर्थंकर हो गए, वर्तमान में जो हैं और भविष्य में जो होंगे सब यही कथन करते हैं। आचारांग में कहा - **जे अईया, जे पडुवन्ना, जे आगमेस्सा अरहंतो भगवंतो ते सव्वे...** जिससे हमारा बुद्धत्त्व प्रगट हो। हम भक्त से भगवान बन जाए। भक्त हमारी वर्तमान पर्याय है। परमतत्त्व हमारा भविष्य कथन करते हुए हमारी सिद्ध पर्याय की उद्घोषणां करते हैं। इस उद्घोषणा को, इस कथन को, इस आख्यान को इस प्रज्ञापना को, प्ररुपणा को बोध कहते हैं। नेता बोलते उसे भाषण कहते हैं। साधु-साध्वी बोलते उसे व्याख्यान कहते हैं। शिक्षक कहते उसे लेक्चर कहते।

भगवती सूत्र में आता हैं बोधि का बोध प्राप्त करनेवाला बुद्ध होता है। चौथे गुणस्थान में सम्यकबोधि होती है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से केवलबोधि होती है। दृष्टाभाव से ज्ञाताभाव में आकर निरंतर रहनेवाला सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परिनिर्वाण को प्राप्त होता है।

हमें बुद्धाणं बोहयाणं को नमस्कार करते हुए भावना करनी हैं कि हमें ऐसा बोधज्ञान हो परमात्मा बोधि हममें प्रगट हो। परमात्मा उपदेश, आदेश और संदेश तीनों परिणामत्रय बनकर हमारे मोक्ष का कारण बन जाए। मुत्ताणं मोयगाणं की उपासना के लिए परमउपास्य प्रगट होने की बिनती करते हैं। बोध, बोधि, संबोधि हमें समाधि दे और हममें सिद्धि प्रगट करे।

॥। नमोत्थुणं बुद्धाणं बोहयाणं ।॥
॥। नमोत्थुणं बुद्धाणं बोहयाणं ।॥
॥। नमोत्थुणं बुद्धाणं बोहयाणं ।॥

नमोत्थुणं
मुत्ताणं मोयगाणं

जन्म मरण और देह से मुक्त होकर जिन्होंने मुक्ति प्राप्त कर ली वे मुत्ताणं मोयगाणं हैं।
जन्म मरण और देह से मुक्त कर जो हममें मुक्ति प्राप्त कराने का सामर्थ्य प्रगट करते हैं वे मोयगाणं हैं।
मुत्ताणं मोयगाणं में हमारा अस्तित्त्व मुक्तत्त्व का अनुभव करता है।
मुत्ताणं मोयगाणं में हमारा जीवत्त्व तत्त्वमय हो जाता है।

आज की भाषा में मुत्ताणं मोयगाणं को समझना हो तो यहीं कहना होगा कि जो पर्सनल है, परफेक्ट है और परमनेंट हैं वे मुत्ताणं मोयगाणं हैं। बोध, बोधि और समाधि से समस्त पाप कर्म और दु:खों का अंत हो जाता है। **कृत्स्न कर्म क्षयोमोक्ष:** किये हुए कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है। मोक्ष किसी नई धारणा का उत्पन्न होना नहीं है। अप्रगट का प्रगट हो जाना मोक्ष है। बीज में वृक्ष है, मिट्टी में घडा है परंतु अप्रगट हैं उसे प्रगट करना होता है। भाव के दो प्रकार है - तिरोभाव और आविर्भाव। जैसे ६४पहरी पिपर राई के दाने जितनी लो तो भी सर्दी मिट जाती हैं क्योंकि उसे ६४ पहर तक घोटी गयी है। उसका ऐसा नियम होता है कि वह घोटते समय निरंतर घोटी जानी चाहिए। बीच में बंद नहीं कर सकते । एक आदमी एक प्रहर तक घोट सकता है ऐसे ६४ घोटकों की व्यवस्था होती है। वस्तु पदार्थ वही होते हुए भी उसकी शक्ति और गुणधर्म में परिवर्तन और परावर्धन हो जाता है। जो जिसमें तीरोभुत होता है उसका उसी मेंसे आविर्भाव होता है। आवरण हटाकर, परदा हटाकर इसे स्पष्ट किया जाता है।

परमात्मा सदेह विचरते थे तब भी वे भीतर से मुक्त आत्मा थे। देह रहित मुक्त अवस्था प्राप्त कर लेनेपर वे पूर्णत: मुक्त आत्मा हो जाते है। स्वयं मुक्त होकर अन्य जीवों को भी मुक्त करने में वे समर्थ होते हैं। प्रश्न इस बात का है कि क्या हम वास्तव में मुक्त होना चाहते है? हम केवल रोगों से मुक्त होना चाहते हैं परंतु अरोगी या निरोगी नहीं हो सकते हैं। केवल दरिद्र या अकिंचन रहना नहीं चाहते परंतु अपार लक्ष्मी, वैभव और समृद्धि की भरमार चाहते हैं। हमारी चाहना पदार्थ और परमाणुओं की असीम है। ऐसी स्थिति में मुक्त होने की प्रभु से याचना या प्रार्थना करना व्यर्थ है। यहाँ मोयगाणं से प्रभु के मुक्त करने के सामर्थ्य की बात है। उपदान जबतक विशुद्ध न हो तब तक मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती।

आज हम उपरोक्त विचारों से हटकर सोचते हैं। हम उनकी चर्चा करते हैं जो वास्तविक मोक्ष को चाहते हैं। मोक्षाभिलाषी हैं। मोक्ष का अधिकारी हैं। मोक्षमार्गपर चल रहा है, पर अभी मोक्ष हो नहीं सकता इस विवशता के कारण स्वयं की निर्मल दशा प्रगट करने में निर्बल हो रहे हो। यह बात तो सही है इस जन्म में यहाँ से मोक्ष नहीं हो सकता हैं परंतु इस काल में मोक्ष नहीं हो सकता ऐसी बात नही है। इसकाल में भरतक्षेत्र वासियों का पराक्रम, पुरुषार्थ और सामर्थ्य कम या कमजोर है। निर्मलता प्रगट करने के लिए यथा योग्य पुरुषार्थ न हो पाने से यहाँ से

मोक्ष नहीं हो पाता है। आपको यदि देवलाली से राजकोट जाना हैं पर यहाँ से कोई सीधी ट्रेइन राजकोट के लिए नहीं है। इसके लिए आपको मुबंई होकर जाना पडता है। काठियावाडी में एक कहावत हैं, **वाया वीरमगाम।** जहाँ हम डायरेक्ट नहीं जा सकते वहाँ वाया जाना पडता है। इसके लिए बायपास शब्द का भी उपयोग होता है। यह सब मैं आपका उत्कर्ष बढाने के लिए कहती हूँ। जहाँ डायरेक्ट नहीं हैं वहाँ वाया का उपयोग करते हैं उसीतरह मोक्ष जाने के इस काल में भरतक्षेत्र में डायरेक्ट व्यवस्था नहीं है परंतु वाया व्यवस्था हैं या नही हैं सोचा कभी इस बारे में?

वाया व्यवस्था बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वह हैं वाया महाविदेह क्षेत्र। महाविदेह क्षेत्र से आज भी अभी भी मोक्ष प्राप्य हैं। निर्मलदशा प्रगट कर पूर्ण पुरुषार्थ के साथ प्रबल पराक्रम द्वारा मोक्ष सुलभ है। समय और क्षेत्र की दुहाइ देकर पुरुषार्थ कमजोर कर हाथपर हाथ धरकर बैठे रहना अनुचित है। कलियुग के कुछ लोग इसकाल में या यहाँ से मोक्ष नहीं हैं। इस कथन का गलत प्रयोग करते है। यहाँ से मोक्ष नहीं जा सकते इसलिए पुण्य प्रवृत्ति करे और देवगति को प्राप्त करे। कालचक्र का छठा आरा इसीतरह पूरा करना होगा। ऐसा सोचना समय और क्षेत्र की मजबूरी नहीं कमजोरी है। यहाँ से राजकोट की डायरेक्ट ट्रेइन नहीं हैं पर दिल्ली की तो है। इसलिए दिल्ली चले जाय ऐसा हो सकता हैं क्या? दिल्ली जाओगे या वाया मुंबई -राजकोट ही जाओगे?

महाविदेह क्षेत्र का कन्सेप्ट हमारे लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हमें यह सोचना होगा कि हम ऐसा क्या करें जिससे हम महाविदेह क्षेत्र पहुंच सके। मुत्ताणं मोयगाणं से नमस्कार कर भावना करते हैं कि हे सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु ! मेरा मोक्ष स्पष्ट करो। डायरेक्ट नहीं तो वाया सही मुझे मार्ग अवश्य चाहिए। मेरी आगामी यात्रा के मालिक आप हो। मेरे मोक्षरथ के सारथि आप हो। मेरा पूर्ण समर्पण आपके चरणों में हैं। आप अपने मुत्ताणं हो, तो मेरे मोयगाणं भी हो । अपनी इस मोयगाणं पद की मर्यादा में मुझे सामिल करलो। मेरा मार्गदर्शन करों।

स्वयं परमात्मा मुक्त स्थिति का अनुभव करते हुए भी केवलमात्र पूर्व कर्म के अनुसार वर्तते हैं। इसीलिए उनसें यह पूछनेपर आपका जीवन के प्रति क्या अभिप्राय है? परमात्मा ने कहा, **पुव्वकम्मखयट्ठाए इमं देहं समुद्धरे।** पूर्व कर्म के क्षय करने के लिए इस देह को धारण किया है। पूर्व के ऐसे कौनसे कर्म हैं जिस कारण यह देह धारण करना पडा? तीर्थंकर नामकर्म निकाचन होने के बाद परमआत्मा को तीन जन्म धारण करने पडते हैं। जब तक उस नामकर्म का संपूर्ण उपभोग न हो तब तक मुक्त अवस्था नहीं हो सकती। पूर्वोक्त शब्द का प्रयोग कब हो सकता है? सामान्यत: हम दु:ख के समय में ऐसे शब्द का प्रयोग करते हैं कि किए हुए कर्मों को भोगे बिना छूट्टी नहीं है। भरा पूरा अनुकूल आज्ञाकारी परिवार, प्रतिष्ठा और समृद्धि हो तो मुक्ति के विचार कहाँ आते हैं। कब छुटू संसार से ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता। प्रभु ने ऐसा क्यों कहा? उनकी अपार समृद्धि को तो आप जानते हैं। सुवर्ण रजत का रत्नमय समवसरण हो विहार करते समय मृदु सुवर्णकमलपर चरण रखे जाते हो। ६४ इंद्र जिनकी सेवा में हो। गणधर अपने विशाल साधु-साध्वी परिवार के साथ जिनकी सेवा में सदा उपस्थित हो। उन परमात्मा का जीवन का अभिप्राय पूवकर्म के कारण कैसे हो सकता है। जन्म से तीन भव पूर्व सभी जीवों की शासन रसिक बनाने की प्रबल भावना से इस नामकर्म का बंध होता है। विपाकोदय के समय तीर्थ की स्थापना, संघ व्यवस्था आदि इसी

नामकर्म का परिणाम है। इसतरह तीर्थंकरों का तीर्थंकर नामकर्म अन्य के उत्थान की भावना से बंधता हैं। उदय के समय पर के द्वारा भोगा जाता है। ऐसे विचार करते समय प्रश्न होता है कि नामकर्म की यह साधना आत्मसाधना हैं या लोकसाधना? गणधर भगवंत इसका समाधान करते है। लोकाश्रित होने से यह लोकसाधना लगता है पर हैं यह आत्मसाधना। क्योंकि विशुद्ध सम्यक दर्शन, निर्मल आत्मदशा की अनुभूति, मोक्षमार्ग की आनंदयात्रा का अनुभव जैसा मुझे हो रहा है वैसा अन्य जीवों को भी हो ऐसी तीव्र अनुभूति की फलश्रुति यह नामकर्म हैं। जैसा आत्मा का आनंद मुझे है वैसा सभी जीवों को हो ऐसी मंगल अभ्यर्थना आत्मसाधना की पर्याय है।

पुण्यमय हो या पापमय परंतु अन्य अवस्था का संपूर्ण नाश होने से आत्मा की पूर्ण पवित्रदशा का सर्वथा प्रगट हो जाना भावमोक्ष हैं। तीर्थंकर नामकर्म शुभ, पुण्यमय कर्म हैं। परमसिद्ध दशा में वह भी बाधक मानी जाती है। वैसे शुभभाव जीव की अरुपी अवस्था में होता है। वह अरुपी भाव भावपुण्य हैं। उन भावों के निमित्त से परमाणुओं का समूह स्वयं अपने उपादान के कारण आत्मा को अवगाह के रहता हैं उसे द्रव्य पुण्य कहते हैं। पुण्य आत्मा का स्वरुप नहीं हैं परंतु पर निमित्त से होनेवाला शुभ परिणाम है। इस परिणाम से आत्मा अलग है।

हमारे गुरुणीश्री उज्ज्वल कुमारीजी मथुरा के चौबे का उदाहरण देते थे। एक पूर्णिमा के रात में वे भांग का नशा कर के नदी पार करने के लिए तटपर गए। रातभर हलेसा मारकर नौका चलाते रहे। सुबह होते होते उन्हें लगा था हम दूसरे तट से बहुत नजदीक हैं, बस पहुंचने में ही है। तटपर उतरकर वापस नौका का लंगर खूंटे से बाँधने के लिए जब रस्सा ढूँढने लगे तब उन्हें पता चला कि पहले बंधा हुआ लंगर खूंटे से बंधा हुआ ही है। इसे बिना खोले ही हम रातभर हलेसा हाँकते रहें। परिणामत: हम इसी तटपर रातभर है। अध्यात्म जीवन में मुक्ति प्राप्ति के प्रयास हमारे करीब इसीतरह के है। हम अध्यात्म का प्रयास तो करते हैं परंतु हमारा चेतना का लंगर संसार के खूंटे से बँधा हुआ होता है। मुत्ताणं मोयगाणं आते हैं हम से पहले लंगर खोलने का कहते हैं। कभी हम खोलते हैं तो कभी हम सिर्फ नाटक करते हैं। जबतक हमारा मन इन बंधनों से मुक्त होने का नहीं करता हैं तब तक मुक्ति के प्रयास व्यर्थ है।

हम ज्ञानी पुरुषों से मुक्त होने की प्रार्थना तो करते हैं परंतु उनके कथन को मानते नहीं है। बंधन बाँधते हम हैं और उन्हें खोलने की बिनंती हम परमात्मा को करते हैं। बाँधा हमने तो भला भगवान इसे क्यों खोलेंगे? मुक्ति के प्रयास पूर्व हमें इन बंधनों को खोलने का प्रयास और प्रयोग दोनों करने होंगे। एकबार एक कुम्हार कुछ गधों को लेकर जंगल से गुजर रहा था। शाम होते होते अंधेरा देखते देखते घबराने लगा। जंगल में अकेला क्या करुंगा। न चिराग न रोशनि। गधे भी इधर उधर बिखर जाऐंगे। इतने में दूर दूर एक कुटिया दिखाई दी। कुम्हार पहुंचा उस कुटिया की ओर भीतर झाँका एक संत बिराजमान थे। कुटिया में भीतर गया। संत से कहा, रोशनि के लिए चिराग दीजिए। संत ने कहा, भीतर झाँक चिराग तेरे भीतर ही हैं। बाहर के चिराग और बाहर की रोशनि से क्या करना हैं। ऐसे चिराग तो कई बार जला चुका तू। अब भीतर आजा। भीतर का चिराग जला दे। बिच्चारा कुम्हार माथा ठोककर संत से कहता हैं, गधों को लेकर घूमता हूँ शिष्यों को लेकर नहीं। उनकी सुरक्षा के लिए मुझे बाहर का ही चिराग

चाहिए। भीतर का चिराग आप जलाए बाहर का मुझे दीजिए। संत ने कहा, यहाँ ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। कुम्हार ने सोचा जंगल में इस कुटिया और इस संत के सिवा कुछ नहीं हैं। जो भी पाना हैं इन्हीं से पाना हैं। उसने संत के पाँव पकडे और बिनती करने लगा। मंत्र दो, जंत्र दो, तंत्र दो पर मेरे गधों की रक्षा करो। गधे सहित रातभर के लिए मैं तुम्हें समर्पित हूँ। संत कुम्हार की भाषा समझ चुके। कुछ भी करके इसे समझाना होगा। उन्होंने आँख बंद की, हाथ फैलाया और कुम्हार से कहा जा तेरे गधों के पास। एक एक को पकडकर पेड के साथ बाँध दे। रस्सी तुझे दिखाई नहीं देती हैं तुझे प्रयास पुरा करना हैं। गधे बँध जाएंगे।

कुम्हार गया वैसा ही किया रात गई प्रात: आयी। कुम्हार उठा गधों को थपथपाया चलने का आदेश दिया पर सारे प्रयास व्यर्थ हो गए। गधे आगे बढने को तैयार ही नहीं थे। पुन: गया संत के पास अपना गीत गाया, दु:ख रोया, उपाय मांगा। संत ने कहा, मंत्र से बंधी वह रस्सी खोली या नहीं? कुम्हार झेंप गया। रस्सी थी नहीं बाँधा क्या था? उसने संत से कहा, नहीं खोला। संत ने कहा जा पहले गधों को खोल और चलने का बोल। जिस क्रिया से तुने गधों को बाँधा हैं उसी की प्रतिक्रिया से उन्हें खोल दे। क्रिया और प्रतिक्रिया यहीं संसार हैं। यहीं बंधन हैं इन बंधनों का खोलना मुक्ति है। साक्षीभाव में रहकर बंधनों को देखना है, खोलना हैं और बंधनों से मुक्त होना है। आश्रव को रोकना हैं, संवर को सवारना है और निर्जरा से कर्मों को झाडना है, आत्मा से अलग करना है इसी का नाम मुक्ति है।

कल दोपहर को कुछ ऐसे बच्चे आए जिनको नमोत्थुणं तो आता था पर उसका अर्थ नहीं समझता था। कहते थे हमें ये सूत्र अच्छा लगता है परंतु इसका अर्थ नहीं समझता है। दादी कहती हैं यह सब परमात्मा के विशेषण हैं। हमें भी परमात्मा स्वरुप जानने की इच्छा होती है। हमारे जैसी भाषा में हमें नमोत्थुणं का सार समझाए। हम यह जानते हैं और इतना मानते हैं कि परमात्मा हमें जानते हैं और पहचानते भी है परंतु हम परमात्मा को नहीं पहचान पाते। परमात्मा का परिचय और पहचान कराते हुए उनसे कहा, पाँच ऐसे प्रमाण हैं जो सिर्फ परमात्मा के ही होते हैं। एक युनिवर्सल ट्रुथ और युनिवर्सल एक्सेप्टेड। सभी धर्मवाले परमात्मा का स्वीकार करते है। दूसरा सुप्रिम अथोरिटी अर्थात् जो सर्वोच्च हो। जिसके उपर कोई नहीं हैं। गुरु, शिक्षक, रक्षक। किसी की उन्हें आवश्यकता नहीं है। तीसरा युनिक प्रसनॅलिटी। परमात्मा सर्वोपरी हैं। जन्म और मृत्यु का चक्र संसारचक्र, कालचक्र, कर्मचक्र परमात्मा इन सभी चक्रों से पर है। चौथा ऑल नॉलेज फुल। परमात्मा सर्वज्ञ हैं। सब कुछ जानते देखते है। सृष्टि के आदि, मध्य और अंत के ज्ञाता है अर्थात् परमात्मा त्रिकालदर्शी हैं। पाँचवा इनफिनिट अर्थात् परमात्मा सर्वगुण संपन्न हैं। परमात्मा ऐसी कोई डिग्री नहीं हैं जिसे कोई स्कुल, कॉलेज या युनिर्वसिटी से प्राप्त कर सके।

परमात्मा का सामर्थ्य अचिंत्य होता है। इसकी महिमा के लिए कहा है, **अचिंतसत्ति जुत्ताइं**। साधक की निर्मलता प्रगट होते ही परमात्मा उनके कल्याण के प्रोग्राम बना लेते हैं। दु:खी और भूखी चंदनबाला परमात्मा को सहसा आँगन में देखकर एकदम हर्षायी और मन ही मन बोली, मैं कितनी पुण्यवान हूँ कि प्रभु मेरे घर पधारे। परमात्मा अपनी परावाणी में कहते हैं, किसने कहा मैं तुम्हारे घर आया हूँ, थोडा सा सोचो चंदन। क्या यह तुम्हारा घर हैं? जिसे तुम घर कहते हो वह घर तो मूला सेठानी का है। तुम्हारे शाश्वत घर में एकबार मुझे बुलाकर तो देखो।

आमंत्रण तो दो। तुम्हारे शाश्वत घर में एकबार आ गया तो देख लो। तुम्हारे शाश्वत घर का वास्तु बदल जाएगा। तुम तो इस घर की दासी हो।चंदन तक ये भाव पहुंचे। उसने कहा प्रभु ! मुझे दासीपने से मुक्त करो। राजकुमारी से दासी होने के दुर्भाग्य को सौभाग्य में बदल दो। भगवान ने कहा, जगत् के सर्व अपने अपने कर्मों के अनुसार फल भुगतते हैं। इस थियरी में कुछ भी नहीं बदला जा सकता है। आत्मा की प्रबलता प्रगट होनेपर साधना का संचार होता है। समर्पण के दावपर सिद्धि का शिखर साधना का सर्वोच्च ध्येय बन जाता है। भाग्य, सौभाग्य की भावना जानते हुए भगवान ने कहा, वत्सा ! जब तुम कुछ बनाने की ऑफर ही करती हो तो तुम्हें भाग्यवान क्यों भगवान ही बनाउ। भगवान बनाने के लिए सामर्थ्यवान हूँ।

अभिग्रह विशेष के कारण भगवान जब वापस लौटने लगे तब चंदन भीतर की भाषा से भगवान को रोकते हुए कहती है, हे म्हारा आँगणिए आयोडा मति जाओ महावीर... भीतर की भाषा को भीतर से सुनते हुए भगवान कहते है मैं द्रव्य से तुम्हारे आँगन में हूँ पर वास्तव में मैं तुम्हारे अंत:करण में आया हूँ।

चंदना ने स्वयं को पहचान लिया। प्रभु ! मैं संसार से थक चुकी हूँ। हार चुकी हूँ, मुझे जितालो, तारलो, मुझे बोध दो, मुझे मोक्ष दो। चंदन मुस्कुराई उसके भीतर के एक एक तार झंकृत हो गए। चंदना की चेतना भगवंत्मय हो गयी। नाभि से नमो का नाद प्रगट हो गया। नमोत्थुणं से झंकृत स्वरों के साथ नमोत्थुणं मुत्ताणं मोयगाणं का मुक्तगान प्रगट हो गया। साधक की इस उच्चदशा को जानते और देखते हुए सर्वज्ञ सर्वदर्शी मुक्ति की मंत्रणा कैसे करते हैं यह हम कल देखेंगे।

/// नमोत्थुणं मुत्ताणं मोयगाणं ///
/// नमोत्थुणं मुत्ताणं मोयगाणं ///
/// नमोत्थुणं मुत्ताणं मोयगाणं ///

नमोत्थुणं
सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं

द्रव्य के आधार से पयार्य को जानना ज्ञान हैं।
ज्ञान के आधार से पर्याय को जानना दर्शन है।
सर्व द्रव्य की सर्व प्रर्यायों को जानते हैं अतः प्रभु सव्वन्नूणं हैं।
सर्व द्रव्य की सर्व प्रर्यायों को देखते हैं अतः प्रभु सव्वदरिसीणं हैं।

वस्तु के विशेष धर्म को जानने से ज्ञान साकार उपयोग है। वस्तु के सामान्य धर्म को जानने से दर्शन निराकार उपयोग है। जो स्व को जानता हैं वह सर्व को जानता है। जो स्व को देखता हैं वो सर्व को देखता हैं। जीव का प्रथम प्रयास सर्व को जानने और देखने का नहीं परंतु स्व को जानने और देखने का है। जो अप्रच्युत अर्थात अंतरहित हैं। सुयगडांग सूत्र में सर्वज्ञ के लिए अभिभूय नाणी और सर्वदर्शी के लिए सव्वदंसी शब्द का प्रयोग हुआ है। सर्वदर्शी के लिए अनंतचक्खू शब्द का प्रयोग हुआ है। अविरोध में विरोध रखनेवाला एक चक्षु होता हैं और विरोध में अविरोध देखनेवाला अनंतचक्षु होता है। भगवान महावीर ने अनंतचक्षु होकर सत्य को जाना, देखा और उसे रूपायित किया। अनंतचक्खू की तरह अणंतनाणी और अणंतदंसी भी कहा है।

नमोत्थुणं के इस पद की उपासना करते हुए गणधर भगवंत सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा के द्वारा अन्य जीवों में पूर्णज्ञान पूर्णदर्शन प्रगट करने का सामर्थ्य रखते हैं। हममें सर्वज्ञत्त्व प्रगट करने का सामर्थ्य स्वीकारने से पहले परमात्मा के सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने का विश्वास, श्रद्धा, आस्था आवश्यक है। विश्व में अनंत पदार्थ हैं। प्रत्येक पदार्थ की अनंत पर्याएं हैं। सर्व पदार्थ और सर्व पर्यायों से हम अनभिज्ञ हैं, अनजान हैं। सर्वज्ञ प्रभुको कर्मबंधनों के आवरणों से मुक्त होने कारण निरावरण अवस्था में निर्मल विशुद्ध ज्ञानदर्शन सहज प्राप्त हो जाते हैं। सर्वज्ञ प्रभु सब जानते हैं और देखते हैं इसलिए उनको हर रहस्य का बोध होता हैं। नंदीसूत्र में कहा हैं **दव्वओ अणंत केवलणाणी सव्वं दव्वाइ जाणइ पासइ।** अर्थात् षड्द्रव्यों को पूर्णतः जानते और देखते हैं। इसीतरह वे सर्व क्षेत्रों को याने **खित्तओ, कालओ, भावओ** सर्वक्षेत्र, सर्वकाल और सर्वभावों को जानते और देखते हैं।

इस कथन को भगवती सूत्र में कथित स्कंदक परिव्राजक की घटना स्पष्ट कर देती है। भगवान महावीर के तीर्थंकर काल के ग्यारहवे वर्ष में जब प्रभु कयंजला में बिराजमान थे तब श्रावस्ती का स्कंदक परिव्राजक भगवान के पास आया था। उन्हें देखकर भगवान ने कहा स्कंदक! तुम्हारे मन में जिज्ञासा हैं कि लोक सांत हैं या अनंत ? भगवान की ज्ञानाभिव्यक्ति जानकर स्कंदक ने कहा हा भगवन् ! मेरे मन में ऐसा हैं और मुझे उसका समाधान भी चाहिए। स्कंदक के मन का समाधान करते हुए भगवान ने कहा, लोक सांत भी हैं अनंत भी हैं। लोक एक हैं इसीलिए संख्या की दृष्टी से वह सांत हैं। लोक असंख्य आकाश में फैला हुआ है इसलिए क्षेत्र की दृष्टि से वह सांत

है। लोक था, हैं और रहेगा, इसीलिए काल की दृष्टि से लोक अनंत हैं। लोक अनंत वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के पर्यायों से युक्त हैं अत: पर्याय की दृष्टि से लोक अनंत हैं।

सर्वज्ञ के कथन में विश्वास न करते हुए यह कहना कि हम नहीं जानते या देखते इसलिए कैसे माने? ऐसा सोचना गलत है। विश्व में ऐसी कई बाते हैं जो हम नहीं जानते देखते तो भी मान लेते है। आपका बेटा या आपका मित्र कोई अमेरीका या कहीं गया हो और वहाँ की कोई बात कहें हमने नहीं देखी हो तो हम उसे सच मानेंगे कि नहीं ? जब तक हमें केवलज्ञान नहीं होता है तब तक हमें केवली भगवानपर विश्वास करना चाहिए। अभी वर्तमान में तो हमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान दो ही ज्ञान हैं और वो भी पूरे विशुद्ध नहीं है। बाकी तीन ज्ञान अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान तो हैं नही पर हमारी बाते तो ऐसी होती हैं कि हम केवलज्ञान से भी अधिक ज्ञान रखते हैं। सामान्यत: जीव में दो शक्ति हैं, दर्शन और ज्ञान। दर्शन विकल्प रहित होने से सामान्य को ग्रहण करता है। ज्ञान विकल्प सहित होने से विशेष को ग्रहण करता है। ज्ञान और दर्शन दोनों का जब प्रयोग होता है तब उपयोग कहलाता है। ज्ञान और दर्शन दोनों जब स्वरुप में होते हैं तब गुण कहलाते है। इसके स्वसंपत् और परसंपत् ऐसे दो प्रकार बताए है। स्वयं में ज्ञानदर्शन होना, स्वयं को जानना और स्वयं को देखना स्वसंपत् हैं। सर्व को जानना और देखना परसंपत् है। जो सर्व को जानता और देखता है उसे सर्व जाने भी नहीं देखे भी नहीं यह कैसा आश्चर्य हैं? अंधकार में कोई टॉर्च या बॅटरी लेकर चलता हो वह जहाँ पर प्रकाश फेंकता है वहाँ का सब कुछ दिखता है। प्रकाश में रहे हुए सभी लोग आसपास का सबकुछ जानते हैं देखते हैं और अनुभव करते है। परंतु प्रकाश फेंकनेवाला किसी को दिखाई नहीं देता है।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी की हमपर दृष्टि पडती है तब हमारा ६६ लाख योनियों का परिभ्रमण कम हो जाता है। सर्वज्ञ को हम देख नहीं सकते हैं परंतु ध्यान में जान सकते है। श्रेणीक महाराजा ने भगवान महावीर का ऐसा ध्यान धाया कि उस ध्यान के प्रभाव से वे अगली चौबीसी में महावीर जैसे ही तीर्थंकर होंगे। ज्ञानबिमलजी ने एक स्तवन में कहा है -

वर्धमान जिनवरना ध्याने, वर्धमान सम थावे रे...

कषाय जीव का विभाव है। ज्ञान जीव का स्वभाव है। विभाव का सर्वथा नाश होता है तब केवलज्ञान होता है। ज्ञानी के दो प्रकार है सर्वज्ञ और शब्दज्ञ। विश्व के सर्व द्रव्य के सर्व पर्यायों को जो जानते हैं वे सर्वज्ञ कहलाते है। शब्दों के अर्थ विशेषार्थ, विशदार्थ आदि बताते हैं उन्हें शब्दज्ञ कहते हैं। जितने भी गणधर हो गए वे सब शब्दज्ञानी तो थे पर सर्वज्ञ नहीं बन सके थे। प्रभु का संयोग हुआ शब्दज्ञान सत्ज्ञान में परिणमित हो गया और शब्दज्ञान सर्वज्ञान की ओर रूपांतरीत हो गया। सर्वज्ञ बनने के लिए स्वज्ञ बनना आवश्यक है। सर्व को जानने से पहले स्वयं को जान लेना चाहिए। सर्वज्ञ बनने के लिए अपने संपूर्ण अस्तित्त्व के प्रदेश प्रभु के समक्ष रख दो। कोई भी आत्मप्रदेश सर्वज्ञमय प्रदेश से अनछूआ न रहे वैसा अध्यवसाय बना लो। सर्फेस टु सर्फेस हो जाओ। आप सोचोगे संसार में रहते हुए ऐसा या इतना कैसे संभव होगा? परंतु यह बिलकुल संभव हो सकता है। यदि आपका

नियम अन्य किसी भी सावद्य प्रवृत्ति को **न करेमि न कारवेमि** करना हैं। **करेमि भंते, इच्छामि णं भंते !** मुझे सावद्य प्रवृत्ति न करनी हो न करानी हो ऐसा मुझे करना है। ऐसा करने की मेरी इच्छा है। ऐसी प्रवृत्ति से आप नियमबद्ध हो जाओ तब ऐसा संभव है। यदि आपके पास कॅमेरा हैं आप उसमें देख रहे है तो रूप के सभी परमाणु उस लेंस तक आते है, परंतु आप जब तक कॅमेरा क्लिक न करो तब तक वे सभी परमाणु कॅमेरा में नहीं आ सकते हैं। बस इसीतरह सर्वज्ञ के कॅमेरे के सामने हो तब तक पर आश्रित कॅमेरा ऑफ रखो। यदि हम वास्तव में अपने भीतर परमात्मा के आनंद लोक का निर्माण कर उसमें अनुभूतिमय हो रहे है तो बाहर का कॅमेरा खुल ही नहीं सकता हैं।

हमारा भीतर का अनुभूतिलोक वास्तव में ऑनलाईन हो तो हमारी पवित्रता परम पवित्रता से रिचार्ज हो जाती हैं। उस परमपवित्र शक्ति को हमें अपने भीतर रिस्टोर करनी है। जो रिस्टोर होता है वह रियलाईज होता है और जो रियलाईज होता है वहीं यदि संसार के सामने रिलिज हो तो वह नाटक नहीं साधना हैं। वास्तव में हमपर बाहर के वातावरण का गहरा असर होता है। जैसे आपको किसी ने कहा आप बहुत अच्छे हैं। आपने यह काम बहुत अच्छा किया.... आदि आदि आदि आप कितने खुश होगे? सच्चाई से बताइए आपके भीतर कितने आंदोलन होगे? जैसे नंदन मनियार के साथ हुआ। मीठे पानी का विशाल सरोवर बनाने पर लोगोंसे तारिफ सुनी प्रभाव में आये इसी प्रभाव के कारण उन्होंने उसी में मेंढक के रुप में जन्म लिया। इसीतरह यदि आपको किसी ने कहा आपने यह ठीक नहीं किया। आपको समझकर करना चाहिए...आदि आदि। ऐसा सुनकर क्या होता है आपको? नाराज होंगे न आप ? कितना बूरा लगेगा आपको ? वास्तव में आप वही हो जो आप है। किसी का आपके बारे में अच्छा बूरा कहना उसकी अपनी सोच है। उसकी सोच से आप बिलकूल अलग है। आप अपने में जैसे भी है अच्छे बूरे उसके बारे में उसका सोचना, मानना, अभिप्राय देना उचित नहीं है। फिर भी उसने आपके बारे में कह भी दिया तो आपपर उसका कोई भी प्रभाव नहीं होना चाहिए। क्योंकि यह सोच पुद्गलमय सोच हैं। आपपर होनेवाला प्रभाव अनुभव मात्र से हुआ प्रभाव है। इसीलिए देवचंद्रजी महाराज ने कहा है **पुद्गल अनुभव त्याग...** पुद्गल का त्याग नहीं पुद्गल के अनुभव का त्याग करने का कहा है। पाँचो इंद्रियों का त्याग नहीं करना है। इंद्रियों से होनेवाले अनुभवरस का त्याग करना है।

हमारे भावी तीर्थंकर सर्वज्ञ के जीवन की अद्भुत दशा इस सिद्धांत को स्पष्ट करती है। भगवान महावीर के समय का एक छत्र सम्राट सबकुछ दाव पे लगाके प्रभु भक्ति कर तीर्थंकर नामकर्म के सुपात्र बन गए। फिर भी कर्मों ने फटकारा पुत्र ने ही कैद में डाला। रोज पच्चास फटके पीठ में लगाता था। फिर भी उस समय में श्रेणीक की भीतरी आनंद दशा में कुछ कमी नहीं आयी। परिस्थिति को अपने स्व के समक्ष साक्षी भाव में रखकर यहीं कहते थे अहो प्रभु ! आपका मेरे पर कितना उपकार हैं। शासन का मुझपर कैसा अनुग्रह है? इस विपरित स्थिति में भी मेरी भीतरी प्रसन्नता अखंड रहती है। इसतरह पुद्गल का अनुभव तो था पर उस अनुभव में जो पीडा का रस था वह छूट गया। परमात्मा के प्रति रही हुई प्रीती ने अनुभव के रस का त्याग करवा दिया।

अनुभवरस को आगम में वेदन कहा है। भगवती सूत्र के सातवें शतक के तीसरे उद्देशक में कहा हैं कि कर्म का वेदन करते हैं तो निर्जरा नहीं होती पर आत्मा का वेदन करते हैं तो निर्जरा होती है। एक समय में एक जगह एक उपयोग लगता है। आत्मा का उपयोग आत्मा में जाता है तो आत्मानुभूति होती है। गुण और गुणी एककार हो जाते हैं तो उपयोग परपदार्थ, परवस्तु या परजन में नहीं जाता है। मेतार्य मुनि, गजसुकुमाल आदि उदाहरण इस कथन की साक्षी रहे हैं। अनंतकाल से आत्मा पुद्गल के साथ रहते हुए भी पुद्गलमय नहीं बना ऐसा तो हम समझते हैं, परंतु केवलज्ञान, केवलदर्शन यह हमारी अपनी पर्याय होनेपर भी हम सर्वज्ञ सर्वदर्शी भी तो नहीं हो पाए।

सर्वज्ञ बनने की प्रयोगशाला का पहला नियम हैं, स्वयं को जानो। मान लीजिए कोई रेल्वे स्टेशनपर सफर के लिए पहुंचता हैं। यहाँ से दिल्ली जाने का टिकट उसने लिया हैं। ट्रेन आयी, ट्रेन में चढ गया। खाली सीट पर बैठ गया, ट्रेन चालु हुई। थोडी देर बाद टी.सी. आया टिकट माँगा। उसने जेब में हाथ डाला तो उसे पता चला कि उसकी जेब कट चुकी है। टिकट के साथ आयडेंटी कार्ड भी निकल चुका है। उसने टिसी से बिनती की कि उसने अवश्य टिकट लिया हैं... आगे आप जानते हैं इस बिनती का क्या परिणाम होता है? और वही हुआ टि.सी ने प्रश्न शुरु कर दिए। कौन हो तुम? कहाँ जा रहे हो? क्यों जा रहे हो? क्या करोगे वहाँ जाकर? आदि अनेक प्रश्न पूछेगा। इन सारे प्रश्नों को सुनकर वह प्रवासी ऐसा कोई उत्तर दे कौन हो पता नहीं। कहाँ से आये हो? पता नहीं। कहाँ जा रहे हो? पता नहीं। किस लिए जा रहे हो? पता नहीं। पुलिसवाले या टि.सी इन प्रश्नों के उत्तर सुनकर क्या ॲक्शन लेंगे आप जानते हो न।

ऐसे ही कुछ प्रश्न हमें ज्ञानी पुरुष भी पूछते हैं। उनको ही पूछते हैं जो मुक्ति लोक की आनंद यात्रा का प्रवासी बना हुआ है। वे भी पहला प्रश्न यहीं पूछते हैं तुम कौन हो जिसे यह शरीर मिला हैं। जैसे मेरी उम्र ५२ वर्ष हैं। ५२ वर्ष से मैं इस शरीर में आयी हूँ। आनेवाला पहले मौजूद रहता हैं तो वह शरीर में आता है। मेरा देवलाली आगमन जुलाई में हुआ। उसके पहले मैं कहीं थी तब वहाँ से देवलाली आयी। इसतरह मनुष्य पयार्य में इस शरीर में आने के ५२ वर्ष हुए। उसके पहले मैं कही थी यह बात निश्चित है। जब आयी हूँ तो जाऊँगी यह भी निश्चित है क्योंकि जो आता हैं वो जाता जरुर है। इसका मतलब हैं कि मेरी सत्ता तीनों काल में हैं। भूतकाल में मैं थी, वर्तमान में हूँ और भविष्य में रहुँगी। जाऊँगी तो भी रहूँगी। रहनेवाला कोंन हैं सोचो?

आप चश्मे पहनकर किताब में लिख रहे हो। कभी इधर सुधर्मा पाठ की ओर मेरी तरफ देख रहे है। यह कौन देखता है आँख या चश्मे? आप में से कोई कहेगा आँख, कोई कहेगा चश्मा, पर सचाइ यह हैं कि न आँख देखती हैं न चश्मे इसे तो देखने वाला ही देखता हैं। शरीर में कोई हैं वह देखता हैं। उसके नहीं रहनेपर कोई नहीं देख सकता है। चाहे देह हो, आँखें हो, चश्मे हो लेकिन शरीर में इसे देखनेवाला न हो तो इसे कोई नहीं देख सकता है। अब हमें सोचना हैं इन दोनों में मैं क्या हूँ? शरीर या आत्मा ? क्योंकि जब मृत्यु होती हैं तब एक चीज चली जाती हैं, एक चीज पडी रहती है। अब प्रश्न पूछे स्वयं को जो जाता हैं वह मैं हूँ या पडा रहता हैं वह मैं हूँ। इस प्रश्न के उत्तर का साक्षी बनना ही होगा। इस बात का निर्णय करना ही होगा। इस प्रश्न के उत्तर के लिए आत्मसिद्धि की पहली गाथा का कथन हुआ।

जे स्वरुप समझ्या विना, पाम्यों दुख अनंत ।
समझाव्युं ते पद नमु, श्री सद्गुरु भगवंत ।।

कौनसे स्वरुप को समझे बिना जीव अनंत काल से अनंत दु:ख भुगत रहा है। आज कल की बात नहीं अनंतकाल की बात हैं यह। देह अनंत काल से बदलता रहा हैं। इन सारी पर्यायों में एक मात्र एक चैतन्य स्वरुप ही शाश्वत हैं। जबतक इन सब प्रश्नों का पूर्ण उत्तर न मिल सके तब तक स्व चेतना को परमचेतना में विलीन कर देनेका अंजाम हैं। चेतना का खुल जाना। समर्पण से सामान्य ज्ञान भी प्रगट हो जाता है। तो हमारी चेतना स्वधर्मी है। उसे परमस्वरुप के समक्ष समकक्षी अनुरुपता पाने में सहज स्वाभाविक है। एक व्यावहारिक उदाहरण ही देखिए।

एकलव्य गुरु द्रोणाचार्य से बिनती करते हैं कि, प्रभु! मुझे अपने चरणों में रखो परंतु गुरु द्रोणाचार्य इस बात का इनकार करते हैं तब एकलव्य गुरुद्रोणाचार्य से दूसरी बिनती करते है प्रभु! आप सदा मेरे साथ रहो। रखो और रहो इन दो विकल्पों इच्छामात्र गुरुदेव की ही थी। रखो का विकल्प केवल गुरु आश्रित हैं। गुरु चाहे तो ही शिष्य गुरु के पास रह सकता है परंतु गुरु को अपने साथ रहने के विकल्प शिष्य स्वतंत्र हैं। रहने के किकल्प में गुरु मेरे साथ रहे उतना शिष्य का संकल्प ही काफी था। जिसने एकलव्य को सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी बनाया। इसे बीजभूतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान का दूसरा का प्रकार है। इसमें गुरु शिष्य में ज्ञान का बीज के रूप में वपन करते हैं। जो समय के साथ फल बनकर सफल रहता हैं। एक है वृक्षभूतज्ञान जो केवल निरावरण होते ही प्रगट हो जाता है। वृक्षभूतज्ञान में उसी भव में मोक्ष हो जाता है।

जबतक सर्वज्ञ नहीं बनते तब तक केवलि प्ररूपित ज्ञान का स्वाध्याय करना चाहिए। केवलि भुवनभानु का चरित्र आपने सुना होगा। बाल विधवा के रूप में रही हुई रोहिणी एक लाख से भी अधिक स्वाध्याय का पाठ करती थी। अन्य अनेक दूषणों से दूषित चरित्र होते हुए भी अंत में भवांतर में भुवनभानु के भव में पुन: स्वाध्याय द्वारा ही केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। केवलज्ञान अप्रतिपाति होता है । अवधिज्ञान आदि प्रतिपाति होते है जो आकर चला जाते हैं। एकबार एक शिष्य को ज्ञान नहीं चढता था। गुरु को पूछता हैं मैं क्या करु जिससे मुझे ज्ञान प्राप्त हो। गुरु ने उसे संतों की सेवा करने की आज्ञा दी। शिष्य वैसा ही करता रहा। जब भी निवृत्त होता तब सोचता, पता नहीं मुझे कब ज्ञान प्राप्त होगा। सोचते सोचते एक दिन निर्मलता के कारण अवधिज्ञान प्रगट हो गया। अवधिज्ञान के द्वारा उसे प्रथम देवलोक दिखाई दिया। उसने देखा, सौधर्मेंद्र अपनी मुख्य आठ देवियों के साथ बैठे थे। कारणवश कोई एक राणी रूठ गयी थी। सौधर्मेंद्र उसे मना रहे थे। रूठी हुई देवी ने इंद्र को ठोकर मारी। ठोकर खाकर भी इंद्र ने उसे कहा, तुझे पैर में लगा तो नहीं? यह देखकर मुनि को हसीं आ गई। बस हँसते ही अवधिज्ञान चला गया। इसीलिए ज्ञान को गंभीरता के गुण से सम्हाला जाता हैं। ज्ञान से पूर्व गुरुद्वारा प्रदत्त सारणवारण आदि चार आचार का सेवन अनिवार्य होता है। प्रमाद के कारण धर्म में आयी हुई क्षति को गुरु सुधारकर याद कराते हैं उसे सारण कहते हैं। अनाचार का प्रवर्तन करते समय गुरु निवारते हैं उसे वारणा कहते है। धर्मभ्रष्ट होने से पूर्व अकार्य का दुषित फल

समझाना चोयणा कहलाता है। निष्ठुर हुए शिष्य को धिक्कारते हुए उसका हित समझाना पडिचोयणा हैं। प्रारंभिक ज्ञान में यह गुरु शिष्य की व्याहारिकता होती है।

पूर्णज्ञान की प्राप्ति केवल स्वधर्मि होती है। याद तो करो सर्वज्ञ बनते समय की प्रभु की अद्भुत दशा को। वैशाख शुद्ध दशम का वह पुण्य बेला जब प्रभु गोदोहासन में केवल अंगूठे के उपर ऐसी नदी के तटपर बिराजमान थे जिसकी बालु याने रेत अत्यंत ऋजु थी। नदी का पानी बदलती हुई पर्यायों का एहसास कराता था। यह तो सब प्रभु की बाह्यदशा हैं। प्रभु की भीतर की दशा तो अद्भुत थी।

निस्संगं यन्निराभासं, निराकारं निराश्रयम्।
पुण्यपापविनिर्मुक्तं, मनः सामायिकं स्मृतं ।।

प्रभु नि:संग थे। अकेले थे। प्रभु ने अकेले दीक्षा ली थी और अकेले ही ज्ञान प्राप्त किया था। भगवान ऋषभदेव ने चार हजार पुरुषों के साथ दीक्षा ली थी। मल्लिनाथ और पार्श्वनाथ भगवान ने तीन सौ पुरुषों के साथ दीक्षा ली थी। वासुपूज्य भगवान ने छह सौ पुरुषों के साथ दीक्षा ली थी। अन्य उन्नीस भगवान ने हजार पुरुषों के साथ दीक्षा ली थी। केवल भगवान महावीर ने ही अकेले दीक्षा ली थी।

परमात्मा की दूसरी दशा हैं निराभासता। आत्मभाव में आनेपर किसी प्रकार का आभास नहीं रहता हैं। चाहे वस्तु हो या व्यक्ति जिसमें अपनापन नहीं है तो आभास भी नहीं हैं। जो अपना नहीं है उसे अपना मानने का आभास होता है। जैसे नमीराजर्षी के बारे में कहा हैं कि जब मिथीला जल रही थी और उनको कहा गया आपकी नगरी जल रही है। जानते हो उन्होंने क्या उत्तर दिया ?

मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचणं।

जो जल रहा है वह मेरा नहीं हैं, जो मेरा है वह जलता नहीं है। निजिवृत्ति के कारण प्रवृत्ति का आभास होता है। व्यक्ति या वस्तु के साथ वृत्तिका रिश्ता बडा अजीब सा है। कुछ लोग कहते हैं संसार ऐसा क्यों हैं ? ये आकर्षण रहने नहीं चाहिए। पर ऐसा कैसे हो सकता है? आपको किसी ने आम दिया। आपको आम ही खाना हैं आम खाते खाते आप अंदर गुठलीतक पहुंच गए। क्या करेंगे आप? आम देनेवाले के साथ गुस्सा करेंगे ? गुठली उसको वापस देने का प्रयास करोंगे ? या गुठली फेंककर निवृत्त हो जाओग ? आम के साथ गुठली आती ही हैं ऐसा आपको स्वीकारना ही चाहिए। मैं शादी करनेवाली लडकियों से मैं कहती हूँ कि, पति के साथ साँस-ससुर, ननंद-देवर आदि फ्री हैं। सिर्फ पति को ही नहीं इन सबको अपना मानना। एक तरफ तो हम कहते हैं अपना कुछ भी नहीं हैं। पर मोहक और आकर्षक संसार वीतराग भाव नहीं देता। उसे हमें हमारे भीतर ही निर्मित करना है। इस भाव का निर्माण होना निराभासता को आमंत्रण है।

परमात्मा की तीसरी दशा हैं निराकारता। आकार के भीतर एक निराकार चेतना हैं। निराकार चेतना के कारण ही आकार का संसार हैं। संबंधातीत चेतना की इस व्यवस्था को समझ लेना ही साधना है। आकार निराकार को नहीं चलाता, निराकार आकार को चलाता है। सारे संबंध केवल मात्र आकार से अभिव्यक्त होनेपर होता है।

चौथी दशा निराश्रयता है। परमात्मा की यह दशा अद्भुत है। तीर्थ में, संघ में, समाचारी में शासन में सर्वत्र इस दशा को महत्त्वपूर्ण माना गया है। साधना मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों के समय साथ रहकर प्रभु के उपर

आक्रमण न हो पाए इसके लिए शक्रेन्द्र ने भगवान महावीर को साथ रखने की बिनती की थी परंतु निराश्रयता को प्रमुखता देते हुए भगवान ने इसका आदेश नहीं दिया। साधु समाचारी में भी **जे भवंति अणिस्सिया** शब्द रखकर अनाश्रित रहनेवाला सदा निराबाध जीवन जीता है।

पाँचवी दशा हैं निराश्रव। किसी पानी के भरे हौदको यदि खाली करना हो तो पानी के आने की व्यवस्था को बंद करना होगा। पानी आता रहे और हम निकालने का प्रयास करते रहे तो हमारा श्रम निरर्थक हैं। इसीतरह कर्मों के आगमन को आश्रव कहा जाता है। परमात्मा की निराश्रव दशा निरंतर आश्रव रहित होती हैं। तनिक मात्र भी आश्रव का आना न हो इसके लिए सदा जागृत और प्रमाद रहित निर्दोष चर्या प्रभु के साधना का महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है। इस स्थिति का स्वीकार करने के लिए एक शाश्वत मंत्र जो प्रभु ने स्वीकारा और शासन में उसे सर्वोत्तम स्थान दिया। **करेमि भंते ! सावज्जं जोगं न करेमि, न कारवेमि।** इस मंत्र का परमार्थ रोचक और रहस्यमय हैं। हे भगवान ! मुझे करना हैं। शिष्य के द्वारा गुरु या भगवान के प्रति किया गया यह कथन प्रश्न कर सकता हैं, क्या करना हैं ? इसका उत्तर हैं **न करेमि, न कारवेमि... करेमि।** न करु न कराऊ ऐसा मुझे करना हैं। कितना अद्भुत हैं यह सारे आश्रवों को अलविदा देता हुआ संबंधातीत संबंध का प्रारंभ करता हैं।

प्रज्ञा के दो प्रकार हैं - संबंधप्रज्ञा और सिद्धप्रज्ञा। नमोत्थुणं सूत्र के अभीतक के सभी पद संबंधप्रज्ञा से जुडे हैं। परमात्मा के साथ का द्वैतभाव, भक्त-भगवान का संबंध भाव यह अंतिम परिच्छेद हैं। प्रभु अब हमें स्वयं की निज स्थिति में निजदशा में अनुभूतिमय आगमन कराते हैं। इसे सल्लीनयोग कहो, विलीनयोग कहो, सुलीनयोग कहो सब दूसरी सिद्धप्रज्ञा में समा जाते हैं। सिद्धप्रज्ञा सिद्धत्त्व की अग्रीम सूचना हैं। मानवीय स्वतंत्र चेतना का स्वायत्त स्वभाव अर्थात् सिद्धत्त्व। सारे प्रयास पूर्ण साधना सिद्धप्रज्ञा की प्राप्ति एवं समापत्ति के लिए हैं। संबोध और स्वबोध सब सिद्धप्रज्ञा के पूर्वदर्शन हैं। **सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं** पद सिद्धप्रज्ञा का दान हैं। अब हम निजानुभूति के अपने अनंत ऐश्वर्य संपन्न सिद्धत्त्व की ओर आगे बढ रहे हैं। कल हम अपनी इस आनंदयात्रा के द्वारा सिद्ध यात्रा में पहुंच रहे हैं। आपने यदि सभी पदों की पूर्ण उपासना कर आनंद लिया हैं तो कल आपको अनुभव होगा कि आप सर्वोच्च साधक हो। आपकी समस्त बाह्य प्रक्रियांए आपके भीतर के भगवत् स्वरूप के प्रगटीकरण में प्रवेश करा रही हैं।बाह्य व्यक्तित्त्व ही आपकी पहचान नहीं आप सर्वश्रेष्ठ परमपद प्राप्ति के उत्तराधिकारी हैं। कल हम चलेंगे **सिद्धिगईनामठाणं** की ओर। कल हमारी अद्भुत यात्रा हैं। हमारा निजघर में प्रवेश है। इस तैयारी के लिए परमात्मा के चरणों में नमस्कार कर कहते हैं,

/// नमोत्थुणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं ///
/// नमोत्थुणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं ///
/// नमोत्थुणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं ///

नमोत्थुणं

सिव-मयल-मरुय-मणंत-मक्खय-मव्वाबाह-मपुणरावित्ति-
सिद्धिगईनामधेयं ठाणं-संपत्ताणं

जानना ज्ञान हैं।
देखना दर्शन हैं।
प्राप्त कर लेना मोक्ष हैं।

तीर्थंकर तक यात्रा तीर्थयात्रा हैं।
तीर्थंकर के द्वारा होनेवाली यात्रा सिद्धयात्रा है।
जानना ज्ञान हैं, देखना दर्शन हैं और प्राप्त कर लेना मोक्ष हैं।

मोक्ष जीव की अवस्था हैं। सिद्धत्त्व आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव में आना अर्थात् सिद्ध हो जाना। इस सिद्धत्त्व को पाने के लिए जो गति हैं वह सिद्धगति हैं। उस सिद्धगति में आत्मा की स्थिति कैसी हैं ? उसका स्वरूप कैसा है? यह जानना जीव का स्वभाव है। यह कहने सुनने का विषय नहीं है। यह अवस्था विषय है। कहना सुनना व्यवस्था है। व्यवस्था कथनपरक होती है। अवस्था अनुभूतिपरक होती है। साधकों की जिज्ञासा को संतुष्ट करने के लिए गणधर भगवंतो ने इन अवस्थाओं को सात व्यवस्थाओं से समझाइ हैं। बाकी अंत में तो गणधर भगवंत एक ही बात कहते हैं, मोक्ष कोई जोग्रोफिकल एरिया नहीं हैं कि गुरु अपने शिष्य को वहाँ पहुंचा दे यह हम सबका अपनी स्वयं की चेतना का कॉन्सीयसनेस है। हमारे भीतर ही हमारे मोक्ष का एरिया है। गणधर भगवंतों ने मग्गदयाणं के द्वारा मोक्षमार्ग दिखा दिया अब उसे हमने स्वयं प्राप्त करना हैं।

संपत्ताणं अर्थात् संप्राप्त करना। प्राप्ति अर्थात् उपलब्धि। जो हमें प्राप्त होता हैं वह हमारा बन जाता है। जो हमारा बन जाता हैं उसे संपत्ति कहते हैं। संपत्ति के तीन प्रकार हैं - स्वसंपत, परसंपत और स्वपरसंपत।

सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणन : यह पद परसंपत हैं।
ठाणं संपत्ताणं : यह पद स्वसंपत हैं।
नमो जिणांण जिअदयाणं : यह पद स्वपरसंपत हैं।

परमात्मा का ज्ञान और दर्शन हमारे लिए पर संपत हैं। ज्ञान और दर्शन जब हमें हो जाते हैं। तब वो हमारा हैं। तब तक वह परसंपत कहलाता हैं। **ठाणं संपत्ताणं** सिद्धत्त्व की प्राप्ति का सूचन हैं। यह प्राप्ति जिन्हें प्राप्त होती हैं वह उनकी उपलब्धि हैं। सिद्धत्त्व को जो प्राप्त करता हैं वह उसकी स्वसंपत हैं। सिद्धत्त्व से पूर्व परमात्मा स्वयं के ज्ञान और दर्शन पर अर्थात् अन्य के लिए देशनारूप में उपयोग करते हैं। सिद्धत्त्व का उपयोग पर के लिए नहीं हो

सकता है। इसलिए वह निज की संपत्ति मानी जाती है। **नमो जिणाणं जिअभयाणं** पद पर स्वपरसंपत हैं। नमस्कार हमारी अपनी संपत्ति हैं, परंतु हमारे ये नमस्कार जिनेश्वरों के प्रति होते हैं। अनंत गुणसंपन्न जिनेश्वरों के अनंत गुणों से जितभय के गुण को यहाँ प्रगट किया गया हैं। क्योंकि यह गुण हमें भी भय जितने में सहायता प्रगट करता है। सिद्धत्त्व की प्राप्ति में अंततक किसी न किसी स्वरूप में भय बाधक रहता है। मोक्ष यह अबाधित अवस्था है अत: अंतिम पद को स्वपरसंपत कहा है।

संपत्ति के इस स्वरूप को मात्र भौतिक संपत्ति के रूप में समझने की चेष्ठा मत करना। इसे भाव संपत्ति या अध्यात्म संपत्ति कहा जाता है क्योंकि भौतिक संपत्ति का ऐसा नियम हैं कि उसमें से किसी को कुछ देते हैं तो हमारे पास वह कम होता हैं। परंतु भाव संपत्ति में ऐसा नहीं होता हैं। परमात्मा का ज्ञान दर्शनको समझाते हुए ज्ञानी पुरुषों ने कहा हैं, कि ज्ञानदर्शन माँ के वात्सल्य जैसे होता है। जिसतरह माँ बच्चे को जन्म देती हैं तब बच्चे के आँख, नाक, कान आदि शक्तिस्त्रोतों का निर्माण स्वयं के पुद्गलों में से करती हैं फिर भी माँ कुछ कम नहीं होता हैं और बच्चे को वह पूर्णप्राप्त होता है। इसीतरह दीपक का दूसरा उदाहरण देखें। एक दीये में से अन्य दीपक प्रगट करनेपर सारे दीपक प्रथम दीये की तरह ज्योर्तिमान हो जाते हैं। परंतु एक दीये की ज्योति कम नहीं हो जाती हैं। भौतिक संपत्ति में हम १०० रू. में से ५० रू. अन्य को देते हैं तो हमारे पास ५० बचते हैं अर्थात् पचास कम होते हैं। भावसंपत्ति में ५० अन्य को देते ही हमें और ५० मिल जाते हैं। तो अन्य को ५० मिलते हैं हमारे ५० बने रहते हैं।

नमोत्थुणं की साधना का अंतिम पद उपलब्धि हैं। पंचमश्रुत केवलि भद्रबाहु स्वामी के शिष्य स्थुलिभद्रजी एकबार गलती से रूप परावर्तिनी विद्या का प्रयोग कर बैठे थे। तब गुरुदेव ने उन्हें आगे का विद्यादान करना बंद कर दिया था। समापन में स्थुलिभद्रजीने निज के लिए गुरु को प्राथना की तब उन्होंने शिष्य को तीन विद्यायें दि थी - संबंधप्रज्ञा, सिद्धप्रज्ञा और संबोधप्रज्ञा। सिद्धप्रज्ञा यह शिवमयल आदि मंत्र की प्रज्ञा हैं। शेष रहा हुआ स्थुलिभद्र का जीवन इन दो विद्याओं में लयबद्ध था। उन्होंने गुरु से संबंधप्रज्ञा प्राप्तकर रूपकोशा के साथ संबोधप्रज्ञा के प्रयोग में लवलीन होकर स्वयं के साथ सिद्धप्रज्ञा में सुलीन हो गए थे। इतिहास का यह एक ऐसा पात्र हैं जो इन तीनों प्रज्ञाओं में एक साथ अनुभूत रहा है।

घर परिवार का त्याग कर स्थुलिभद्र रूपकोशा के वहाँ बारह वर्षतक पति-पत्नी के संबंध में रहा। बारह वर्ष के गृह-संसार का त्याग कर गुरुचरण में जीवन अर्पण करते ही गुरु-शिष्य का संबंध संबंधप्रज्ञा में परिणत हुआ। गुरु ने स्थुलिभद्र को उसी रूपकोशा के वहाँ चातुर्मास कर प्रज्ञा सिद्ध करने की साधना और परीक्षा हेतू आज्ञा दी थी। भद्र !तुम्हें रूपकोशा की चित्रशाला में चातुर्मास कर उसे संबोधप्रज्ञा देनी हैं और तुम्हें सिद्धप्रज्ञा सिद्ध करनी हैं। गुरु आज्ञा से स्थुलिभद्र ने रूपकोशा के आँगन में आकर कहा, **भिक्षा देही माम् !** स्थुलिभद्र की आवाज सुनकर निरंतर आतुर और प्रतीक्षारत कोशा स्थुलिभद्र की आवाज पहचान तो गई परंतु चित्र-विचित्र शब्दों को

सुनकर आकुल व्याकुल हो गई। स्नेहपूर्वक जिनके साथ बारह वर्ष प्रणयगोष्ठि की थी उस भद्र की यह आवाज है ऐसा कहकर वह बाहर निकली। साधुवेश में खडे स्थुलिभद्र को देखकर आश्चार्यान्वित हुई कोशा निर्निमेष नेत्रों से मुनिश्री को देखती रही। न मुह से वचन निकले न नेत्र बंद हो पाए। अपलक नेत्रों से वह स्थुलिभद्र को देखती रही। मन, मस्तिष्क और आत्मा से शांत और स्थिर स्थुलिभद्र ने कहा, यह चार्तुमास आपके यहाँ बीताने की गुरुआज्ञा है। आप आज्ञा देगी ? नागीन की तरह उत्तेजित हुई कोशा यह सुनकर बोली जब आपने घर छोडा तब मेरी आज्ञा ली थी? संसार का नियम है कि पुरुष कभी भी स्त्री से आज्ञा नहीं मागता और न तो पुरुष स्त्री के यहां आता हैं बल्कि स्त्री पुरुष के यहाँ जाती है। बारह वर्ष पूर्व जब आप रूपकोषा के प्रणय मंदीर में पधारते थे तब मैंने मेरा आवास पहले आपको भेट किया और बादमें मैं आपके आवास में रहने को आयी थी। तब भी आपने मेरी आज्ञा नहीं मागी थी परंतु इस चित्रशाला को अपना घर मानकर उसमें बारह वर्ष रहे थे। आज उसे पराया मानकर तुम स्वयं ही उसमें रहने की आज्ञा माँगते हो? अब जब आप आज्ञा माँगते ही हैं तो आज्ञा माँगने से आज्ञा को समझने के लिए मेरे कुछ प्रश्नों के उत्तर देने होंगे। कितने समय रहना है? कहाँ रहना हैं और किसतरह रहना हैं? मुनि स्थूलिभद्र ने कहा, १. चार महिनेतक रहना हैं, २. चित्रशाला के कक्ष में ही जहाँ आप कहोगे वहीं रहना है, ३. चारो महिने मौन रखुगा। आहार के समय निर्दोष भिक्षा की प्रवेशना करुगा। कोशा ! स्थान तेरे घर का, मौन मेरी वाणी का होगा। आवास आपका, आज्ञा गुरु की और ध्यान भगवान का करुगा। बस चारो महिना इन चार नियमों का पालन मुझे करना है। नियमों को सुनकर स्तब्ध हुई कोशा ने कहा, ठीक है। कुछ मेरी भी बातें सुनो १: चित्रशाला में आप भले ही बिराजमान रहो। २. चार मास मौन रहो यह भी ठीक है। वाणी का मौन रखना कान का नहीं अत: आपको बोलना नहीं परंतु जो मैं बोलुंगी वह आपको सुनना होगा। ३. ध्यान करो भगवान का उसकी मुझे चिंता नहीं परंतु आँखे खुली रखनी होगी। ४. भिक्षा मात्र मेरी यहीं से लेने की। और मैं जो दू वहीं लेने का। यदि आपके गुरु आज्ञा देते हैं तो मेरे यहाँ चार्तुमास करो। गुरु की कठोर आज्ञा और कोशा की कठोर शर्ते दोनों की प्रतिस्पर्धा प्रारंभ हो गई। चेतना में सदा जाग्रत स्थुलिभद्र जी स्वयं में बेशर्त बनकर साधना प्रवेश के लिए तैयार हो गए। बाह्य स्थान भले ही कोशा का कक्ष हो परंतु भीतर मैं निरंतर प्रभु चरणों में ही रहुंगा। मुझे मात्र वाणी का ही नहीं पाँचों इंन्द्रियों के मौन का पालन करना है। बिचारी कोशा कोई भी शब्द बोल सकती है। मैं क्यों उसका अवरोध करु? साधना शब्दों से सदा अबाधित रही है। मात्र चर्मचक्षु को ही महत्त्व देनेवाली कोशा को क्या पता कि भीतर के नेत्र खुल जानेपर बाहर की आँखे खुली हो या बंद कोई फरक नहीं पडता। षड्रस भोजन भले ही विकार उत्पन्न करनेवाले होते हैं परंतु परमात्मा की आज्ञा और शास्त्रोक्त विधि से किया जानेवाला भोजन निर्विकार होकर साधना का सहयोगी बन जाता है।

चार चार मास कोशा ने स्थूलिभद्र को विचलीत करने के लिए वीर्य वर्धक, शक्तिवर्धक, विकृतिवर्धक, कामोत्तेजक विविध भोजन बनाए। कोशा का भोजन मुनि के पात्र में बहराते ही वह प्रसाद बन जाता था। आहार चाहे कुछ भी हो पर उन्हें मात्र पुद्गल मानकर प्रसाद के रूप में मुनि उसका उपयोग करते थे। उपभोग की व्याख्या उपयोग में अभिव्यक्त होती रही और मुनिश्री निर्विकार साधना में आगे बढते रहे। कितने ही विकारवर्धक कार्यक्रम क्यों ना आयोजित किया जाए परंतु मुनिस्थूलिभद्रका भीतर निरंतर आत्मरंजन में रमण करता रहा।

इसतरह चार-चार महिने समाप्त होने की तैयारी में थे। चातुर्मास पूर्ण होने जा रहा था। मुनिश्री जीते या नहीं यह हम नहीं कह सकते क्योंकि मुनिश्री यहाँ लडने या गेम खेलने नहीं आये थे। यहाँ न कोई कॉम्पेरिजन थी न कोई कॉम्पीटेशन । न थी शीबीर और न था सेमिनार। किस बात की हार और किस बात की जीत। मुनिश्री आये थे साधना करने। यहाँ थी साधना की सफलता, सत् का जय सत्त्व का जागरण। कोशा के लिए यह सबकुछ था। जय और पराजय का नापदंड था तो द्वन्द और प्रतिद्वन्द का मुकाबला था। श्रद्धा नहीं थी पर स्पर्धा, प्रतिस्पर्धा अवश्य थी। समर्पण नहीं प्रतिशोध था। गणित के सारे आयाम यहाँ आयोजित थे। परिणाम के लिए उत्सुक कोशा पूर्णिमा की अंतिम रात्रि में अपना अंतिम प्रयास आरोपित करना चाहती थी। पाटलिपुत्र की वह एक सर्वश्रेष्ठ नृत्यांगना थी। वह आज अपनी अभिव्यंजना राजनर्तकी के रूप में नहीं परंतु मुनिश्री के दिल में नर्तन प्रस्तुत करने जा रही थी। उसने अपनी सारी सखियों को विराम दिया और स्वयं जीर्ण वस्त्रों में वैकारीक अभिनय के साथ नृत्यशाला में प्रस्तुत होती है। आगंतुक दृष्टा आमंत्रित मुनिश्री भी अकेले प्रस्तुत हुए थे। मध्यरात्रि में उसने अपना सूचिकाग्र नामक महानृत्य प्रस्तुत किया। यह नृत्य केवलमात्र चरण के अंगुष्ठपर ही किया जाता है। नृत्य कला में इस नृत्य को अत्यंत जटिल और कठिन माना जाता है। बहुत कम नृत्यांगनाएं इस नृत्य की सफलता हासिल करती है। उस युग की वह एक मात्र नर्तकी थी जो अपने पूर्ण अंगभंग के साथ आकर्षक नृत्य पेश कर सकती थी। नृत्य करते हुए उसकी नजर मात्र मुनिश्री पर थी। कहीं वे आँखें तो बंद नहीं कर रहे। उसकी चाहना थी मुनिश्री स्वयं के साथ स्वयं न रहे परंतु प्रतिक्षण मुझे देखते रहे और मेरे महानृत्य के साक्षी बने रहे। उनकी आँखों में विकार या मेरा स्वीकार है उसे ढूँढती रही। नृत्य की अंतिम कलियों में भी वह किलकिलाती खिलखिलाती रही। रात्रि बीत रही थी पूर्णिमा पूर्ण होने जा रही थी। अविराम चलता हुआ नृत्य अब विराम और विश्राम की ओर विलीन हो रहा था।

बीतती है रात। होती है प्रभात। पूर्णिमा भी पूर्ण हो गई और हो गया चातुर्मास भी पूर्ण। प्रकृति में प्रात:काल की आभा देखकर नर्तनभाव को नृत्यशाला में रखकर थकी और हारी हुई कोशा मुनिश्री के पास आकर कहती है, **भद्र ! मैं पराजय का स्वीकार करती हू। पराभूत होते हुए भी मैं आपसे एक समाधान चाहती हू। कल रात मैंने सूचिकाग्र नाम का नृत्य किया जो नृत्यों में अंतिम नृत्य माना जाता है। क्या आपने**

मेरा वह अंतिम नृत्य देखा था? आपने आँखे खूली रखकर नृत्य देखा था यह मैं जानती हूँ। मेरा प्रश्न यह है अर्धवस्त्रों में प्रस्तूत इस नृत्य को देखकर आपको क्या अनुभूति हुई? इसी देहलता के साथ आपने जो बारह वर्ष बिताए थे। उस अनुभूति का क्या हुआ?

कोशा तुम हारी नहीं हो जीत गई हो। वस्तुत: हार और जीत वहाँ होती हैं जहाँ या तो खेल हो या युद्ध। आप की थकान सांसारिक हैं। आपकी पराजय पारिस्थितिक है और आपकी विजय आत्मिक है। मैंने आपको नृत्य के समय में गहराई से देखा था। आपका ऐसा अद्भुत रूप पहले मैंने बारह वर्ष में कभी नहीं देखा था। तब मेरे पास सिर्फ आपके देह को देखने की दृष्टि थी। गुरुकृपा से अब मैं आपके देह के भीतर के दर्शन कर पाया। आपके भीतर बिराजमान सिद्धत्त्व के दर्शन कर मैं प्रसन्न हो गया। पूर्णिमा की रात आपके परिवर्तन की रात थी। आज की प्रभात आपके चेतना के जागरण की प्रभात है। अंत में कहा अब मुझे गुरुआज्ञा विहार की है। आपके स्थान में रहना अकल्पनीय है। चातुर्मास वास की आज्ञा दी थी वैसे ही विहार की भी आज्ञा दो। तब कोशा ने कहा, चार-चार मास मेरी सेवा लेकर जा रहे हो तो मुझे कुछ देकर भी जाओ।

कोशा की बिनती का स्वीकार कर मुनिश्री ने कहा, प्रज्ञा तीन प्रकार की है - संबंधप्रज्ञा, सिद्धप्रज्ञा और संबोधप्रज्ञा। नमोत्थुणं अरिहंताणं से सव्वन्नुणं सव्वदरिसीणं तक संबंधप्रज्ञा है। सिवमयल... से लेकर सिद्धिगइनामधेयं तक सिद्धप्रज्ञा है और नमो जिणाणं जिअभयाणं पद संबंधप्रज्ञा का है। आज मैं प्रज्ञात्रय का आपमें आरोपण करता हूँ। सिद्धत्त्व पाने से पूर्व श्रावकत्त्व की प्रयोगशाला प्रवेश पाकर पवित्र हो जाओ। आगार में हो तो आगार धर्म का स्वीकार करो। कोशा बन गई जिन श्राविका। बारह व्रत देकर मुनिश्री ने विहार का विधान अपनाया कोशा ने पूछा अब आप कहाँ पधार रहे हो? मुनिश्री ने कहा मैं वहाँ जा रहा हूँ जहाँ-

जन में से जिन बनने।
जिन में से शिव बनने।
शिव बनकर अचल रहने।
अचल बनकर अरोगी रहने।
अरोगीपने का अनंतत्त्व भोगने।
अनंतत्त्व को अक्षय रखने।
अक्षय का अव्याबाधत्त्व भुगतने।
अव्याबाधत्त्व की अपुनरावृत्ति पाने।

इतना कहकर मुनिश्री ने प्रस्थान किया। कोशा आँखे बंद कर मंत्रमुग्ध बन रही थी। तीनों प्रज्ञाओं से प्राणान्वित हो रही थी। उसमें अपार पराक्रम और सामर्थ्य प्रगट हो चुका था। गणधर प्रदत्त सिद्धप्रज्ञा की सप्तपदी आत्म प्रदेशों में आछन्न हो रही थी। अद्भुत था वातावरण उसमें व्यक्तित्त्व भी अद्भुत हो रहा था। अद्भुत और अलभ्य उपलब्धि से लाभान्वित कोशा में सातों पद साकार होने लगे। शब्द पद में, पदअर्थ में और अर्थपरमार्थमय होने लगे। परमार्थ परमात्मामय होने की अनभूति में समाने लगा।

गणधर भगवंत कहते हैं, मोक्ष असंभव नहीं है। अपने देह में से मिटकर अपनामय हो जाना सिद्धि है। इसीलिए कहा है, **सिद्धिगइनामधेयं** उस सिद्धि के लिए तुम्हें तुम्हारे स्वरूप को जानना होगा कि, तुम स्वयं शिव अर्थात् कल्याणमय हो। तुम्हे सिर्फ तुम्हारे लिए ही नहीं संपूर्ण संसार के लिए कल्याणमय होना है। तुम स्वयं अचल हो। तुम तुम्हारे में आ जाओ तो किसी भी परिस्थिति में कोई भी व्यक्ति, वस्तु या वातावरण तुम्हें विचलीत नहीं कर सकता है। तुम स्वयं अरोगी हो। देह में होनेवाले रोगों को स्वयं में होने का मानना मिथ्याभास है। बाहर के कितने ही एम-आर-आइ करावो परंतु एक बार भीतर उतर कर एम-आर-आय करके तो देखो आपका भीतर कितना नीट और क्लिन है। दर्पण के शिशे की तरह स्वच्छ सुंदर तुम्हारे स्वरूप का दर्शन तो करो। अनंत सिद्ध आत्मा की तरह तुम सिद्ध स्वरुप हो। भले ही अनंत काल हो गया तुम स्वयं के स्वरूप को नहीं समझ पाए हो परंतु अब अवसर मत चुको। स्वयं में प्रगट हो जाओ। आज नहीं कल नहीं अनंतकाल तक कभी भी तुम दुखी नहीं होओगे। तुम्हारे भीतर ही अक्षय सुख का भंडार हैं। उस अक्षय सुख का किसी भी कारण से क्षय नहीं पाता है। जो क्षय हो जाते हैं उन पदार्थों के लिए तुम्हारे भीतर के अक्षय स्वरूप को क्षति क्यों पहुंचाते हो? अमूल्य ऐसा नमोत्थुणं तुम्हें बिना कुछ मोल चुकाए मिल गया है। फिर भी याद रखो इसको पाने के लिए तुम स्वयं दाव पर लग चुके हो। संसार का यह अंतिम दाव हैं। अनंतकाल से आप पराजित हो रहे थे। यह जन्म आपके जीत का जन्म हैं। ऐस जीत में कोई बाधा पीडा नहीं। कोई अवरोध नहीं कोई ग्रह क्लेश नहीं। तुम मजबूत हो, अचल हो, अव्याबाध हो तो तुम्हारा मार्ग अवरोधों से रहित हैं। बस चले जाओ वहाँ तक जहाँ का नाम सिद्धि गति हैं।

मुडकर वापस मत देखना। यहाँ केवल अकेले ही चलना हैं। यह पथ अपुनरावृत्ति हैं। यहाँ से वापस लौटना नहीं होता हैं। जिस प्रकार ससुराल जाती हुई बेटी वापस लौटकर नहीं देखती हैं उसीतरह किसी भी विषय कषाय की वृत्ति या प्रवृत्ति की आवृत्ति या पुनरावृत्ति नहीं करनी हैं। नमोत्थुणं सुपर कॉम्पुटर हैं। गणधर भगवन प्रोगामर हैं। ऐसा प्रोग्राम उनके सिवा कौन बना सकता है। इस प्रोग्राम के कम्पल्टिली सॉफ्टवेयर इंजीनीयर शक्रेंद्र भगवन हैं। आओ अनंत ज्ञानी गणधरों के अनंत स्त्रोत में स्वयं के अनंत को समा दो। अनंत काल से अनंत शास्त्र इसमें समा गए हैं। अनंत साधकों द्वारा अनंत बार इसका पारायण होता गया। अनट गणधरों के अंत:करण में प्रगट दिये के साथ हमारे आत्म दिपक का नमोत्थुणं स्पर्श होते ही प्रगट जाता हैं अनंत ज्योत समा जाती है। ऐसी सिद्धि गति नाम के स्थान को प्राप्त करने के लिए **ठाणं संपत्ताणं** मंत्र को जान लो। जप लो। **नमो जिणाणं जिअभयाणं** मंत्र आपके साथ निरंतर सहाय करता है। निर्भीक होकर आगे बढो। जिअभयाणं स्वयं आपको अभय दे रहे हैं। भयमुक्त कर रहे हैं।

॥ सिव-अयल-अरुय-अणंत-अक्खय-अव्वाबाह-अपुणरावित्ति-सिद्धिगईनामधेयं ठाणं-संपत्ताणं ॥

नमोत्थुणं
नमोजिणाणं जिअभयाणं

भय को जीते वे भगवान ।
हम सबको भय से जितावे वे भगवान ।
हम सबको भयमुक्त करे वे भगवान ।
हमें जन्म और मृत्यु के भय से मुक्त करें वे भगवान ।
हमें जन में से जिन बनानेवाले को हमारे नमस्कार ।
हम यदि भय मुक्त न हो पाए तो हमें अभय देकर भय मुक्त करे वे भगवान ।।

परमात्मा की गोदी में मस्तक रखते ही हम निर्भिक हो जाते हैं।
परमात्मा की गोदी में मस्तक रखते ही हम निर्मल हो जाते हैं।
परमात्मा की गोदी में मस्तक रखते ही हम निश्चिंत हो जाते हैं।

गोदी शब्द का प्रयोग होते ही सहसा उसके साथ माँ का संबंध साक्षात् हो जाता है। परमात्मा की गोदी भी माँ की गोदी का अहसास दिलाती है। माँ की गोदी वत्सलता के साथ निर्मलता भी देती है। बच्चे को माँ के गोद से प्रदत्त पवित्रता की तनिक भी पहचान नहीं होती है। माँ निर्मल करती है बच्चा पुन: पुन: मल नि:सरण कर माँ की गोद को मलीन करता रहता है। सृष्टि का यह कितना बडा रहस्य है कि बच्चा बार बार गोद को मलीन करता है माँ उसे पूर्णत: पवित्र करती है। हम भी परमात्मा के साथ यही करते हैं। परमात्मा के चरणों में मस्तक रखते है तब हम अपने विकल्पों का, विकारों का, मलीन विचारों का विसर्जन करते हैं। लेकिन जगत् जननी हमें निरंतर निर्मल करती हैं, पवित्र करती हैं।

माँ की गोद का दूसरा अहसास निर्भयता है। संसार में चाहे कही कुछ भी हो। कितना ही भयभीत वातावरण हो। कितनी आकुलता व्याकुलता हो। सबसे बच्चे के लिए माँ की गोद सर्वथा सुरक्षा का साधन होता है। माँ की गोद में जाते ही बच्चा समस्त भय से मुक्त हो जाता है। इसीतरह परमात्मा क चरण शरण साधक के लिए निर्भयता का अखंड स्रोत है। बस एकबार पूर्ण समर्पण के साथ मस्तक धर देना चाहिए। माँ की गोद का तीसरा अहसास निश्चिंतता हैं। सारी चिंताएं, दु:ख, कष्ट, ग्लानि माँ की गोद में गायब हो जाते हैं। न कोई चिंता न कोई व्यथा। इसीतरह परमात्मा की शरण भी सब चिंताओं से मुक्त करती है। गोदि का महत्त्व ही अद्भुत है।

जिनकी गोदि में मस्तक रखते ही दु:ख समाप्त हो जाए, उसे माँ कहते हैं।
जिनकी गोदि में मस्तक रखते ही पाप समाप्त हो जाए, उन्हें महात्मा कहते हैं।
जिनकी गोदि में मस्तक रखते ही संसार समाप्त हो जाए, उन्हें परमात्मा कहते हैं।

प्रज्ञा के दो प्रकार हैं - संबोधप्रज्ञा और सिद्धप्रज्ञा। साधना का चरमचरण सिवमयल पद सिद्धप्रज्ञा का मंत्र हैं। उसके बाद पूर्णता में प्रस्तुत यह मंत्र संबोध प्रज्ञा का मंत्र हैं। जो सिद्धप्रज्ञा को न पा सके उनके लिए संबोधप्रज्ञा की उपासना इस मंत्र के द्वारा की जाती है। यह मंत्र सिद्धत्त्व की प्राप्ति का और सिद्धत्त्व प्राप्ति से पूर्व रहे हुए संसार को समाधि पूर्वक समापन करने का मंत्र हैं। इस मंत्र में अडतालीस हजार विद्याएं समाई हुई है। इस विद्या में से ही भक्तामर स्तोत्र का सर्जन हुआ है।

नमोत्थुणं सूत्र में भय से संबंधित दो पद हैं, एक अभयदयाणं और दूसरा जिअभयाणं। सूत्रार्थ, शब्दार्थ और पदार्थ की दृष्टि से भगवंत शब्द में भय का अंत करनेवाले भंते ऐसी व्याख्या होती है। अभयदयाणं अर्थात् अभय देनेवाले और जिअभयाणं अर्थात् स्वयं भय को जीतनेवाले और हम सबको भय से जीताने वाले। परमात्मा के लिए संबोधित दोनों पद हमारे महत्त्वपूर्ण आत्म विश्वास के केंद्र स्थान में हैं। एक में भय को जीतना हैं दूसरे में परम से अभय लेना हैं। भय समाप्त करने की दो प्रक्रिया हो गई। भय को जीतना और अभय लेकर भय समाप्त करना।

सोचने की बात तो यह कि, थोडा गहराई में उतर जाए तो अहसास होता हैं कि, भवांतरों से हम भगवान से अभय लेते रहे है। हम भीतर से ही भय से लडने के लिए तैयार नहीं हैं। भय आते ही हम अभय माँगने निकल जाते है। भगवान अभय देभी देते है। ऐसा सोचने पर लगता है कि हम बहुत दिलदार माँ के लाडले बेटे की तरह है। जब माँगा, जो माँगा, जितना माँगा मिलता रहा। परिणाम यह हुआ कि हमें माँगने की आदत हो गई और मैदान में लडते समय भयभीत होकर भगने की भी आवश्यकता लगने लगी। इन सब विषयो की चर्चा हम प्रस्तुत भगवंताणं और अभयदयाणं पद में कर चुके हैं। जिअभयाणं पद हमारे आत्मविश्वास का पद है। यह पद हमें अभय माँगने की मजबुरी से पूर्व, भयभीत होने की कमजोरी से पूर्व भय जीतने का हौसला बनाता है। यह हमें सिखाता हैं कि भय जीतने में भगवान की प्रीत है।

इस पद के दो विभाग है - नमो जिणाणं और जिअभयाणं। नमो जिणाणं पद हमारा आत्मविश्वास जगाता है और जिअभयाणं हमें निर्भय और स्वकेंदित बनाता है। भय भक्ति से विपरीत है। जहाँ भक्ति होती है वहाँ भय रह नहीं सकता। भय वह भूतकाल की ऐसी दशा है जो हमारे वर्तमान में भविष्य की कल्पना कराता है। मृत्यु का भय जीवन को असंतुलित करता है। झूठ का भय सच का दिखावा करता है। रोग का भय आरोग्य को खतरे में डालता है। दु:ख का भय सुख को दु:खमय बनाता है। यदि हम इन सब भय को जीत लेते है तो हमें परमात्मा से अभय लेने की आवश्यकता नहीं रहती है। सबसे अजीब बात तो यह हैं जिन परमात्मा से अभय लेते रहते है उन परमात्मा का स्मरण भी करीब भय से ही करते हैं। प्रेम से पाने के प्रेममय तत्त्व की पूजा भी भय से करते हैं। संसार में हमें प्रतिक्षण प्रतिकदम भय हैं। चोर, डाकु, रोग-शोक इन सबका तो भय है परंतु समाज का अर्थ तंत्र का, राजतंत्र का सबका भय हमें सताता है। यह सब तो ठीक है परंतु यहाँ आश्चर्य तो इस बात का है कि हमें अभयदाता से भी भय है। हम उनसे भी भयभीत रहते हैं। हम अपनी शिशुसंस्कृति को भी ऐसी अमानत देते हैं झूठ मत बोल, चोरी

मत कर यदि ऐसा कुछ करेगा तो भगवान पाप देंगें। **सव्वपावप्पणासणो** के जाप करनेवाला उपासक परमात्मा को ही पाप दाता मानते हैं। उनके अस्तित्त्व का स्वीकार करके हमारे व्यक्तित्त्व के नमस्कार होने से पाप का नाश होता है और वह भी कतृत्त्व से मुक्त रहकर। यदि भगवान ही पाप देंगे तो पापमुक्त कौन करेगा?

भगवान से भयभीत होना अर्थात् हमारे स्वयं के अस्तीत्त्व से भयभीत होना है। नमो में अस्तित्त्व का स्वीकार होनेपर हमें सूत्र में प्रवेश मिलता है। श्रद्धा और विश्वास जहाँ होता है वहाँ भय टूटता है। जो एक परमात्मा से ही भयभीत होता है उसे संसार के सारे भय चारों ओर से भयभीत कर सकते हैं। सामान्यत: हम सब को मृत्यु का भय होता है, ऐसा हम मानते हैं परंतु वास्तव में हम सबको मृत्यु की अपेक्षा जीवन से भय अधिक है। सातों भयों में मृत्यु का भय स्वतंत्र भय हैं और बाकी के छह भय जीवन के हैं। इसमें भगवान का भय तो कोई हैं नहीं। जीवन में हमें हर कदम पर भय का अनुभव होता है। ऐसा करूंगा तो ऐसा होगा और ऐसा करूंगा तो ऐसा होगा। इतना तो ठीक है मेहनत करके पैसा कमाते है उसे सुरक्षित रखने का भय है। घर में रखो तो चोर का भय, पार्टी के पास रखो तो पार्टी उठने का भय, बँक में रखो तो बँक लूट जाने का भय। अपने ही घर में बैठकर अपने ही घरवालों से भयभीत होते है। बेटे को कहेंगे तो ऐसा होगा, बहु को कहेगे तो ऐसा होगा। जीवन में कही भी शांति है क्या? प्रतिक्षण पल पल भय, भ्रम, भेद और अशांति।

नमो जिणाणं जिअभयाणं मंत्र के साथ परमपुरुष के चरणों में मस्तक धर दो सारे विकल्पों का विसर्जन हो जाएगा। चरण के स्पर्श मात्र से ही भयमुक्त हो जाते है। नमो शब्द प्रगट होते ही चरण और मस्तक एकत्त्व साध लेते है। चरण प्रभु के मस्तक हमारा। ये संयोगधारा दोनों के बीच में एकता प्रगट करती हैं। भेद में अभेद प्रगट होता है। नमन अर्थात् नमस्कार हो। हम यह जानते हैं कि **नमो** के तीन प्रकार है इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग। नवकार मंत्र का नमो सामर्थ्ययोग है। जीवन में सामर्थ्य प्रगट हो जाए समर्थ पुरुष इच्छा करे तब शास्त्रयोग उसे शब्दों से अशब्द की ओर ले जाता है। शब्द तो संसार हैं। अनेक शब्द भाषा की सहायता लेकर राग द्वेष के शस्त्र चलाते हैं। समस्त प्राणी सृष्टि में सबसे अधिक शब्दों का प्रयोग और उपयोग मानव करता है। शब्दों से इतिहास का सर्जन होता है और शब्दों से ही विश्वास बंधता है। ऐसे ही शब्दमय संसार में जो शब्द में से अशब्द में ले जाता हैं उसे मंत्र कहते हैं। नमस्कार महामंत्र के **नमो** और **अरिहंताणं** के मध्य में रहे हुए गॅप में **अस्तु** शब्द रखने से नमोत्थुणं शब्द बनता है। अस्तु अर्थात् होना। होना कहने में इच्छा का सूचन है। नमोत्थुणं यह इच्छायोग का नमस्कार है। इस अंतिम पद में अस्तु शब्द हटा दिया गया है। इसमें मात्र नमो शब्द को उच्चाररण हैं। शुद्ध संपूर्ण नमस्कार का कथण होने से यह नमो शास्त्रयोग के नमस्कार का सूचन करता है। इस पद में विधिभंग, आव्रास, प्रमाद, विकार विकल्प ऐसी कोई भी अपूर्णता की संभावना होती तो नमस्कार शब्द के साथ कुछ कहने की आवश्यकता रहती। परंतु यहाँ किसी भी प्रकार के शब्द का या विशेषणों का प्रयोग नहीं करते हुए केवलमात्र जिनेश्वरों को नमस्कार हो ऐसा कहा हैं।

अरिहंताणं पद से शुरू होता हुआ सूत्र अपने अंतिम पडावपर जिनेश्वर शब्द का प्रयोग करता हैं। साधकों में प्रश्न होता हैं प्रारंभ अरिहंताणं पद से सिद्धिगति पद के बाद जिनेश्वर पद की प्रक्रिया का क्या विधान हैं? परमात्मा की तीन विशेष मंत्रों के द्वारा उपासना की जाती है। उपास्य एक ही हो फिर भी विविध शब्दों या मंत्रों से उपासना करने का तात्पर्य अत्यंत रहस्यमय हैं। तीर्थंकर शब्द तीर्थ करनेवाले उपास्य के लिए उपयुक्त होता है। जो तीर्थ करते है वे तीर्थंकर हैं। तीर्थ करना सर्जन हैं, निर्माण हैं। जीवन में ऐसे कई अवसर होते है जब हमें किसी नवीन कल्पना को साकार करना होता है या किसी विशेष साधना का आयोजन करना होता है, किसी अनुष्ठान का प्रारंभ करना हो तब तित्थयराणं शब्द हमारा उपास्य मंत्र सिद्ध होता है। जिस स्थिति का निर्माण हो गया उसे चलाना हैं, सक्रिय रखना है, विकसित करना है तब जिनेश्वर शब्द हमारा उपास्य मंत्र सिद्ध होता हैं। चलता हुआ आयोजन किसी कारण से अटक जावे, रुक जावे तब अरिहंताणं शब्द उपास्य मंत्र सिद्ध होता है। जैसे आपने कोई गाडी खरीदनी है किसी कंपनी में उसका निर्माण होता है उसे लेकर आप चलाते है। किसी कारण से वह रुक जानेपर आप इसे सर्व्हिस सेंटर में सर्व्हिसिंग कराते हैं। बस यहाँ भी इसीतरह समझ लो। अनुष्ठान का निर्माण नई कंपनी की गाडी जैसा है। नमस्कार का मोल चुकाकर आप इसे अपना बनाते हैं। लाकर इसे चलाते हैं। चलते चलते रुक जानेपर सर्व्हिसिंग कराते हैं। नई गाडी लेना तित्थयराणं पद हैं। इसे चलाना जिणाणं पद हैं । इसे चलते हुए अनुष्ठान में कर्मवष रुकावट आनेपर अरिहंताणं मंत्र से सहायता लेकर पुन: अपनी मंजिल की ओर आगे बढना हैं। इसे ही समझने के लिए विविंध शास्त्रों में इन रूपों कों ब्रह्मा, विष्णु, महेश माना गया हैं।

यहाँ नमो में स्वयं को स्वयं की साक्षी बनना हैं। साक्षात भाव से जिनेश्वरों को नमस्कार करने हेतु गणधर भगवंतों ने हमे नमो जिणाणं मंत्र का दान दिया। सृष्टि को शाश्वत मंत्र का वरदान मिला। भक्ति का सन्मान मिला। नमो एक वचन शब्द हैं, जिणाणं बहुवचन शब्द हैं। आप सोचोगे यह एकवचन बहुवचन क्या हैं? नमो मैं मैं स्वयं हूँ। मैं सिर्फ मैं, केवल मैं। साथ जुडे हुए सर्व अस्तित्वों का मैं स्वतंत्र हैं। जिणाणं अर्थात् सर्व जिनेश्वरों को नमस्कार करने से शुभासय की विपुलता प्रगट होती है। सर्व जिनेश्वरों का गुणधर्म समान हैं। एक को किया जानेवाला नमस्कार सर्व जिनेश्वरों का नमस्कार हो जाता है। नवदानों में नमस्कार भी एक प्रकार का दान है। स्वयं का स्वार्पण हैं। अन्य सर्व दानों से यह दान निराला हैं। क्योंकि अन्य दानों को करने के बाद वापस कुछ आता नहीं पर यहाँ तो दान बढकर वापस रिप्लेस होता है। जगत का नियम हैं कि किसी को कुछ देते हैं तो उन्हें कुछ देना पडता हैं। छोटे बच्चे तक रिर्टन गिफ्ट देते हैं। भेंट से अतिरिक्त देने के चार प्रकार हैं। दान, दक्षिणा, आदक्षिणा और प्रदक्षिणा।

दान दे सकते हैं परंतु वापस ले नहीं सकते। आप भिखारी को चार रूपया देने चाहते हैं तो पाँच रूपए देकर आप ऐसा नहीं कह सकते कि चार रूपए रख और एक रूपया वापस कर। खरिदी या सफर में ऐसा हो सकता है पर दान में ऐसा नहीं ले सकते। ब्राह्मण या पूजारी को कुछ देते हैं तो वह दान नहीं दक्षिणा हैं। कोई माँगता हैं और हम देते हैं उसे दान कहतें हैं। हम अपनी इच्छा और खुशी से देते है तो उसे दक्षिणा कहते है। यद्यपि आजकल तो पंडित

कथा या पूजा करने से पहले ही स्वयं की दक्षिणा स्वयं ही नक्की कर बाद मे पूजा या कथा करते हैं। दान देते हैं तो दुआ मिलती हैं। दुआ से दुख दूर होते हैं। सद्गुरु के आशीर्वाद से दुःखदायी पाप दूर होते है। आशीर्वाद की व्याख्या करते हुए महापुरुषों ने कहा - आ = आता है, शी = शीतलता भरा, र = रक्षा का, वाद = वचन। जो जीवन में सुख शांति और रक्षा के वचन द्वारा समाधि पहुंचाते हैं उसे आशीर्वाद कहते हैं। आशीर्वाद अर्थात् अंतःकरण की भाषा।

नवदान में नमस्कार का एक प्रकार है। आज का विज्ञान नमो की ४४४८ फ्रिक्वेन्सी बताता है। नमो का वारंवार उच्चार करनेवाले हमें इसकी तरंगदैर्घ्य का पता नहीं होता है। बाकी हमारे प्रतिदिन की नित्यक्रम की प्रणाली तिक्ख्युतो की पाठी में ही आयाहिणं पयाहिणं के द्वारा यह विधि संपन्न होती हैं। प्रदक्षिणा चारों ओर से दी जाती है। चारों ओर से हमारी भावना, श्रद्धा और आस्था की अंजलि प्रभु चरणों में धर दी जाती हैं। प्रदक्षिणा से पूर्व आदिक्षणा शब्द आता है। अर्थात् आदक्षिणा पूर्वक प्रदक्षिणा। अर्थात् हे प्रभु ! आपको जो प्रदक्षिणा की जाती हैं, हम जानते हैं कि आप वह अपने पास नहीं रखते हुए प्रदक्षिणा आदक्षिणा बन जाएगी और वहीं दक्षिणा बनकर हमारे पास आएगी। आप वितरागी महापुरुष हो। हमारा दान और दक्षिणा आप अपने पास नहीं रखते हो परंतु हमारा ऐसा करने का प्रयास इसलिए हैं कि आप में से निकले वाले पुण्य परमाणु प्रदक्षिणा द्वारा आकर्षित होकर आयाहिणं द्वारा हमारी ओर वापस लौटते हैं।

हम नमो शब्द का उच्चार करते हैं, कौन सुनता हैं यह शब्द? भरत क्षेत्र में रहकर हम में से निकली हुई भावपूर्वक तरंगे महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान में बिराजमान बीस विहरमान के पास पहुँचती हैं। हमारा नमो का शब्द भाव के साथ वहाँ पहुँचकर वृत्ताकार घूमकर भगवान की दाहिनी पाँव की अँगुठे में समा जाती हैं। ऐसा मत समझना कि भगवान का बँक बॅलन्स बहुत बडा हैं कि वे उसमें जमा कर लेते हैं। परंतु भगवान के चरण में से पवित्र होकर, रिफाईंड होकर, रिबाउंस होकर, रिवर्स होकर हमारे पास वापस लौटता हैं। सिद्ध अनंत हैं। एक बार कहा जानेवाला नमो सिद्धाणं मंत्र अनंत गुणा होकर हमारी ओर वापस लौटता है। कितना अद्भुत सिद्धांत हैं यह।

नमो अरिहंताणं मंत्र में - नमो सामर्थ्य योग हैं।

नमोत्थुणं शब्द में - नमो इच्छायोग है।

नमो जिणाणं पद में - नमो शास्त्रयोग है।

शब्द अनुप्रास की दृष्टि से योग आपको थोडे जटील महसूस होते होंगे परंतु इसे इसतरह सरल बनाया जाता हैं ये तीनों योग आचाराग में इसतरह हैं - सहसम्मुइयाए, परवागरणेणं, अन्नेसिंवाअंतिएसोच्चा। यहाँ तीनो योग इन तीन साक्षी में समा जाते हैं, सद्गुरु की साक्षी, शास्त्रों की साक्षी और स्वआत्म स्वरूप की साक्षी। साक्षी का तात्पर्य हैं जिनेश्वर भगवान भय को जीतकर जीतभय होते हैं। स्वयं भय को जीतकर अन्य को भयमुक्त कराते हैं। फिर चाहे वह भय व्यक्तिजनक हो, परिस्थितिजनक हो या मनस्थितिजनक हो। परमात्मा इन तीनों कारणों से मुक्त होने के कारण जीव सातों भयों से मुक्त हो सकता हैं।

भय जब लगता हैं तब आँखें बंद होती हैं, कान फफडते हैं, नाक फूलता हैं, मुँह से लंबी लंबी साँसे निकलती है। सामने से गाडी आ रही हो तब घबराए हुए व्यक्ति की स्थिति आपने देखी होगी। आँखे बंद होती हैं, हाथ की मुठी बंद होती हैं, पाँव संकुचित हो जाती हैं, भगना मुश्किल हो जाता हैं, बचने की आशा नहीं रहती, फिर भी किसी कारण बच जानेपर परिस्थिति के बारे में पूछनेपर वह यही कहेगा कि कुछ पता नहीं कैसे फँसा और कैसे बचा। अनादिकाल से संसार यात्रा में अकस्मात में फसे हैं। कैसे फँसे हैं कैसे बचे हैं पता नहीं। परमात्मा हमें अभय देते हुए कहते है, **वत्स ! तू अभय स्वरूप हैं। भय तेरा स्वभाव नहीं ,अभवा हैं। तू स्व में आ तेरा स्वभाव प्रगट कर और भय के अभाव का अनुभव कर।**

सैध्धांतिक दृष्टि से जीतभय के दो हैं - सर्वथा जीतभय और तात्त्विक जीतभय। तत्त्वदृष्टि से भय को जीतना जीतभय हैं। यहाँ तत्त्व के दो प्रकार बताए हैं, जड और चेतन। दोनों एक दूसरे से अत्यंत भिन्न होते हुए भी अनादिकाल से साथ में होते हैं। विपरित होते हुए भी साथ रहना यह जगत का सबसे बडा आश्चर्य हैं। एक आश्चर्य और है साथ रहते हुए भी वे अंशिक रूप से भी एकरूपता नहीं पाते हैं। पर इन दोनों के संयोग में आनेपर बंधन होता हैं और बंधन में भय उत्पन्न होता हैं। यह दोनों भिन्न हैं ऐसा स्वीकार लेने पर भय की जीत होती हैं। भय भ्रम हैं ऐसा मान लेना तात्त्वीकजीतभय है। यहाँ सर्वथा जीतभय की अवस्थावाले परमात्मा को नमस्कार होते हैं।

इस पद में हमें प्रभु के समक्ष साक्षीभाव में प्रगट होना हैं। अधिकांश हम नमो शब्द बोलते ही अरिहंताणं शब्द से पहले ही गायब हो जाते हैं। हमारी यह अनुपस्थिति से हम अनजान और अबोध हैं। नमो बोलते ही परमात्मा का ध्यान हमारी ओर होता हैं। उनसे संपर्क करने से पूर्व ही हम अनुपस्थित हो जाते हैं। साक्षी भाव के दो प्रका हैं - प्रत्यक्ष साक्षात्कार और समक्ष साक्षात्कार। हमें परमात्मा के समक्ष जैसे हैं वैसे प्रगट होना हैं। न कोई भेद न कोई खेद, न कोई परदा न कोई चर्चा। न कुछ छिपाना न कुछ रुकाना। दंभ, छल, कपट आदि से अत्यंत रहित निर्मल अर्पण।

नमो जिणाणं जिअभायाणं पद में दोनों साक्षात्कार समाए हुए हैं। इस साक्षात्कार में आकर हम इस स्वाध्याय का सफल *परिणाम प्राप्त करे यही शुभकामना है । यह अंतिम पद हैं।* अंत को आप लोग ऐंड कहते हैं। ऐंड के दो प्रकार हैं। And और END । And अर्थात् थोडा हैं, थोडा ओर चाहिए। END अर्थात् बस अब और नहीं। आज हम इस पद की अंतिम उपासना And के साथ END करते हैं। आँखे बंदकर गहरी लंबी साँस के साथ महाविदेह क्षेत्र में छलांग लगादे। सिमंधर स्वामी का प्रत्यक्ष और समक्ष साक्षात्कार करते हुए चरणों में नमस्कार करते हुए भाव मुद्रा में, मालकोश राग में बिना किसी चमत्कार के नमस्कार करते हुए अपनी अंजलि का अभिषेक करते हैं।

नमोत्थुणं नमोजिणाणं जिअभयाणं
नमोत्थुणं नमोजिणाणं जिअभयाणं
नमोत्थुणं नमोजिणाणं जिअभयाणं

अरिहंतप्रिया साध्वी डॉ.दिव्यप्रभाजी म.स.
लेखित पुस्तक

१. अरिहंत (हिन्दी)
२. भक्तामर - एक दिव्य दृष्टि (हिन्दी)
३. भक्तामर - एक दिव्य दृष्टि (गुजराती)
४. लोगस्स - एक दिव्य साधना (हिन्दी)
५. लोगस्स - एक दिव्य साधना (गुजराती)
६. दिव्य स्त्रोत्र सर्वतोभद्र (हिन्दी)
७. मंगलम (हिन्दी)
८. दिव्य द्रष्टा महावीर (हिन्दी)
९. दिव्य द्रष्टा महावीर (गुजराती)
१०. अष्टमंगल (हिन्दी)
११. नमोत्थुणं - एक दिव्य साधना (हिन्दी)

श्री आनंद उज्जवल एम. डी. चेरिटेबल ट्रस्ट (रजि.)
संचालित

श्री लोगस्ससूत्र आराधना केन्द्र

वास्तुशिल्प, लाम रोड, [illegible] और युनियन बैंक के सामने,
देवलाली, नाशिकरोड - [illegible] महाराष्ट्र) मो. 098602 21759
ओफिस [illegible]253 2473203

अरिहंतप्रिया साध्वी डॉ.दिव्यप्रभाजी म.स.